पारंपरिक भारतीय रंगमंच :
अनंत धाराएं

भारत - देश और लोग

पारंपरिक भारतीय रंगमंच : अनंत धाराएं

कपिला वात्स्यायन

अनुवाद

बदीउज़्ज़मा

नेशनल बुक ट्रस्ट , इंडिया

ISBN 81-237-1432 - 7

पहला संस्करण : 1995 (शक 1917)

Traditional Indian Theatre : Multiple Streams (*Hindi*)

रू. 84.00

निदेशक , नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली – 110016 द्वारा प्रकाशित

रंगमंच कला की
आधुनिक समीक्षा
के अग्रणी

डा. वी. राघवन

की स्मृति को

विषय-सूची

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

भूमिका और आभार

मेरी पहली पुस्तक का शीर्षक था : 'क्लासिकल इंडियन डांस इन लिटरेचर एंड आर्ट्स' जिसमें भारतीय प्रदर्शनकारी कला के बारे में 11वीं शताब्दी तक के अंतर्संबंधों का विवरण दिया गया है। इसके बाद दूसरा भाग प्रकाशित हुआ : 'ट्रेडिशन ऑफ इंडियन फोक डांस।' इसमें आदिवासी और ग्राम्य जीवन के समसामयिक स्थानिक तथा पारंपरिक जीवंत चित्र अंकित हैं। दसवीं और 19वीं शताब्दी के बीच के समस्त भारतीय क्षेत्रों के करीब हजार बंजर कला वर्षों के बारे में जानकारी इसमें सम्मिलित नहीं हो पायी। लेकिन सार्थक रूपरेखा के लिए इस कमी को पाटना आवश्यक था। प्रदेशीय भाषा और साहित्य दोनों को देखते हुए यह काम चुनौतीपूर्ण था, क्योंकि दृश्य और प्रदर्शनकारी दोनों कलाओं की विधा और रूपाकारों की बहुविधता की चर्चा की जानी थी। संस्कृत भाषा और अखिल भारतीय पारंपरिकता ने हमारी एकता की बहुलता को उजागर किया जबकि लोग इसे विखंडता या विभिन्नता मान बैठे हैं। फिर भी, मध्यकालीन साहित्य और तब के बचे हुए कलारूपों को देखते हुए इस स्थिति के परिशीलन की आवश्यकता इसलिए हो गयी है क्योंकि प्रदर्शनकारी और दृश्य-कला के उस युग को अंधकार युग कहकर टाल दिया गया था। इस प्रकार का कठिन कार्य एक टीम द्वारा करना समुचित होता।

एक ही व्यक्ति के द्वारा इन बातों की खोज सीमित होगी। इसके लिए मैंने यह महसूस किया कि इन कलारूपों की परस्पर विभिन्न लेकिन लौकिक सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत कर दी जाये ताकि विभिन्नताओं में जो समसाम्यता है उसके विकास को देखा जा सके। अगर कुछ मित्रों ने जोर न डाला होता तो शायद यह पुस्तक लिखी ही नहीं जाती। जैसे जैसे मैंने इस क्षेत्र का अध्ययन शुरू किया, मुझे लगा कि मात्र 'नृत्य' या 'संगीत' ही, जो कि मेरे मुख्य विषय हैं, इस चर्चित अवधि के संकेतक नहीं हैं, बल्कि प्रमुख संकेतक है 'रंगमंच', अपनी संपूर्णता में। यहां कथित और गीतरूप शब्द और अभिनय को एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। रंगमंच अपने आप में संपूर्ण अनुभव है और इसमें चार तरह के अभिनय तथा उसमें प्रस्तुति के दो सोपान होते हैं – 'नाट्य' एवं 'लोक'। मध्यकालीन भारत की साहित्यिक गतिविधियों का अध्ययन करते हुए मुझे यह लगा कि इनके ग्रामीण लोक रूप प्रदेशीय साहित्य और मौखिक परंपरा दोनों में विद्यमान हैं। इसकी पुष्टि हुई समसामयिक रंगमंच रूपों के विशद अध्ययन से, जिसे अब तक 'पारंपरिक' और 'लोक नाट्य' का नाम देकर भुला दिया गया था। साहित्यिक प्रमाण और व्यक्तिगत चर्चाओं से यह बात स्पष्ट हो गयी कि साहित्यिक और मौखिक परंपराओं को अलग करके न देखा जाये, अपितु उनकी पारस्परिकता को निकष माना जाये। ऊपर से यह लगा कि ये ग्रामीण जीवन से जुड़े हैं, न इनका इतिहास है, न कोई प्राचीन संबंध, लेकिन इनके तत्वों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि ये 'नाट्यशास्त्र' की परंपरा से जुड़े हैं। यहां भारतीय कलात्मक परंपराओं की समसाम्यता की चर्चा करनी भी आवश्यक है। प्रथम – 'नाट्यशास्त्र' की परंपरा ही प्रदेशीय और स्थानिक शैली को नहीं मानती और द्वितीय – यह भी कि ये दोनों मिलकर एक

ही वृक्ष की देन तो नहीं हैं। परिणाम है यह ग्रंथ। प्रमुख उद्देश्य है कलारूपों के उद्भावन को खोजना और इनके शनैः शनैः विकास का अध्ययन।

समकालीन रूप को प्रदेशीय साहित्य और कला-इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है।

अध्ययनों को सूक्ष्मतम रूप से देखें तो इस अध्ययन का उद्देश्य यह है कि नये कलारूप और उनकी नयी कला शैली का पूरी तरह अध्ययन किया जाये।

यह स्पष्ट है कि प्रदेशीय साहित्य, तरह तरह की चित्र परंपरा और संयुक्त कलाओं के सामंजस्य को समझा जाये। बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो सारी भारतीय भाषाओं के ज्ञाता हैं और उनके मूल को समझ सकते हैं। मेरे इस ज्ञान के बावजूद कि मैं सौभाग्य से आधा दर्जन से अधिक भारतीय भाषाएं जानती हूं, मेरी अपनी सीमाएं हैं। निश्चित रूप से अनुवाद और दूसरे माध्यमों पर मैं निर्भर कर सकती थी और यह भी स्पष्ट है कि उसमें भी सीमाएं हैं।

यह स्पष्ट है कि क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्य की तिथियों के बारे में कई तरह के वाद-विवाद उपस्थित होते रहे हैं। इनके बारे में कई तरह की चर्चाएं होती रही हैं। कुछ साहित्यकारों के बारे में, जैसे कि कंबन के बारे में तथा प्रमुख घटनाओं की तिथियों के बारे में कोई सहमति नहीं है। ऐसी स्थिति में किसी के बारे में निश्चित तिथि या साहित्यिक परंपरा के बारे में जानकारी रखना बड़ा मुश्किल है और इस कारण हमें समीक्षक और विभिन्न भाषाओं के लेखकों के कहे पर विश्वास करना पड़ता है। इस संबंध में साहित्य अकादमी की पुस्तकमाला के अंतर्गत तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, बांग्ला, ओड़िया साहित्य के इतिहास पर प्रकाशित पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं। मैं इन पुस्तकों के लेखकों के प्रति आभारी हूं और गुजराती के संबंध में मैं श्री कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी और श्री एम.आर. मजुमदार की आभारी हूं। 'भाओना' के ऐतिहासिक विवरण के बारे में डा. माहेश्वर नियोग और श्री एच.बरुआ का आभार मानती हूं। डा. माहेश्वर नियोग ने असम की कला के बारे में बहुत सारी विचारोत्तेजक वार्ता में सहयोग दिया। 'ख्याल' इत्यादि के बारे में डा. महेंद्र भाणवत ने पर्याप्त सामग्री उपलब्ध की।

लेकिन रंगमंच तो लिखित शब्दों का दूसरा रूप है। चर्चा-परिचर्चा भी बेहद जरूरी है। सबसे बड़ा सहयोग मिला डा. वी. राघवन का। उन्हीं के सुझाव से मैंने 1949 में मेलात्तुर की पहली यात्रा की। उन्होंने ही 'कुटियट्टम' से मेरा पहला परिचय करवाया। 'यक्षगान' और 'भागवत्मेला' से भी। उनके आभार को मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकती। मुझे श्री ई. कृष्ण अय्यर के सहयोग की भी याद आ रही है। प्रो. के.एस. कारंथ, डा. मार्था ऐशटन और भागवतार गोपाल से यक्षगान के बारे में बातचीत बहुत ज्ञानवर्द्धक रही। कुटियट्टम के कई गुरुओं तथा मणि माधव चकयर और राम चकयर ने मेरे कई प्रश्नों के उत्तर दिये। कुन्नजुनी राजा को मोनोग्राफ और क्लिफोर्ड जोन्स तथा बेटी जोन्स के कुटियट्टम पर लिखे लेखों से एक नयी दिशा मिली। सबसे बड़ी उपलब्धि थी कि केरल में रात-दर-रात इन सबकी प्रस्तुति देखी।

'छऊ' के बारे में बहुत कम साहित्यिक सामग्री उपलब्ध है। लेकिन मेरा सौभाग्य है कि इस शैली के अध्येता और कलाकारों से मुझे पूरी जानकारी मिली। मैं इन्हें धन्यवाद देना चाहती हूं : श्री कृष्णचंद्र नायक और साथियों को मयूरभंज छऊ के बारे में, सेराएकला के लिए गुरु केदारनाथ साहू और राजा बृजेंद्र सिंह देव को तथा श्री आशुतोष भट्टाचार्य, श्रीमती पूर्णिमा सिन्हा एवं गुरु गंभीरसिंह को पुरुलिया छऊ के लिए।

मथुरा-वृंदावन की निरंतर यात्राओं ने और स्वामी लाडलीप्रसाद, रामस्वरूप तथा हरगोविंद से की गयी बातचीत ने 'लीला' रूपों के बारे में समझने में बहुत सहायता दी। मैं उनका आभार मानती हूं। श्री रामनारायण अग्रवाल और श्रीयमदाग्नि के लेखन से समकालीन प्रस्तुतियों को ठीक तरह समझने में मदद मिली। रास पर प्रो. दशरथ ओझा और उनके संयुक्त प्रयास में श्री जगदीशचंद्र माथुर की पुस्तक 'प्राचीन भाषा नाटक' से भी कुछ नाट्यरूपों की खोज में विशेष सहायता मिली। प्रो. दशरथ ओझा ने कई जानकारियां और सामग्री दी। उसमें से कई अंशों का मैं इस पुस्तक में उपयोग नहीं कर पायी हूं।

श्री के.एम. मुंशी तथा श्री मजुमदार के अलावा श्रीमती सुधा देसाई और श्री रसिकलाल पारीख ने 'भवाई' के बारे में कई बातों को स्पष्ट कर दिया। गुजरात के श्री मनसुख जोशी और उनके मित्रों ने मेरे अनेक प्रश्नों के उत्तर भी दिए। अपनी पांडुलिपि प्रकाशनार्थ भेजने के बाद अभी हाल ही में मुझे मोरवी में 'भवाई' आयोजन को देखने के बाद अद्भुत अनुभव प्राप्त हुआ। भवाया भाइयों, विशेषकर, श्री मणिभाई और श्री बाबूभाई से बातचीत करने के बाद तथा उनके प्रदर्शन देखने के बाद मैं भवाई के बारे में अपने विचारों में कुछ संशोधन करना चाहूंगी। इस अनुभव ने मुझे पांच सौ वर्ष पुराने उस कलारूप

के जीवंत स्वरूप को समझने का रास्ता दिखाया है कि कथ्य, भाषा, रंगमंच, तकनीक और संगीत का कितना विरूप और नया स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इन गुरुओं को हार्दिक आभार; उनके अनुभवों ने मुझे बहुत कुछ दिया।

अब 'यात्रा' को व्यावसायिक मंच पर बहुत प्रतिष्ठा मिल गयी है, मुझे इनकी अच्छी भली प्रस्तुति देखने का अवसर भी मिला। प्रो. आशुतोष भट्टाचार्य और श्रीमती सोवा सेन से बातचीत करके मुझे कई जानकारियां मिलीं।

डा. महेन्द्र भाणवत का 'ख्याल' पर लेखन और देवीलाल सामर के राजस्थान के बारे में गहन अध्ययन से बहुत सहायता मिली। आप दोनों ने प्रस्तुति और परिचर्चा दोनों में मदद की। मैं इनकी कृतज्ञ हूं।

मराठी 'तमाशा' के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। लेकिन इनका मूल केवल मौखिक परंपरा में ही उपलब्ध है। मराठी साहित्य के अध्ययन ने मुझे रंगमंच के इस लोकप्रिय माध्यम के बारे में कई बातें समझने में सहायता की।

बावजूद इन सबके, मैं इस पुस्तक में कई बातें सम्मिलित नहीं कर पाई हूं। विशेषकर हिमाचल प्रदेश का 'करियाला' और कश्मीर का 'भांड पथेर'। संगीत नाटक अकादमी द्वारा प्रकाशित होने वाला श्री एस.एस. ठाकुर का जीवनचरित इस कमी को निश्चित ही पूरा कर सकेगा।

इन विषयों पर जिन विद्वानों ने लिखा है उनका मैं आभार मानती हूं, यथा – स्व. डा. वी. राघवन, श्री सुरेश अवस्थी और श्रीमती इंदुजा अवस्थी, मिस्टर क्लिफोर्ड जोन्स, श्री कन्नजुनी राजा, डा. के.एस. कारंथ, श्री बलवंत गार्गी, स्व. श्री जगदीशचंद्र माथुर और स्व. डा. श्याम परमार। स्व. डा. वी. राघवन, स्व. डा. श्याम परमार और स्व. जगदीशचंद्र माथुर इस दिशा के अग्रणी थे और उनकी कमी हमेशा खलती रहेगी। हमारा यह दुर्भाग्य है कि इन विद्वानों की अन्य रचनाओं से हम वंचित रह गये हैं।

प्रकाशन के लिए चित्र इकट्ठा करना भी आसान काम नहीं था। इस कार्य में कई संस्थाओं और व्यक्तियों ने सहायता की है। मिस्टर क्लिफोर्ड जोन्स ने कुटियट्टम, श्री बलवंत गार्गी ने यक्षगान और नेशनल स्कूल आफ ड्रामा की निभा जोशी ने अन्य नाट्यरूपों के बारे में आवश्यक जानकारी दी है। संगीत नाटक अकादमी के चित्र संग्रह से भी विशेष सहायता मिली है। यक्षगान केंद्र, उडिपी के हरिदास भट्ट, भारतीय लोक कला मंडल, कलकत्ता की अनामिका, श्रीमती सोवा सेन, रंगश्री, लिटिल बैले ट्रुप, इंडियन नेशनल थिएटर, असम सरकार के पब्लिकेशन डिवीजन, प्रो. आशुतोष भट्टाचार्य और कई अन्यों की भी कृतज्ञ हूं।

साहित्य अकादमी के श्री बालु राव ने कुटियट्टम, यक्षगान और भागवतमेला के बारे में बहुत ही उपयोगी सुझाव दिये।

डा. लोकनाथ भट्टाचार्य ने इस पाडुंलिपि के संपादन में अपना अमूल्य समय दिया और आम पाठक के लिए उसे पठन योग्य बनाने में सहायता की। यह सहायता सराहनीय है। नेशनल बुक ट्रस्ट के भूतपूर्व अध्यक्ष डा. एस. गोपाल, जिनकी प्रेरणा से ही इस पुस्तक के लेखन का प्रारंभ हुआ, की भी आभारी हूं। इन लोगों और नेशनल बुक ट्रस्ट के अन्य सहकर्मियों की भी आभारी हूं।

कई बार दोहराने के बाद भी मैं यह कहना चाहूंगी कि यह इस विषय, इस शैली की विविधता की एक प्रारंभिक रूपरेखा है। प्रयत्न यह किया गया है कि विविध रूप-परंपराओं को उनके समसामयिक संबंधों को जोड़कर उनके सिद्धांत, मूल वस्तु और परंपरागत रूपों में प्रस्तुत किया जाये। यह आवश्यक लगा कि शैली के विभिन्न रूपों में और सामग्री के अनुसार, जो सृजनात्मक भी हैं और समीक्षात्मक भी, इन सबके बारे में विचार किया जाये। मैं अपना सौभाग्य समझूंगी यदि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा और उनसे संबंधित भारतीय रंगमंच के बारे में लोग रुचि ले सकें। इससे मुझे लगेगा कि मेरा प्रयास पूरा हो गया। इसके बाद उत्तर-पठन के लिए उन वयस्क भारतीयों के लिए सुझाव है कि वे इस पुस्तक की रूपरेखा को समझ कर चलें, जो नेशनल बुक ट्रस्ट की सीमा रेखाओं के अंतर्गत तैयार की गयी है।

अंत में मैं जवाहरलाल नेहरू स्मारक निधि के प्रति आभार व्यक्त करती हूं, जिन्होंने इस पाडुंलिपि को तैयार करने में मेरी सहायता की। वर्षों लगे थे इस सामग्री को तैयार करने में, लेकिन कुछ **गीत-गोविंद एंड द इंडियन आर्टिस्टिक ट्रेडिशंस** से ली गयी है। इसका मतलब यह है कि उस अध्ययन में से उपलब्ध सामग्री एक-दूसरे की पूरक-सी है। कुछ प्रश्नों ने उत्तर सुझाये और कुछ प्रश्नों ने उत्तर पूरे किये।

कपिला वात्स्यायन

1

परिचय

भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं की चर्चा के साथ ही बहुभुजी दुर्गा की प्रतिमा का स्मरण आता है या नटराज-रूप शिव का, जो संहारक होने के साथ साथ तांडव नृत्य के नाना रूपों के शाश्वत सृष्टा भी हैं। मूर्त रूप में ये प्रतीक एक स्तर पर बहुविध रूपों में एक साम्य, एक आसवन केंद्र का बोध कराते हैं तो अन्य स्तर पर इन बहुविध रूपों में 'शक्ति' और 'लय' की अविच्छिन्न धारा का। ये दोनों ही पक्ष एक दूसरे से संबद्ध और एक दूसरे पर आश्रित हैं। अनेक भुजाओं और हाथों की भांति ही कला के विभिन्न रूप एक दूसरे से भिन्न और पृथक होते हुए भी एक ही शरीर के अंग हैं। प्रत्यक्षता, भिन्नता और अनेकता के मूल में तांडव के ही विभिन्न रूप हैं।

यह सही है कि भारत में कलाओं की, विशेषत: प्रदर्शनकारी कलाओं की किसी एकरूप परंपरा की कल्पना असंभव है क्योंकि ये कलाएं शाब्दिक संप्रेषण पर आश्रित हैं भी और नहीं भी।

भारत के विशाल भौगोलिक क्षेत्र में प्रदर्शनीय कलाओं की एक नहीं अनेक परंपराएं हैं। सभी में विधाओं, रूपों, शैलियों और विधियों की बहुलता है। समकालीन परिदृश्य भी ऐसा नहीं है कि पाश्चात्य प्रदर्शनकारी कलाओं की भांति भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं को सुस्पष्ट पृथक श्रेणियों में विभाजित किया जा सके और उन्हें शास्त्रीय तथा लोक कलाओं, परिष्कृत स्वनिष्ठ वैयक्तिक कला-सृजन और सामूहिक सहभागिता और शब्द, संगीत या भंगिमा या गति पर आधारित कथित नाटक की संज्ञा दी जा सके। न ही उन्हें ओपेरा, ओपरेटा, सिम्फनी या चैम्बर आर्केस्ट्रा जैसी सुनिर्धारित श्रेणियों में रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त वह श्रेणी-पृथकता जो 20वीं शताब्दी के पूर्व तक पाश्चात्य कलारूपों की महत्वपूर्ण विशेषता रही है, भारत में अति प्राचीन काल से ही लुप्त रही है।

परंतु इन जटिलताओं और एक प्रकार की प्रत्यक्ष चिरंतन समयहीनता के होते हुए भी इस उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में और समाज के विभिन्न वर्गों में प्रचलित इन परंपराओं को समीप से देखने पर विदित होगा कि इनमें से प्रत्येक को कलात्मक रूप और शैली के कालगत संदर्भों में और साथ ही उनके सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश के संदर्भ में भी स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। समकालीन प्रतीत होने वाले किसी कलारूप में विभिन्न कालखंडों की छाप पहचानी जा सकती है। प्रदर्शनकारी कलाओं की परंपराओं का विकास जिस सांस्कृतिक ढांचे में हुआ उसकी यह विशेषता एक अत्यधिक अमूर्त कार्यविधि का परिचय देती है – ऐसी अमूर्त कार्यविधि का जो एक ओर इन कलारूपों की आत्मा का दिशा निर्देश करती है और उन्हें एक मूलभूत एकता या अविच्छिन्नता तथा शाश्वतता के सूत्र में बांधती है तो दूसरी ओर परिवर्तन और निरंतर प्रवाह के लिए आवश्यक उनकी अनेकता, मूर्तता और वैभिन्य तथा समसामयिकता की भी समान शक्ति से रक्षा करती है।

स्थिर अपरिवर्तनीय साम्य और परिवर्तन तथा गतिशीलता की साथ साथ चलने वाली धाराओं की इस विरोधाभासपूर्ण स्थिति के कारणों का निर्देश करना कठिन भी है और संकटपूर्ण कार्य भी। फिर भी, भारत के विशेष संदर्भ में एशिया की सांस्कृतिक परंपराओं, विशेषकर प्रदर्शनकारी कलाओं की 'सार्विकता' या 'सार्वलौकिकता' के अंतर्निहित सिद्धांतों को जानने-समझने का प्रयास एक मूल्यवान प्रयास हो सकता है।

किसी विचारात्मक परिकल्पना तक पहुंचने के लिए संक्षेप में इन कलाओं की देशगत और क़ालगत स्थिति की चर्चा आवश्यक है। देशगत स्थिति को समाज-स्तरों के संदर्भ में भी देखा जा सकता है और प्रस्तुति के प्रकार के संदर्भ में भी। विभिन्न जातिगत और भाषागत वर्गों के भौगोलिक फैलाव के संदर्भ में भी इस पर विचार किया जा सकता है।

विशुद्ध नृशास्त्रीय शब्दों में ये स्तर स्वभावतया जनजातीय, ग्रामीण और नगरीय कला के शब्दों में इन्हें कभी तो 'लोक' की संज्ञा दे दी जाती है, जिसका अभिप्राय समुदाय से होता है और ऐसी अभिव्यक्तियों से जो सहज सहभागिता पर आधारित हों। और, कभी इन्हें 'शास्त्रीय' कह दिया जाता है जिससे अत्यधिक संरचनात्मक रूपों का संकेत मिलता है। स्पष्ट शब्दों में न कहते हुए भी 'लोक कला' को जनजातीय ग्रामीण समुदाय और जनसमूह के साथ जोड़ दिया जाता है और शास्त्रीय कला को नगरीय परिष्कृत वर्गों के साथ, चाहे ये नगरीय क्षेत्र औद्योगीकृत हों या न हों। इस प्रकार के विशेषण जोड़ देने के कारण एशियाई या भारतीय कलाओं के सिलसिले में बहुत भ्रांति उत्पन्न हुई है। ये भ्रांतियां किस प्रकार की हैं, इस पर हम अब विचार करेंगे।

सबसे पहले हम सामाजिक ढांचे के विभिन्न स्तरों का संक्षेप में वर्णन कर दें। ये भारत के प्रायः सभी भागों में स्पष्ट रूप से पहचाने जा सकते हैं।

भारत के सभी वर्गों में एक बड़ा भाग जनजातीय क्षेत्र है। इन जनजातियों के नृत्यों को नृशास्त्रीय और जातिगत तत्वों के आधार पर विभिन्न वर्गों में बांटा जा सकता है। भारतीय जनजातीय वर्ग के लोगों के नृत्य और संगीत सशक्त लोक शैलियों और शास्त्रीय शैलियों के उदाहरण हैं।

कश्मीर से हिमाचल प्रदेश तक हिमालय क्षेत्र है जो आगे भूटान, सिक्किम, मणिपुर, असम और मिजोरम के पूर्वी पर्वतों तक फैला हुआ है। इस विशाल क्षेत्र की जनसंख्या में विभिन्न जनजातीय समुदाय भी सम्मिलित हैं जिनमें गुज्जर से लेकर बकरवाल तक की जनजातियां और सामान्यतः 'नागा' कही जाने वाली विभिन्न जनजातियां भी हैं। इनमें प्रमुख हैं ज़ेलियांग, माओ, तंगखुल, डाफ़ला, सेमा और आओ।

एक अन्य जनजातीय क्षेत्र हिमालय की तराई से शुरू होकर गंगा और यमुना से घिरे मैदानों को स्पर्श करता हुआ चला गया है। तराई और विशाल पठारों की जनजातियों में कई जनजातियों को उनकी सामाजिक संरचना और जीवन प्रणालियों के साम्य के कारण एक वर्ग में रखा जा सकता है। फिर ये उप-समूहों में बांटे जा सकते हैं। राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र के रेगिस्तानी और पठारी क्षेत्रों की जनजातियों का संबंध एक अन्य बृहत् वर्ग से है तो उरावं, हो, मड़िया और संथाल तथा ओड़िसा की कुछ जनजातियों का संबंध एक अन्य बृहत् वर्ग से। विंध्याचल के दक्षिणी पठारी क्षेत्रों में और समुद्र तट पर भी कुछ जनजातियां रहती हैं। इनमें टोडा, बंजारा, बेनाडी जैसी कुछ अति प्राचीन जनजातियां भी हैं।

इन करोड़ों लोगों के संगीत और नृत्य के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि ये जनजातियां शाब्दिक और मूक संप्रेषण विधियों और प्रणालियों में या तो एकदम भेद नहीं करतीं और यदि करती भी हैं तो बहुत कम। इनकी अभिव्यक्ति हर तरह से पूर्ण होती है। वैयक्तिक रूप में यह अभिव्यक्ति स्वच्छंद हो सकती है, परंतु सामूहिक स्तर पर यह अधिकांशतः एक निश्चित गति या ध्वनि के अधीन होती है जो शिकार आदि जीवन के क़ार्यकलापों और अनुभवों से सीधे जुड़ी होती है। गान या नृत्य में भी सहभागिता होती है, किंतु स्वच्छंद गति की छूट देने के अर्थ में वह सहज नहीं होता। जनजातीय समाज की भांति ही उसके कलागत रूप भी अत्यधिक संरचनाबद्ध होते हैं।

अगला चरण खाद्य संग्रह का है। इसमें नाना प्रकार के जादुई उर्वरता संबंधी कर्मकांड होते हैं। इनमें ध्वनि, लय और गति के माध्यम से तात्कालिक जीवनानुभवों का पुनः स्मरण किया जाता है। नाटकीय कार्य व्यापार की आवृत्ति पहली बार होती है। सहज ही, कथित शब्द और अंग विक्षेप एक निश्चित रूप ग्रहण कर लेते हैं। पृथ्वी, जल, सूर्य और चंद्रमा से जुड़े

उर्वरता संबंधी कर्मकांडों की यहां एक महत्वपूर्ण भूमिका रहती है । डफ़ला, आओ, मड़िया, हो और उरांव जनजातियों की भांति कलारूप जनजातीय समाज की संरचना पर उतना आश्रित नहीं रहता जितना कि कर्मकांडीय कार्यकलापों पर। भारत के सभी बांस-नृत्यों का संबंध इसी श्रेणी से है । जुलूस, संगीत और नृत्य के मूल स्रोत, 'झूम' कृषकों के कर्मकांडों में ढूंढ़े जा सकते हैं ।

फिर, गांव का संगठित समाज सामने आता है जिसके उद्‌भव को 'ग्राम' की वैदिक संकल्पना से जोड़ा जा सकता है। इस देश की और संभवतः एशिया के कुछ अन्य भागों की लगभग दो तिहाई जनसंख्यां इसी सामाजिक ढांचे में रहती आयी है और आज भी इसी ढांचे में रहती है । इन गांवों का विश्लेषण अनेक दृष्टिकोणों से किया गया है जो ऐतिहासिक भी है और समाज शास्त्रीय भी । यहां संगीत, नृत्य और नाटक कृषिगत कार्यकलापों में घुलमिल गये हैं और ये कृषक की दैनिक तथा वार्षिक गतिविधियों के अभिन्न अंग हैं । बुआई और कटाई से संबद्ध कृषिगत कर्मकांडों में जनजातीय समाज के अनेक अवशेष देखे जा सकते हैं । इनके तथा जादू-टोने के अनेक अनुनय नृत्यों के मूल स्रोत अज्ञात पुराकाल में निहित हैं । इस प्रकार बहुधा किसी समकालीन सामूहिक नृत्य में आदिम जनजातीय जीवन के कार्यकलापों के कुछ तत्व मिल जाते हैं । गर्बा और भांगड़ा इसके प्रतिनिधि उदाहरण हैं ।

कृषक के कृषिगत जीवन चक्र से अभिन्न रूप से जुड़े इन कलारूपों के साथ साथ वे कलारूप भी हैं जो दो भारतीय महाकाव्यों और बौद्ध, जैन तथा हिंदू धर्मों के अनेक जातकों और पुराणों पर आधारित हैं । एशिया के अनेक भागों में इन महाकाव्यों और जातकों तथा प्रायः इन पर आधारित स्थानीय तथा देशीय कथाओं और इनसे मिलती जुलती दंतकथाओं की आज भी महत्वपूर्ण भूमिका है । अनेक झांकियों तथा मूक दृश्यों और नृत्य नाटक के स्थानीय रूपों का विकास शब्दों के सस्वर पाठ, भंगिमाओं, स्वांग तथा गान के द्वारा उनकी व्याख्या के माध्यम से ही हुआ है । महाकाव्यों के स्थानीय रूपों को एक 'तुच्छ' परंपरा मे 'महान' परंपरा का प्रवेश माना गया है । परंतु हम प्रायः भूल जाते हैं कि इन स्थानीय और क्षेत्रीय रूपों ने भी इन महाकाव्यों के अनेक साहित्यिक रूपों की सृष्टि की है । रामकथा के विकास का इतिहास इसका साक्षी है ।

ग्रामीण समुदाय से ही जुड़ा हुआ किंतु एक पृथक वर्ग उन व्यावसायिक गायकों, नर्तकों, संगीतकारों और अभिनेताओं का है जो भारत के विभिन्न भागों में भांड, नट, गंधर्व, वैरागी, बीनकार आदि भिन्न भिन्न नामों से जाने जाते हैं । इस वर्ग के लिए कला प्रदर्शन एक व्यवसाय है, न कि कोई सामाजिक, जनजातीय या कृषिगत कार्यकलाप । वह समाज का एक अंग है भी और नहीं भी है । यह एक ऐसा समुदाय या जन समूह है जिसे पाणिनी के समय से मान्यता मिलती आई है । वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं । गांवों और शहरी केंद्रों के बीच विचारों, कलारूपों और कला शैलियों के आदान-प्रदान का श्रेय इसी वर्ग को है । वे विरोध और असहमति प्रकट करने तथा सुधार लाने के माध्यम भी रहे हैं । सुधार आंदोलनों का प्रसार करने और व्यंग्य तथा टीका-टिप्पणी पर बल देने के कारण वे सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तन का साधन भी सिद्ध हुए हैं । भवाई, नौटंकी, तेरुकूथु, वीथिनाटकम, ओत्तांथुल्लाल आदि समकालीन नाट्यरूप इसी वर्ग के अंतर्गत आते हैं । कला के स्तर पर उनकी शिल्प विधियों में कलाबाजी से लेकर संवादयुक्त नाटक तक मिलते हैं । परंतु शब्द भंगिमा संबंध अल्पमत है । कुछ समय से इन्हें लोक नाटक, परंपरागत रंगमंच और नुक्कड़ रंगमंच तथा लोक नृत्य तक कहा जाने लगा है । गाथा गायन, कठपुतली के नाच के साथ गाये जाने वाले गीत, कलाबाजी, नृत्य और नाटक आदि रूपों की सारवता इस बात में निहित है कि इनमें समाज की टीका-टिप्पणी करने की छूट समाज की ओर से दी गयी है । यही तत्व उन्हें एक साथ बांधे रखता है । प्रस्तुत अध्ययन में हमारा सरोकार मुख्यतः भारत की ऐसी ही प्रदर्शनकारी कलाओं से है ।

अंत में, शहरों में केंद्रित वह नगरीय संस्कृति है जो जनजातीय या ग्रामीण संस्कृति से ही विकसित हुई है और जिसने स्वयं भी उसे प्रभावित किया है । वह नगरीय संस्कृति अनिवार्यतया आधुनिक नहीं है । कृषिगत तथा जीवन संबंधी अन्य कार्यकलापों, विशेषकर सामाजिक संगठनों के ढांचे में विकसित कलारूप इस चौखटे से निकल कर शहरी परिवेश में पहुंचते हैं, यद्यपि यहां वे अपने मूल कृषिगत कार्यकलापों से कटने के बाद ही पहुंचे हैं । कठोर सामाजिक संरचना से अब वे पूर्व की भांति अभिन्न रूप से जुड़े हुए नहीं हैं । पुराने रूप में नया साहित्यिक तत्व और संगीत प्रबंध जोड़ दिया जाता है । परिणामतः उसमें शास्त्रीयता आ जाती है । पुराने रूपों को छील तराश कर और शब्द तथा ध्वनि की दृष्टि से संरचनाबद्ध करके एक प्रकार

का वैचित्र्य और शैलीकरण प्राप्त किया जाता है। यदि अत्यधिक गूढ़ कलाओं का धरती से संपर्क नहीं टूट सका है और परवर्ती युगों में भी स्वयं को नवीन बनाये रखने की उनकी शक्ति बनी हुई है तो इसका रहस्य इसी में निहित है।

इस स्तर पर इन्हीं महाकाव्यों, पुराणों और अन्य विषयों का उपयोग कई भिन्न प्रकारों से किया जाता है। आर्थिक अपेक्षाओं के अनुसार कलाकार व्यावसायिक भी हो सकते हैं और अव्यावसायिक भी, किंतु कला उनके लिए एक साधना और मुक्ति का साधन होती है जिसके प्रति वे पूर्णतः समर्पित होते हैं।

यह बहुस्तरीय स्वरूप भारत के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है। यह एशिया के अनेक भागों में दृष्टिगत होता है, विशेषकर जावा, बाली, थाईलैंड के कुछ भागों तथा बर्मा में।

क्या इस सर्वेक्षण से हम कोई धारणा बना सकते हैं और कोई निष्कर्ष निकाल सकते हैं? कदाचित् ऐसा करना एक जोखिम होगा, परंतु यह जोखिम मोल लेना उपयोगी हो सकता है। स्थूल रूप से इसका निचोड़ इन शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है – कलाओं का विकास ऐसी स्थानीय या क्षेत्रीय विशिष्टता के चौखटे में हुआ जो सामाजिक-आर्थिक स्तरबद्धता की सीमाओं में बंधी हुई नहीं थीं। विभिन्न स्तरों के बीच संवाद और आदान-प्रदान की स्थिति थी और बहुधा ये परस्पर घुले मिले भी दिखाई देते थे। दोनों ही पक्ष एक दूसरे को कुछ दे रहे थे और साथ ही एक दूसरे से कुछ ले भी रहे थे। ऐसा नहीं है कि मात्र 'महान कला' लोक कला को प्रभावित कर रही थी। जनजातीय और ग्रामीण कलारूपों ने भी इस 'महान कला' को प्रभावित किया है और आज भी कर रहे हैं। साथ ही, विशेष स्तरों पर विभिन्न क्षेत्रों के बीच एक संप्रेषण पद्धति है जो स्पष्ट पहचानी जा सकती है। इस प्रकार दो स्थूल पद्धतियां थीं। पहली का संबंध एक ही क्षेत्र के कलारूपों के विभिन्न स्तरों और सामाजिक-आर्थिक वर्गों के धरातल पर पारस्परिक गति से था। इस गति का स्वरूप उर्ध्वाधर था। दूसरी का संबंध उन क्षेत्रों के बीच की क्षैतिज गति से था जिनमें विशिष्ट स्तरों पर विषयों, अंतर्वस्तु और रूपों का विकास अनवरत संप्रेषण के चौखटे में हुआ था।

तथापि, समकालीन कलात्मक अभिव्यक्तियों की पहचान जनजातीय, ग्रामीण, कस्बाई तथा नगरीय रूपों में संभव है और विभिन्न क्षेत्रों तथा किसी एक क्षेत्र के स्तर पर जनजातीय, ग्रामीण तथा परिष्कृत रूपों के मध्य संवाद और पारस्परिक प्रभाव ग्रहण की क्या पद्धति रही है, उसे भी रेखांकित किया जा सकता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए ओड़िसा, मणिपुर, केरल और मध्य प्रदेश में प्रचलित रूपों की चर्चा की जा सकती है, जों इस सांस्कृतिक प्रक्रिया के बहुत उत्तम उदाहरण हैं। उदाहरण के लिए, गंजाम जिले के जनजातीय रूपों, मयूरभंज के पाइक नर्तकों, यात्रा के अभिनेताओं और आखड़ों के गोटिपुअ तथा ओडिसी के मंदिरों के महारियों में एक निश्चित संबंध है। कलि, पुल्यार, कलि, वेलकलि नृत्यों तथा देवी भक्ति के नृत्यों, थेयट्टम, थेरियट्टम और अंततः कुटियट्टम तथा कथकलि में भी एक संपर्क सूत्र देखा जा सकता है। इनके साथ साथ भारत के विभिन्न क्षेत्रों में ओडिसी, भरतनाट्यम, कथक और मणिपुरी जैसे परिष्कृत नृत्यरूप हैं जिनमें सार्विकता और सार्वभौमिकता के तत्व दृष्टिगत होते हैं।

इस देशगत स्थिति के साथ साथ हमें ऐतिहासिक कालगत परिप्रेक्ष्य को भी दृष्टि में रखना होगा। हम देखते हैं कि प्रदर्शनकारी और रूपंकर कलाओं की परंपराओं का विकास अंतर्संबद्धता और अंतर्निर्भरता की परिधि में हुआ। यह अंतर्संबद्धता और अंतर्निर्भरता मात्र सांयोगिक नहीं थी, अपितु एक सचेतन जागरूकता और सिद्धांत का परिणाम थी। जहां मोहनजोदड़ो एक नगरीय सभ्यता थी वहीं ऋग्वैदिक समाज का स्वरूप पशुचारी और यायावर था जिसमें सामाजिक घनिष्ठता और गत्यात्मकता के अनेक तंत्र अंतर्निहित थे। 'सामन' सभी के लिए मिलन स्थल था। 'यजुर्वेद' का समय आते ऐंद्रजालिक कर्मकांडगत चेष्टाओं और शरीर के प्रतीकात्मक प्रयोग का महत्व हो चुका था। 'अथर्ववेद' ने एक अत्यधिक विकसित प्रतीकात्मकता और इंद्रियबोध तथा उसकी अभिव्यक्ति और अर्थ के पारस्परिक सहसंबंध की व्यवस्था की नींव डाली। यह तत्व सभी भारतीय कलाओं में दृष्टिगत होता है चाहे वे ऐंद्रजालिक स्तर की हों या कर्मकांडगत स्तर की अथवा गूढ़ स्तर की। 'सामवेद' में 'मार्गी' और 'देशी' की संकल्पना विभिन्न स्तरों का अस्तित्व स्वीकार करती है। वेदों के पश्चात वेदांत की दार्शनिक परंपरा तथा ब्राह्मणीय कर्मकांड की परंपराओं ने दो समानांतर धाराओं को जन्म दिया – आत्मा के एकीकृत अमूर्तीकरण और सहगामी प्रतीकात्मक रूपबद्धता की धाराओं को।

सौंदर्यशास्त्र में पौराणिक भारतीय आचार्य भरत बहुत पहले ही (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी – दूसरी शताब्दी ईस्वी में) कलाओं के इस ढांचे को मान्यता प्रदान कर चुके थे और इस रूप में उसकी व्याख्या कर चुके थे। उन्होंने जिस नाट्य परिदृश्य की संकल्पना की थी उसमें अभिव्यक्ति के सभी माध्यम और विधाएं सम्मिलित थीं। इनमें कथित शब्द से लेकर गायन और वाद्य संगीत भंगिमाओं, स्वांग, रंग-सज्जा, वेशभूषा और अंतर्मन की अव्यवस्थाओं तक का समावेश था। 'लोक' और 'नाट्य' की संकल्पना द्वारा उन्होंने रंगमंच की नैसर्गिक और शैलीकृत प्रदर्शन पद्धतियों के दो स्तरों के अस्तित्व को स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में शैली एक ऐसी प्रस्तुति थी जिसमें भव्य से लेकर शाब्दिक तथा प्रगीतात्मक से लेकर आत्मनिरीक्षणात्मक तक का समावेश था। 'परवृत्ति' की संकल्पना के द्वारा उन्होंने क्षेत्रगत विभिन्न रूपों के आविर्भाव को भी स्वीकार किया।

अत: यह स्वाभाविक ही था कि 'नाट्यशास्त्र' का रचयिता अपने ग्रंथ का समारंभ इस कथन से करता कि उसने 'ऋग्वेद' से शब्द, 'सामवेद' से संगीत, 'यजुर्वेद' से भंगिमाएं और 'अथर्ववेद' से आत्मनिरीक्षण की स्थितियां लेकर पंचम वेद की रचना की है। इस बात पर बल देकर कि यह एक ऐसी विधा और कला है जो समाज के सभी वर्गों और समुदायों के लिए है, उसने सभी प्रकार के श्रेणीबद्ध स्तर विन्यास से ऊपर उठने की कलाओं की क्षमता का संकेत दिया। इन प्रारंभिक शास्त्रीय ग्रंथों में विभिन्न स्तरों और विभिन्न परिवेशों में कलात्मक कार्यकलापों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। इनमें मनोरंजन से लेकर क्रियात्मक और अत्यधिक व्यावसायिक कार्यकलाप तक सम्मिलित है। पाणिनि, भर्तृहरि, वात्स्यायन आदि कोशकारों और शास्त्रकारों ने अभिनेताओं तथा प्रस्तुति की विभिन्न श्रेणियों के लिए भिन्न भिन्न शब्दों के प्रयोग द्वारा इन स्तरों तथा वर्गों में स्पष्ट भेद किया है।

कला का यह सूत्र तथा दूसरी शताब्दी से लेकर 10वीं शताब्दी तक के कला संबंधी अन्य सूत्र एक ऐसे विश्व दर्शन के द्योतक हैं जो एक सुनिश्चित लक्ष्य के एकत्व और अंतर्वस्तु की अनेकता को स्वीकार करता है और साथ ही इस बात को भी कि वे दोनों विभिन्न स्तरों और क्षेत्रों की जिन विधाओं और शैलियों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं वे परस्पर आश्रित हैं। शास्त्रकार और कलाकार दोनों के लिए एकत्व का सिद्धांत तथा अनेकत्व और परिवर्तनीयता का सिद्धांत दोनों ही एक असंदिग्ध मूलभूत विचारगत परिकल्पना भी थे और एक अनुभवसिद्ध वास्तविकता भी।

समयांतर में जहां अत्यधिक शैलीकृत विशिष्ट पद्धतियों के रूप में परिष्कृत रूपों का आविर्भाव हुआ, वहीं उनके साथ साथ ऐसी भिन्न भिन्न विधाओं और शैलियों का विकास भी हुआ जिनका स्वरूप स्थानीय तथा क्षेत्रीय था, इन्हें 'देशी' कहा गया। इन विधाओं का प्रचलन इतना अधिक और प्रभाव इतना व्यापक तथा प्रबल था कि 10वीं शताब्दी से लेकर 13वीं शताब्दी तक के शास्त्रकारों और संहिताकारों ने अपने ग्रंथों में कला विधाओं की एक सर्वथा नवीन श्रेणी 'देशी' का समावेश किया। 'देशी राग', 'देशी करण' और साहित्य तथा चित्रकला के 'देशी' रूपों का उक्त काल के शास्त्रीय ग्रंथों में विस्तृत और विशद वर्णन किया गया है। इन ग्रंथों के अध्ययन से हमें उन परंपरागत सिद्धांतों की शक्ति और प्रामाणिकता में विश्वास करना ही पड़ता है जिनका निरूपण मूलत: धर्म और आचरण के संदर्भ में हुआ था। ये हैं 'शास्त्राचार' और 'लोकाचार' की अवधारणाएं। कला सिद्धांतकारों और संहिताकारों ने लोक जीवन की इन घटनाओं पर केवल ध्यान ही नहीं दिया, अपितु उन्हें सैद्धांतिक और शास्त्रीय मान्यता भी प्रदान की। धर्म, दर्शन और आचार सँहिता में इसके लिए पूर्वोदाहरण और प्रतिरूप उपलब्ध थे।

हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ये परंपराएं परिवर्तन, वैविध्य और रूप भेद को अंगीकार करने की एक अंतर्निर्मित व्यवस्था से संपन्न थीं और ये सब एकत्व और 'शाश्वतता' की एक सुनिश्चित पद्धति के भीतर होता था। 'शाश्वतता' और एकत्व तथा परिवर्तनशीलता और विकास परस्पर संघर्षशील और विरोधी न होकर एक दूसरे के अनुपूरक थे। परंपरा और समकालीनता स्थिर साम्य तथा गत्यात्मक परिवर्तन इस संदर्भ में सर्वथा भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। विविध रूपों से संपन्न एक भगवान या अनेक भुजाएं रखने वाली एक देवी इस विश्व दर्शन की एक सहज प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति थी।

भारत के कलारूप इसी दर्शन के सच्चे द्योतक हैं और उनका अध्ययन इस धारणा के साथ नहीं होना चाहिए कि पुराने रूप निरंतर नष्ट होते गये और उनका स्थान नये रूप लेते रहे। इसके विपरीत, हमें दोनों के बीच सहअस्तित्व का संबंध मान कर उन पर विचार करना चाहिए। इसका एक नैसर्गिक परिणाम यह हुआ कि मुख्यत: शब्द, ध्वनि, मुद्रा, मूकाभिनय, पिंड,

आयतन, रेखा और रंग पर आश्रित विभिन्न कलारूपों के बीच पार्थक्य को तोड़ने का सचेतन प्रयास किया गया। छठी शताब्दी तक यह एक ऐसा स्वयंसिद्ध सत्य बन चुका था कि 'विष्णुधर्मोतर पुराण' में इस सिद्धांत को एक ऋषि और राजा के बीच संवाद की कथा के माध्यम से प्रतिपादित किया गया है। आराध्य प्रतिमाओं के सृजन का सुपात्र मानने से पहले राजा को लय, संगीत (गायन और वाद्य संगीत) तथा गति की विद्याओं में दीक्षित किया जाता है। इस प्रकार किसी एक कला अथवा किसी विशेष विधा का विश्लेषण केवल एक बाहु युग्म या ईश्वर के किसी एक विशेष पक्ष का ही अध्यन है, उसके संपूर्ण रूप का नहीं। इस एकीकृत दृष्टिकोण के होते हुए भी किसी विशेष माध्यम की स्वायत्तता स्वीकार की गयी है और प्रत्येक पर पृथक रूप से विचार किया गया है।

अत: जहां केवल शब्द या ध्वनि या गति पर निर्भरता के संदर्भ में विधाओं का विविक्त रूप से विश्लेषण एक आंशिक प्रयास होगा, वहीं यह संभव है कि किसी एक क्षेत्र या अनेक क्षेत्रों के कलारूपों की परस्पर निर्भरता और संबद्धता को ध्यान में रख कर इन तत्वों पर विचार किया जाये। इन सब की क्रियाशीलता एकत्व और अनेकत्व के सिद्धांत का ही अनुसरण करती है।

यह भी संभव है कि देश और काल के संदर्भ में ऐसे रूपों की प्रमुख विशेषताओं पर विचार किया जाये जो शब्द पर आश्रित रूपों से भिन्न हैं और संप्रेषण के लिए मात्र शरीर को ही माध्यम बनाते हैं। तथापि 'वाक्' का महत्व सभी स्तरों पर था और मौखिक परंपरा उस स्थिति में भी संप्रेषण का आधार सुलभ करा देती थी, जब शब्द दृश्य अनुभूति के रूप में नहीं अपितु श्रव्य अनुभूति के रूप में संप्रेषित हो रहा हो।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में और विभिन्न स्तरों पर इन रूपों की पहचान कैसे की जाये और इनकी मुख्य विशेषताएं क्या हैं? जनजातीय स्तर पर शरीर के विशेष भागों पर बल देकर अंग संचालन के रूप में शैली का विकास किया जाता है। इसका शब्द से कोई संबंध नहीं है, किंतु जीवनगत क्रियाओं से अवश्य ही इसका संबंध है। लय की एकल इकाइयों के निरंतर प्रयोग द्वारा कलारूप का नियमन किया जाता है। जहां कुछ जनजातीय नृत्यों में टांग का एकल इकाई के रूप में प्रयोग किया जाता है, वहीं अन्य नृत्यों में इसे दो भागों में बांट कर जांघ और पिंडली का प्रयोग किया जाता है। यहां एकल नृत्य में सहजता हो सकती है वहीं सामूहिक नृत्य प्रतिबंधयुक्त और परिसीमित होते हैं। यह सचेतन परिसीमन ही शैली और रीति के विकास का कारण है। परिसीमन रीतियों और अंग संचालन आवृत्ति (जिसमें संपूर्ण शरीर से नहीं अपितु केवल उसके कुछ भागों से ही अभिव्यक्ति का काम लिया जाता है) की भिन्नता के कारण ही नागा नृत्य को मड़िआ और हो नृत्यों से पृथक कर सकते हैं। ग्रामीण स्तर पर सूक्ष्म हस्त संचालन और सूक्ष्म चरण गति भूमि स्पर्श की भूमिका बनने लगती है। उर्वरता के कर्मकांडीय नृत्यों में भूमि और जादू का महत्वपूर्ण योगदान होता है। कुछ नृत्यों में सूक्ष्म अंग संचालन में शरीर के और अधिक भागों से काम लिया जाता है। मानव शरीर का प्रतीकात्मक रूप से भी उपयोग किया जाता है और ऐसा अमूर्त आकार की सृष्टि करने के उद्देश्य से किया जाता है। इनमें प्राय: संगीत एक अनिवार्य तत्व होता है और गायन केवल नर्तक तक ही सीमित नहीं होता। नर्तक का साथ देने के लिए गायकों की एक अलग टोली होती है। शब्द और अंग संचालन का पारस्परिक संबंध ढीला ढाला होता है और उसमें संरचनात्मक कसाव नहीं होता। इन नृत्यों और गीतों के विषय क्षेत्र में यौन और कृषिगत क्रियाओं से लेकर महाकाव्यों की कथाओं की प्रस्तुति तक सम्मिलित है। गांव की गलियों या चौक के सामुदायिक रंगमंच (व्यावसायिक या अर्ध-व्यावसायिक) तक पहुंचने पर हम देखते हैं कि शब्द और भंगिमा का पारस्परिक संबंध एकदम बदल गया है। अब उसमें अधिक कसाव और कठोरता आ गयी है। अब नाट्य तथा दृश्य केवल कथित या गेय शब्द पर और अंग संचालन द्वारा उस की बहुविध व्याख्या पर आश्रित है। देश भर में रामलीला और रासलीला की प्रस्तुतियां इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार कुटियट्टम, यक्षगान और भामकलापम आदि नृत्य नाटक भी इसी के उदाहरण हैं। तमाशा, भवाई, नौटंकी, तेरुकूथु, वीथिनाटकम आदि 'नुक्कड़' और झांकी नाट्य रूपों में शब्द, ध्वनि, गति और भंगिमा के संबंध का एक और ही रूप उभरता है। नुक्कड़ रंगमंच में एक छोर पर नट नृत्य है जिसमें शब्दगत या अर्थगत कोई तत्व नहीं है और जो संप्रेषण के लिए मात्र शरीर कौशल पर आश्रित है। परिष्कृत एकल नाट्य रूपों में शब्द और भंगिमा का संबंध बदल जाता है। इनमें साहित्यिक शब्द एक निश्चित ताल योजना के अनुसार लय शृंखला में बंध जाता है और तब वर्णनात्मक या

प्रतीकात्मक रीति से नर्तक द्वारा उसकी व्याख्या की जाती है। नृत्य के संदर्भ में शास्त्रीय कही जाने वाली समस्त शैलियों में इस नियम का अनुसरण किया जाता है। फिर भी अमूर्त आकार के विशिष्ट लक्षणों के अनुरूप मानव शरीर के प्रयोग के आधार पर इनमें परस्पर भेद किया जा सकता है। विशिष्ट ज्यामितीय आकृतियां इनकी अभिव्यक्ति विधियों का दिशा-निर्देश करती हैं।

इस प्रकार परिष्कृत और शैलीकृत नाट्य रूप जिनकी जड़ें इस स्थिति में भी ग्रामीण और लोक संस्कृति में बहुत गहरे में दबी हुई हैं, एक ऐसी संप्रेषण पद्धति का विकास करते हैं जो एक स्तर पर अत्यंत क्षेत्रीय है तो अन्य स्तर पर अमूर्तिकरण के कारण सार्वभौमिक भी है। इस विकास का क्या स्वरूप है, इसके उदाहरण देश भर में मिल सकते हैं किंतु ओड़िसा, मणिपुर और केरल में, जहां समाज के विभिन्न स्तरों का अस्तित्व अभी भी बना हुआ है और इनकी स्पष्ट पहचान की जा सकती है, इसके उदाहरण विशेषरूप से मिलेंगे।

संप्रेषण के निर्वैयक्तिक माध्यम के रूप में मानव शरीर का प्रयोग एक ऐसा सामान्य नियम है जो ग्रामीण तथा नगरीय दोनों ही स्तरों पर अंग संचालन के स्वरूप का निर्धारण करता है। अभिव्यक्ति सहज निर्बाध अंग संचालन में निहित न होकर शरीर जैसे अत्यंत वैयक्तिक माध्यम के द्वारा निर्वैयक्तिकता की उपलब्धि में निहित होती है। निस्संदेह यह एशियाई नृत्य और नृत्य नाटक की एक ऐसी महत्वपूर्ण विशेषता है जो उन्हें अनेक अन्य संस्कृतियों के समतुल्य कला रूपों से पृथक करती है।

भारतीय मेधा ने कैसे और कब शरीर को ही शरीरातीत बनाने की प्रक्रिया को एक मूलभूत जरूरत मान लिया, इसका इतिहास भारतीय चिंतन का संपूर्ण इतिहास है। भारतीय कला की परंपराओं में, विशेषकर उन परंपराओं में जिनका संबंध रूपगत या गतिक माध्यम में संप्रेषण के लिए मानव शरीर के प्रयोग से है, ये चिंतन प्रक्रियाएं किस प्रकार व्यक्त हुई हैं, उसकी जटिलताओं में जाने का न तो यह अवसर है और न ही स्थानाभाव के कारण ऐसा करना संभव है। इन चिंतन प्रक्रियाओं का सैद्धांतिक निरूपण प्राचीन भारतीय सौंदर्यशास्त्रियों द्वारा रस सिद्धांत के सूत्रीकरण के रूप में किया गया। कोई 1800 वर्षों से यह सिद्धांत भारतीय कलारूपों का दिशा-निर्देश कर रहा है। इस सिद्धांत से संबंधित सौंदर्यानुभूति, सौंदर्यगत तत्व और संप्रेषण विधियों के विभिन्न पक्षों का विद्वानों ने बहुत विस्तार से विवेचन किया है। यहां उन सब की चर्चा नहीं की जायेगी। फिर भी सौंटर्यशास्त्र के दो सिद्धांतों की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। एक भाव निर्देश के लिए समावेश और परिवर्तन की अनुमति थी। दूसरे को संगीत और नृत्य में व्यभिचारी भाव या संचारी भाव की संज्ञा दी गयी है। व्यभिचारी भाव अथवा संचारी भाव के माध्यम से कलाकार स्थायी या प्रमुख अवस्थाओं अथवा मुख्य लक्षणों (स्थायी भाव) की व्याख्या चाहे कितनी ही रीतियों से कर सकता है और निर्धारित सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धांत की समग्र संरचना के भीतर रहते हुए अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार संसार का एक चित्र प्रस्तुत कर सकता था।

अभिव्यक्ति या संप्रेषण के माध्यम के रूप में मानव शरीर का प्रयोग केवल 'नृत्य' तक ही सीमित नहीं था। इसे 'शब्द' अर्थात वाक् (जिसकी प्रमुखता सभी स्तरों पर विशेषकर ग्रामीण और नगरीय स्तरों पर निर्विवाद रूप से मान्य थी) के सहायक के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। लयात्मक ध्वनि शब्द पर अध्यारोपित थी। अंग संचालन द्वारा व्याख्या की मूलभूत पूर्वावश्यकताओं की पूर्ति दोनों मिल कर करते थे। भौतिक परिवेश की रंग-प्रतीकात्मकता, वेशभूषा, साज-संवार और शिरोभूषण अन्य स्तरों के पोषक थे। विधाओं की जो विविधता विकसित हुई वह न्यूनाधिक इन भिन्न भिन्न माध्यमों के विभिन्न प्रकार के सम्मिश्रण के कारण ही विकसित हुई थी और किसी एक माध्यम के एक मात्र प्रयोग का परिणाम नहीं थी।

अतः भारतीय संदर्भ में जब कोई नाटक, नृत्य या संगीत की बात करता है तो वह 'शब्द', अंग संचालन या ध्वनि के प्रमुख या मूलभूत सिद्धांत की ही बात कर रहा होता है। उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि ये कलाएं एक-दूसरी से एकदम कटी हुई और पृथक हैं।

स्तरों की पारस्परिक संबद्धता, क्षेत्रों की अंतर्संबंद्धता, कलारूपों की पारस्परिक निर्भरता और शाश्वतता (समयहीनता) तथा निरंतर प्रवाह (चिरपरिवर्तनशील अभिव्यक्ति) के सिद्धांत, जो एक स्थिर केंद्र और बहुरूप परिवृतीय अभिव्यक्तियों की मांग करते हैं, ऐसे वास्तविक तत्व हैं जिनको स्वीकार करके ही भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं की सही जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

शाश्वतता और प्रवाह, चिरपुरातन और चिरनवीन घटना के सिद्धांत पारलौकिक और लौकिक दोनों स्तरों पर भारतीय विचारधारा में समाविष्ट हो चुके थे। भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं का यही स्वरूप है। वे किसी भी समसामयिक विचार या विषय की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकती हैं, परंतु यह समसामयिकता शाश्वत अथवा कम से कम पुरातन काल से चली आ रही अविच्छिन्न धारा के अंग के रूप में ही व्यक्त होनी चाहिए। अनेकार्थता या अनेकरूपता इस प्रकार एक तार्किक परिणति बन जाती है। अनेक अन्य विद्याओं की भांति रंग विद्या में भी 'अव्यक्त' और 'वैविध्यपूर्ण अभिव्यक्तयों' के सिद्धांत का समावेश किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन की क्षेत्र सीमा के निर्धारण की दृष्टि से भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं की देशगत और कालगत रूप रेखाओं का यह सामान्य सर्वेक्षण आवश्यक था। प्रस्तुत अध्ययन में ऐसे कलारूपों का विवेचन करने का प्रयास किया गया है जिन्हें विशुद्ध रूप से न तो जनजातीय कहा जा सकता है और न ही नगरीय। संक्षेप में, इन्हें न तो लोक कला की श्रेणी में रखा जा सकता है और न ही शास्त्रीय श्रेणी में, यद्यपि इनमें दोनों ही तत्वों के समावेश के अनेक उदाहरण मिल जायेंगे।

भू-भौतिकीय परिवेश, खाद्य संग्रह और खेती के तरीकों के अनुरूप जीवन पद्धति; सामाजिक, आर्थिक ढांचा; धार्मिक, राजनैतिक गतिविधियों और साहित्यिक तथा रूपंकर कलाओं की परंपराओं का विकास – इन सबने मिलकर इन कलारूपों का निर्माण किया है और इन्हें प्रभावित कया है। प्रदर्शनकारी कलाओं की दो अन्य श्रेणियों के संदर्भ में भी उनकी ऐसी ही भूमिका रही है। ये दो श्रेणियां प्रस्तुत अध्ययन का विषय नहीं हैं। अवसर आने पर इन्होंने ग्रामीण और नगरीय स्तरों पर साहित्यिक विधाओं, रूपंकर कलाओं और प्रस्तुति को प्रभावित किया है और साथ ही इनका प्रभाव भी ग्रहण किया है। प्रस्तुति चाहे सामुदायिक स्तर पर (गैर-व्यावसायिक वर्गों द्वारा) की जाती हो अथवा व्यावसायिक रंगकर्मियों द्वारा, अभिव्यक्ति के इस माध्यम में विषय, रूप और शिल्प की दृष्टि से जो विविधता और बहुलता है उसके कारण विद्वानों ने विभिन्न रूपों का नामकरण असंख्य रीतियों से किया है। कुछ ने इन्हें लोक रंगमंच, लोक नृत्य या लोक नाटक कहा है तो अन्य विद्वानों ने इन्हें 'परंपरागत नृत्य नाटक' की संज्ञा दी है और, कुछ विद्वानों ने इन्हें लोकप्रिय ग्रामीण रंगमंच कहा है। लोक गाथा, गीत नाट्य (ओपेरा), नृत्य नाटक, प्रांगण रंगमंच, स्थलांतरणशील रंगमंच, शृंखला नाटक आदि उपश्रेणियां भी बनायी गयी हैं। श्रेणीकरण की सूची और पद्धति में और वृद्धि की जा सकती है। तथापि, इस स्तर पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि पिछले कुछ वर्षों के दौरान श्रेणीकरण के इन सभी प्रयासों के मूल में एक विशेष दृष्टिकोण के अस्तित्व की अस्पष्ट स्वीकृति है — एक ऐसे दृष्टिकोण की जो एक ओर इन कलारूपों को विशुद्ध जनजातीय या ग्रामीण सहभागिता से पृथक मानता है तो दूसरी ओर नृत्य रूपों की उस अत्यधिक शैलीकृत वैयक्तिक अभिव्यक्ति से भी भिन्न समझता है जिसे सामान्यतः 'शास्त्रीय' कहा जाता है और जिसके स्वरूप को प्रायः नगरीय मान लिया जाता है।

सर्वप्रथम हम कलारूपों की सूची इस दृष्टि से बना लें कि उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम क्या है। फिर इसे रंगकर्मियों के उस वर्ग या समुदाय से जोड़ने का प्रयत्न किया जाये जो इनमें से कुछ कलारूपों का प्रमुख पोषक और रक्षक रहा है।

इनमें प्रथम और सब से अधिक अग्रगण्य है गाथा रूप, जो मुख्यतः किसी साहित्यिक रचना पर आधारित होता है। आवश्यक नहीं है कि इस रचना का संबंध देश में लिखित साहित्य की परंपरा से ही हो। इसकी प्रस्तुति सामान्यतः एक कलाकार द्वारा की जाती है या कई व्यक्तियों द्वारा भी की जा सकती है या समवेतगान के साथ कोई एक व्यक्ति इसकी प्रस्तुति करता है। भारत के विभिन्न भागों में इसके अलग नाम हैं। राजस्थान की पाबूजी की पड़, मध्य प्रदेश का आल्हा ऊदल, महाराष्ट्र और गुजरात की हरिकथा, ओड़िसा की दस कथिया, उत्तर प्रदेश और पंजाबी की राम और कृष्णकथा, आंध्र प्रदेश की नर्राकथा, तमिलनाडु की हरिकथा आदि इस रूप के भिन्न भिन्न नाम हैं।

फिर, शृंखला नाटक या चमत्कार नाटक हैं जो राम, कृष्ण या दुर्गा की कथा के चारों ओर घूमते हैं और जिनकी प्रस्तुति गाथा की भांति एकल कलाकार द्वारा नहीं की जाती अपितु एक मंडली द्वारा परिदृश्य के रूप में की जाती है। इस श्रेणी में भारत भर की रामलीलाएं और कृष्णलीलाएं आती हैं जैसे बनारस, अयोध्या या अन्य भागों की रामलीला और मथुरा तथा वृंदावन की कृष्णलीला और रासलीला। इसी श्रेणी में स्थलांतरणशील रंगमंच तथा झांकियों के अनेक नाट्य रूप भी आते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे नाट्य रूप भी हैं जो जानबूझ कर और निश्चित उद्देश्य से इन दोनों महाकाव्यों को पवित्र गाथा के रूप में नहीं लेते अपितु स्थानीय संस्कृति के अंग के रूप में उन का निर्वाचन करते हैं। बहुधा इनकी विषय सामग्री महाकाव्यों और कृष्णकथा से भिन्न होती है और उन साहित्य विधाओं से ली जाती है जो विभिन्न क्षेत्रों में विकसित हुई हैं। गुजरात और महाराष्ट्र के भवाई और तमाशा रूप, तमिलनाडु, आंध्र और केरल के तेरुकूथु, वीथिनाटकम तथा ओत्तान थुल्लाल, उत्तर प्रदेश की नौटंकी, राजस्थान का ख्याल, कश्मीर का भांडजशन और बंगाल, ओड़िसा, असम तथा मणिपुर के यात्रा या जात्रा नाटक इसी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। इससे बहुत मिलते जुलते वे नाट्य रूप हैं जिन्हें कभी कभी नुक्कड़ नाटक (स्ट्रीट थियेटर) कहा जाता है और जो मंदिर या गांव के प्रांगण में अभिनीत होते हैं किंतु जो अत्यधिक परिष्कृत नाटक और नुक्कड़ रंगमंच के बीच की कड़ी हैं। उनकी संरचना साहित्यिक नाटक के अधिक निकट होती है, यद्यपि उसमें अपेक्षाकृत शिथिलता रहती है। उदाहरण के रूप में, असम के अंकिया-नाट, आंध्र के भामकलापम, तमिलनाडु के भागवतमेला और कर्नाटक के यक्षगान का उल्लेख किया जा सकता है। एक भिन्न वर्ग केरल के कुटियट्टम और कृष्णाट्टम का है। इनमें वे नृत्य या नृत्य नाट्य रूप भी जोड़ लिये जाने चाहिए जो कथित शब्द से कहीं अधिक अंग संचालन पर आश्रित होने के कारण अन्य नाट्य रूपों की अपेक्षा बहुत भिन्न प्रतीत होते हैं। छऊ नृत्य नाटक के सेराएकला, पुरुलिया और मयूरभंज के तीन रूप इसके सटीक उदाहरण हैं।

यह सूची संपूर्ण नहीं है। उदाहरण के लिए, हमने कठपुतली नाटक के विशाल क्षेत्र को (जिसके अंतर्गत दस्ताना, यष्टि तथा छाया कठपुतली और डोर-बंधी कठपुतली सम्मिलित हैं) स्क्रॉल अलंकरण और वर्णनात्मक नाटक तथा असंख्य अन्य रूपों को इस सूची में सम्मिलित नहीं किया है परंतु उदाहरणस्वरूप बनायी गयी यह सूची अपूर्ण होते हुए भी भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं के अध्ययन और विश्लेषण के लिए पर्याप्त होगी।

अब हम वंश परंपरा से चले आ रहे प्रशिक्षित कलाकारों के वर्ग समूह से प्रस्तुति की विभिन्न श्रेणियों का संबंध जोड़ने का प्रयास करें। सरसरी तौर पर देखने से भी यह स्पष्ट हो जायेगा कि इन रंगकर्मियों का संबंध जनजातीय समाज से नहीं है, अपितु ये ग्रामीण समुदाय के सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त, रामलीला, रासलीला और अंकिया-नाट को छोड़कर अन्य सभी नाट्य रूप अर्धव्यावसायिक या व्यावसायिक रंगकर्मियों द्वारा रक्षित निधि हैं और चाहे कुछ रंगकर्मियों के लिए ये जीविका का साधन न हों फिर भी इन्हें शौकिया मनोरंजनात्मक रंगमंच की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

आरंभ में हमने जनजातीय सामाजिक संरचना और ग्राम संरचना की चर्चा की थी। ग्राम समुदायों के विश्लेषण से प्रकट होता है कि इनमें से कुछ वर्ग पिछड़े वर्ग कहे जाते हैं, किंतु परंपरागत वर्ण व्यवस्था के अनुसार ये अनिवार्यतः शूद्रों की श्रेणी में नहीं आते। इन तथाकथित पिछड़े वर्गों में वैरागी, बीनकार, भवाया, गंधर्व, बाउल, गाजा और अन्य वर्ग सम्मिलित हैं। उपर्युक्त में से अनेक कलारूप इन समुदायों की विशेष रक्षित निधि हैं और प्रतीत होता है कि ये पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी ईस्वी तक के अन्य ग्रंथों से उल्लिखित अर्ध-व्यावसायियों और व्यावसायियों की वंश परंपरा में हैं। भवाई, तमाशा, ख्याल, नौटंकी, तेरुकूथु, वीथिनाटकम और भांड जशन के प्रस्तुतकर्ता इन्हीं वर्गों के हैं। परंतु ऐसा नहीं है कि प्रस्तुतकर्ताओं के समस्त वर्ग पिछड़े वर्गों के ही हैं। छऊ के कलाकारों में पुरुलिया के निर्धन वर्ग से लेकर मयूरभंज के वैश्य और क्षत्रिय तथा सेराएकला के राजकुमार तक सम्मिलित हैं। दूसरी ओर, भामकलापम, यक्षगान और कुटियट्टम की प्रस्तुति पूर्णतः नहीं तो अधिकांशतः ब्राह्मण जाति के या विशेष उपजातियों के कलाकारों द्वारा की जाती है। कुटियट्टम के संदर्भ में केरल के अंबलवासी इसके प्रतिनिधि उदाहरण हैं। वाराणसी की रामलीला और वृंदावन की रासलीला में कुछ भूमिकाएं चौदह वर्ष से कम आयु के बालकों द्वारा निभायी जाती हैं। मणिपुर में पूरी तरह तो नहीं किंतु, अधिकतर, रास और यात्रा के कलाकार क्षत्रिय हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है और जातियों तथा उपजातियों का जो वर्गीकरण किया गया है उससे स्पष्ट है कि नाट्य कार्यकलाप समाज के किसी एक वर्ग या उपवर्ग तक सीमित नहीं है और यद्यपि अधिकांश कलाकार व्यावसायिक या अर्धव्यावसायिक हैं किंतु उनमें पिछड़े वर्ग के रूप में परिगणित वर्गों के व्यक्तियों से लेकर ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों के व्यक्ति तक सम्मिलित हैं। संक्षेप में, सामाजिक स्तरबद्धता के लिए वह कोई त्रुटिहीन मानदंड सुलभ कराने में असमर्थ हैं। फिर भी

यह ध्यान में रखना उपयोगी होगा कि जहां अंतर्वस्तु और शिल्प के आधार पर विधाओं का विभाजन किया जा सकता है वहीं उन विशेष समुदायों के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया जा सकता है,जो विशेष नाट्य रूपों के पोषक और रक्षक रहे हैं। इन नाट्य रूपों का उनके क्षेत्रीय विभाजन,समाज के वर्ग या जाति विशेष से उन की संबद्धता तथा उनके साहित्यिक तत्व के संदर्भ में वर्गीकरण करने का प्रयास यहां किया गया है।

पुरातत्व और शिलालेख, साहित्य (इसमें संस्कृत का पुरावृत्त और रचनात्मक साहित्य दोनों सम्मिलित हैं), विशेषतः क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य और मध्ययुगीन संगीत ग्रंथों के माध्यम से इन नाट्य रूपों के ऐतिहासिक विकास क्रम की जानकारी भी मिल सकती है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी ईस्वी तक की कालावधि के संबंध में इस इतिहास का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। यह एक अत्यंत विशाल कार्य है जिसे प्रस्तुत अध्ययन की परिधि में करना संभव नहीं है। फिर भी, इस संदर्भ सामग्री पर एक सरसरी दृष्टि डालने से ही हमें विश्वास हो जायेगा कि इतिहास के अनेक युगों में इन नाट्य रूपों की निरंतरता बनी रही है और अपने को जीवित रखने की इनमें अपार क्षमता रही है। उनका उद्गम और विकास इतिहास के ऐसे काल में हुआ जो विदेशी आक्रमण, युद्ध, साम्राज्य के पतन, देशांतरगमन, छोटे छोटे राज्यों के उदय और घोर कट्टरतावाद तथा विरोध और असहमति के सामाजिक, धार्मिक आंदोलनों के प्रसार की घटनाओं से भरा पड़ा था। यद्यपि इन सब नाट्य रूपों के उद्गम और विकास का ठीक ठीक काल निर्देश संभव नहीं है, फिर भी अनेक रूपों के संबंध में काल निर्धारण संभव है। कुछ नाट्य रूप जैसे गाथा गीत का उद्गम वैदिक या उत्तर वैदिक काल में माना जा सकता है, कुछ अन्य रूपों की चौथी-पांचवीं शताब्दी ईस्वी के लौकिक संस्कृत के काल में और कुटियट्टम जैसे कुछ रूपों का 10वीं - 11वीं शताब्दी में और कई नाट्य रूपों का उद्गमकाल 1250 ईस्वी से 16वीं-17वीं शताब्दी तक माना जा सकता है, जो क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य का उद्भवकाल भी है। कुछ नाट्य रूप ऐसे भी हैं जो पचास या सौ वर्ष से अधिक पुराने नहीं हैं और उनका उदय या तो विशेष सामाजिक, राजनीतिक घटनाओं के प्रभाव से हुआ या सृजनशील कलाकार की निजी प्रतिभा के कारण। भारत में आज भी नये नाट्य रूप विकसित हो रहे हैं। यह प्रक्रिया नगरीय और ग्रामीण दोनों स्तरों पर चल रही है। नये नाट्य-रूप तथा पहले से चले आ रहे पुराने नाट्य रूप एक-दूसरे को समृद्ध भी कर रहे हैं।

इस विशाल संदर्भ सामग्री के आधार पर इन विधाओं के ऐतिहासिक विकास का पता चलाना यहां हमारा उद्देश्य नहीं है। अभी यह सामग्री एकत्रित, प्रलेखबद्ध और विश्लेषित भी नहीं की जा सकी है जो इस प्रकार के वस्तुपरक अध्ययन के लिए आवश्यक है। हमारा उद्देश्य मुख्यतः समकालीन अभिव्यक्तियों, भारत के अन्य भागों से मिलती जुलती अभिव्यक्तियों से उनके संबंध और किसी क्षेत्र विशेष में उन के पारस्परिक संबंध का अध्ययन करना है।

हमारा उद्देश्य यह भी नहीं है कि इनमें से प्रत्येक विधा के साहित्यिक तत्व, नाट्य संरचना, संगीतात्मक लय, अंग संचालन के स्वरूप, वेशभूषा और रूप सज्जा की शैलियों का विश्लेषण करके शिल्पगत और प्रविधिगत पक्षों का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया जाये। हां, कुछ विधाओं के प्रसंग में ऐसा प्रयास अवश्य किया गया है। प्रत्येक विधा के वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन की अपेक्षा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का अधिक प्रयास किया गया है जिससे कि एकत्व और अनेकता, अमूर्तीकरण तथा मूर्तीकरण, क्षेत्रों की पारस्परिक संबद्धता और क्षेत्र विशेष में विधाओं की पारस्परिक निर्भरता का स्पष्ट चित्र उभर सके। हमें आशा है कि इससे ही भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं की समृद्धि और रंग बिरंगेपन का प्रमाण मिल जायेगा और यह प्रकट हो जायेगा कि इन्हें एक ओर न तो मात्र जनजातीय या लोक कलाओं की श्रेणी में रखा जा सकता है और न ही दूसरी ओर मात्र कर्मकांडगत अथवा शास्त्रीय कलाओं की श्रेणी में। प्रस्तुत विवेचन में हमने एक ओर जनजातीय और कर्मकांडगत रीतियों से और दूसरी ओर संस्कृत नाटक की चली आ रही परंपरा से उनका संबंध दर्शाने का प्रयास किया है। क्षेत्रगत वर्गीकरण और सम्मिश्रणों को रेखांकित करने का प्रयास भी किया गया है। ऐसा इस उद्देश्य से किया गया है कि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में विधाओं की गतिशीलता की भारतीय विशिष्टता का संकेत दिया जा सके। कुछ स्थितियों में भू-भौतिक निकटता और साहित्यिक परंपराओं के आधार पर वर्गीकरण संभव है। और कभी यह भक्ति आंदोलन जैसे किसी ऐतिहासिक आंदोलन के अवशेष के रूप में है जिसका अस्तित्व भारत के कुछ भागों में आज भी बना हुआ है किंतु, अन्य भागों में लुप्त हो चुका है। वृंदावन और मणिपुर की रासलीला के रूप इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। साथ ही, नाट्य परिदृश्य

इतना व्यापक है कि उसमें पौराणिक प्रसंगों, किंवदंतियों, महाकाव्यों और गीत गोविंद जैसी रचनाओं पर आधारित इतिहास तथा राजनीतिक घटनाओं पर आधारित नितांत नतून विषयों का समावेश दृष्टिगत होता है।

अंतर्वस्तु एक लचीले शिल्प के साथ जुड़ी रहती है जिसमें चाहे जब और जहां स्थानीय और सामयिक स्थितियों के अनुरूप स्वयं को बदलने की क्षमता होती है। विषय एक स्तर पर शाश्वतता से जुड़ा हो सकता है, किंतु उसमें सदा ही स्थानीयता और समकालीनता के तत्व भी उपलब्ध होंगे। गाथा गीत हो या कठपुतली नृत्य या नुक्कड़ रंगमंच अथवा कुटियट्टम, भामकलापम और यक्षगान जैसे अत्यधिक संरचनाबद्ध कलारूप हों, अर्थ के ये दोनों स्तर नाट्य संरचना में गुंथे रहते हैं।

अधिकांश रूपों में काल और देश की अन्वितियों के सोद्देश्य निषेध में और इंद्रध्वज पूर्व रंग की प्रारंभिक परिपाटियों, कथानक तथा उपकथानक में नाटक के विभाजन, संधियों के प्रयोग, नायक-नायिका तथा प्रतिनायक जैसे चरित्रों और सूत्रधार तथा विदूषक की भूमिकाओं के समावेश में संस्कृत नाटक की संरचनाओं और रीतियों के स्पष्ट चिह्न मिलेंगे। विभिन्न चरणों को संयोगित करने के लिए और समवेत गान के रूप में सूत्रधार को एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। गत और वर्तमान समय के इन दो आयामों को जोड़ने का काम विदूषक से लिया जाता है। वह देवताओं और मनुष्यों के संसार को स्वच्छंदता और प्रखर नूतन कौशल के साथ एक धरातल पर ले आता है जिससे आसपास के वर्तमान जीवन के भौतिक स्तर पर जुड़े रहने का वातावरण बन जाता है। यद्यपि संस्कृत रंगमंच का अत्यधिक व्यवस्थित देशगत विभाजन अधिकांश विधाओं के वर्तमान रूपों में लुप्त हो गया है, फिर भी संस्कृत रंगमंच के कक्ष विभाग की कुछ रूढ़ियां स्थूल रूप से उनमें आज भी दृष्टिगत हो जायेंगी। शैलीकृत अंग संचालन, विशेषतः 'हस्ताभिनय' भी अधिकांश विद्यार्थियों में नहीं है और यदि है तो न्यूनतम है। इस दृष्टि से कुटियट्टम, भामकलापम और भागवतमेला एक श्रेणी में रखे जा सकते हैं। छऊ के विभिन्न रूप – चाहे पुरुलिया का नाटकीय रूप हो या सेराएकला का गीतात्मक रूप अथवा मयूरभंज का नृत्य नाटक महाकाव्य — एक भिन्न श्रेणी में रखे जायेंगे। इनमें शब्द की नहीं, अपितु अंग संचालन (विशेषकर धड़ के नीचे के अंगों के संचालन) की प्रधानता होती है और अभिव्यक्ति के विशिष्ट सिद्धांतों से युक्त एक सुनिश्चित अंग संचालन प्रणाली होती है।

भारत के विभिन्न भागों के कठपुतली नृत्य रूपों का पुनर्वर्गीकरण एक ओर छाया, छड़ी, दस्ताना और डोर आदि माध्यमों के आधार पर और दूसरी ओर उनकी विषय वस्तु तथा क्षेत्र विशेष के जीवंत नृत्य या नाट्य रूपों से उनके संबंध के आधार पर भी किया जा सकता है। कर्नाटक का यक्षगान और कठपुतली नाटक तथा गोम्बेयट्ट इसके उदाहरण हैं।

एक अन्य वर्ग चर्मपत्र-अलंकरण नाटकों (स्क्रोज प्लेज) और वर्णनात्मक गाथा गीतों का है जिसमें अंग संचालन के माध्यम से गाये गये या वर्णित शब्द का अभिनय किया जाता है।

एक वर्ग और श्रेणी में होते हुए भी तथा दृष्टिकोण, आत्मा और विषय वस्तु की समानता के बावजूद प्रत्येक रूप की अपनी विशिष्ट शैली और अपना विशिष्ट शिल्प है। इसके कारण प्रत्येक रूप का अपना एक अनुपम और स्वायत्त व्यक्तित्व है जिनका अपना एक आंतरिक जीवन और संप्रेषण की अपनी बाह्य पद्धति है।

अंतिम प्रश्न यह है कि दर्शक-श्रोता वर्ग कौन है और किस प्रकार यह वर्ग जनजातीय और ग्रामीण, नृत्य और सामुदायिक गायन के दर्शक-श्रोता वर्ग से भिन्न है। जनजातीय और ग्रामीण नृत्य और गायन में सहभागी, अभिनेता-नर्तक, गायक और दर्शक-श्रोता में कदाचित ही कोई अंतर होता है। ये सभी सक्रिय रूप से उसमें सम्मिलित होते हैं। परंतु इन कलारूपों में जहां विशाल दर्शक-श्रोता समूह सक्रिय प्रतिक्रिया के माध्यम से सहभागी बनता है, वहीं अभिनेता-नर्तक संगीतकार तथा दर्शक-श्रोता के बीच स्पष्ट अंतर बना रहता है।

आशा है कि इस स्थूल वर्गीकरण से स्पष्ट हो जायेगा कि स्थिति कितनी जटिल है। आधुनिक दृष्टि से देखने पर यह स्थिति सहज और अव्यवस्थित प्रतीत होगी, परंतु इसकी अपनी एक संरचना है। आगे के पृष्ठों में इनमें से कुछ विधाओं का देशगत और कालगत संदर्भों में विवेचन और विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

क्षेत्रगत व्याप्ति के अनुसार विधाओं पर विचार किया जा सकता है और प्रत्येक क्षेत्र की विधाओं की अलग अलग चर्चा की जा सकती है। यह भी संभव है कि उनके उद्गम और विकास के कालक्रम के अनुसार इन पर विचार करने का

प्रयास किया जाये और क्षेत्रगत सीमाओं को तोड़ने वाली उनकी शैलीगत विशेषताओं के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया जा सकता है और उन पर एक साथ विचार किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक दृष्टिकोण का अपना औचित्य है परंतु, जैसा कि अभी अभी कहा जा चुका है, पहले दृष्टिकोण का यहां अनुसरण नहीं किया गया है क्योंकि क्षेत्रीय आधार पर इस प्रकार का कुछ कार्य पहले ही हो चुका है। जब तक कि कालक्रम और इतिहास की सम्यक जानकारी प्राप्त न कर ली जाये और मूलभूत संदर्भ सामग्री का विश्लेषण न कर लिया जाये तब तक दूसरी पद्धति का प्रयोग करने में अपार कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। और इतना बड़ा कार्य किसी एक व्यक्ति के वश का नहीं है। अतः सुविधा के विचार से यहां तीसरी पद्धति का ही अनुसरण किया गया है, किंतु पहली दो पद्धतियों को भी सामने रखा गया है। इस पद्धति से काम लेना आवश्यक भी था, क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य एक ओर किसी एक क्षेत्र के विभिन्न कलारूपों के तो दूसरी ओर विभिन्न क्षेत्रों के कलारूपों के पारस्परिक संबंधों का निर्देश करना है। एक दूसरे से सर्वथा असंबद्ध और भिन्न प्रतीत होने वाले नाट्य रूपों और अनुभूतियों के गड्ड-मड्ड परिदृश्य से सरोकार रखने वाले इस अध्ययन में विषयगत संगति हमारे विचार में इसी प्रकार आ सकती है।

हमारा विश्वास है कि इस प्रकार के प्रयास से ही, चाहे वह कितना ही स्थूल क्यों न हो, प्रदर्शनकारी कलाओं की परंपराओं का चित्र सामने आ सकता है और साथ ही शाश्वतता तथा समकालीनता, निरंतरता और परिवर्तन, एकता और अनेकता की प्रक्रियाओं का भी निर्देश किया जा सकता है जो भारत की सांस्कृतिक घटना की विशिष्टताएं हैं।

2

कुटियट्टम

भारत की सांस्कृतिक परंपराओं की यह विशेषता है कि इतिहास के किसी विशेष युग में देश के किसी भाग में जन्मे आंदोलन, कलारूप या शैली को देश के किसी सर्वथा भिन्न दूरस्थ प्रदेश में फलने फूलने का अवसर मिलता है। साहित्य और रूपंकर तथा प्रदर्शनकारी कलाओं के क्षेत्रों में भारत के इतिहास के सभी युगों में, विशेषकर 10वीं शताब्दी से इस घटना के प्रचुर प्रमाण सदा से मिलते रहे हैं। इस घटना की छानबीन करते हुए पता चलेगा कि अनेक रूप और शैलियां अपनी क्षेत्रीय और कभी कभी स्थानीय विशिष्टता के बावजूद दूसरे क्षेत्रों के मिलते जुलते रूपों और शैलियों से तथा उसी क्षेत्र के अन्य कला रूपों से असंदिग्ध रूप से संबद्ध हैं।

उदाहरण के रूप में हम केरल को लें। यह सर्वविदित है कि कथकलि को छोड़कर कुटियट्टम की परंपरा और 'गीत गोविंद' का सस्वर पाठ और गायन केरल के दो उत्कृष्ट रूप माने जाते हैं। परंतु दोनों का विश्लेषण करने से प्रकट होता है कि यद्यपि अंतिम परिणत रूप की प्रकृति क्षेत्रीय है तथापि उसके उद्गम स्रोत केरल के बाहर ढूंढ़ने होंगे। साथ ही, केरल और केरल के बाहर के कुछ अन्य रूपों की भांति ये दोनों रूप भी ऐसे नाट्य परिदृश्य के उदाहरण हैं जो अनेक स्तरों पर गतिशील रहता है और इस प्रकार अपने भीतर शाश्वतता तथा साथ ही 'वर्तमान' अर्थात् समकालीनता के तत्व भी समाहित किए हुए है।

संस्कृत रंगमंच की अंतर्वस्तु और संरचना के कुछ मूलभूत तत्व जिन रूपों में सुरक्षित रह पाए हैं उनमें कुटियट्टम सबसे प्रमुख है। दसवीं शताब्दी से अर्थात् उस समय से जब संस्कृत की दी हुई एकता छिन्न भिन्न हो चुकी थी और क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्य का विकास होने लगा था, भारत के विभिन्न भागों में विकसित होती हुई नाट्य परंपराओं का पूर्वसूचक और प्रवर्तक भी कुटियट्टम ही है। इसकी रचना में अनेक तत्वों का समावेश है। इसमें संस्कृत रंगमंच की अंतर्वस्तु और शिल्प की कुछ वे रूढ़ियां भी हैं जो यथावत् ले ली गई हैं और कुछ अन्य जो पूर्णतः क्षेत्रीय थे और जो केरल के विशिष्ट जनजातीय या कर्मकांडगत स्रोतों से गृहीत किए गए हैं। जहां विद्वानों का यह कथन सही है कि कुटियट्टम संस्कृत रंगमंच की परंपरा का एकमात्र अवशेष है, वहीं यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुटियट्टम की संबद्धता असंदिग्ध रूप से ऐसी परंपराओं से भी है जिनका संस्कृत रंगमंच से या तो कोई संबंध नहीं है या यदि है भी तो बहुत थोड़ा।

इस अत्यधिक समुन्नत कलारूप की अंतर्वस्तु और शिल्प के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि कुटियट्टम के विकास के ठीक पहले के समय के संस्कृत रंगमंच की स्थिति का एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत कर दिया जाये। उसके विकास को कविता, नाटक, नृत्य और संगीत के जिन क्षेत्रीय संप्रदायों ने प्रभावित किया है उनकी ओर ध्यानाकृष्ट करना भी आवश्यक है।

यह सर्वविदित है कि नाटककार कालिदास, भवभूति और हर्ष सभी उत्तर भारत के थे। परंतु भास के नाटकों की पांडुलिपि की खोज से यह सर्वमान्य धारणा बदल गयी कि संस्कृत रंगमंच की परंपरा केवल उत्तर भारत तक सीमित थी। इस शताब्दी के आरंभ से अनेकानेक पाडुंलिपियों का पता चला है जिससे प्रमाणित हो जाता है कि संस्कृत रंगमंच की परंपरा बहुत पहले ही केरल में पहुंच चुकी थी और इस सामग्री की सहायता से लगभग 800 वर्ष के संस्कृत रंगमंच का अविच्छिन्न इतिहास पुनर्निर्मित किया जा सकता है। कदाचित यह संयोग मात्र नहीं है कि 'नाट्यशास्त्र' के सर्वोत्कृष्ट भाष्यार का भाष्य केरल में उपलब्ध हुआ है।

हम जानते हैं कि भरत ने जिस संस्कृत रंगमंच का वर्णन किया था उसने कुछ गौण नाट्य रूपों को जन्म दिया था जो उपरूपक कहे जाते थे। हमें यह पता है कि हर्ष का समय आते आते संस्कृत नाटक का एक रूप बहुत लोकप्रिय हो चुका था जो संगीत-नाटक या संगीतक कहा जाता था। इससे प्रकट होगा कि कुटियट्टम का संस्कृत रंगमंच की इन घटनाओं से सीधा संबंध था।

भारत के सभी भागों में समान रूप से विकसित होने वाले संस्कृत रंगमंच के सामान्य इतिहास के साथ साथ हमें केरल के इतिहास पर भी विचार करना होगा। प्रागैतिहासिक काल से ही केरल व्यापार का सबसे अधिक सक्रिय केंद्र रहा है। मिस्र, अरब, काबुल, रोम और चीन से उनके व्यापारिक संबंध थे। यह असंभव है कि सागौन, सफेद चंदन की लकड़ी, मसाले और अन्य वस्तुओं का निर्यात करते हुए इन प्राचीन सभ्यताओं से उनका कोई संपर्क नहीं रहा होगा। निस्संदेह केरल एक ओर भारतीय विरोधाभास का भी बहुत उत्तम उदाहरण है, अर्थात् केरल में एक ओर विदेशी संस्कृतियों से संबंध स्थापित करने और उनसे विचार विनिमय करने की क्षमता है तो दूसरी ओर एक ऐसी कट्टरता पर टिके रहने की शक्ति जिसे भेदा नहीं जा सकता। जहां केरल के सांस्कृतिक जीवन के कुछ पक्ष अत्यधिक पुरातनवादी और रूढ़िनिष्ठ रहे वहीं कुछ अन्य पक्ष ऐसे भी थे जिनमें संप्रेषण और अनुकूलन की बहुत क्षमता थी। समानांतर चलने वाली ये प्रवृत्तियां केरल के सांस्कृतिक इतिहास के अनेक पक्षों में देखी जा सकती हैं, यद्यपि उसकी कलात्मक परंपराओं में ये सबसे अधिक मुखर रही हैं।

मेगास्थेनीज़ ने चौथी शताब्दी ई.पू. के केरल का एक विशद विवरण हमारे लिए छोड़ा है। इससे भी पहले 'रामायण' और 'महाभारत' में केरल की समुन्नत संस्कृति के उल्लेख मिलते हैं। अशोक की राजाज्ञाओं में केरलपुत्र का उल्लेख मिलता है जिससे अभिप्राय संभवतः चेर राजवंश का है। चेर राजवंश केरल का सबसे शक्तिशाली राजवंश रहा है जिसने हजार वर्षों से अधिक समय तक देश पर शासन किया। यद्यपि 7वीं और 8वीं शताब्दी में इस राजवंश का पतन हो चुका था, फिर भी ऐसा लगता है कि 9वीं - 10वीं शताब्दी तक इस राजवंश ने दूसरे सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। इस द्वितीय साम्राज्य की स्थापना कुलशेखर ने की थी। उसके उत्तराधकारियों ने अपने नाम के साथ 'पेरुमल' शब्द जोड़ दिया जिसका अर्थ है राजा या सम्राट। प्रागैतिहासिक काल की भांति इस काल में भी केरल अब्बासी, बाइजेंटाइन कुस्तुनतुनया, होली रोम साम्राज्य, तंग चीन, बगदाद, कंबोडिया और सुमात्रा के साथ अपने व्यापारिक संबंधों का विकास करता रहा। विशाल नगर समूहों का आविर्भाव हुआ, विशेषकर वांसीमुजीरीज क्षेत्र में। महोदयपुरम राजधानी का नया नाम था। द्वितीय चेर वंश में सम्राट कुलशेखर वर्मन को कुटियट्टम परंपरा का प्रणेता माना जाता है। वह 'सुभद्रा धनंजयम' और 'ताप्तीसंवरणम' नामक दो नाटकों का रचयिता था। प्रदेश के राजनीतिक इतिहास, पड़ोसी तमिल राज्यों से संबंध और बाह्य संसार से संपर्क बनाये रखने की योग्यता ने निश्चय ही संस्कृत रंगमंच के पुनरुर्ज्जीवनदाता और सुधारक के रूप में इस सम्राट की सृजनात्मक क्षमताओं को प्रभावित किया था।

केरल के राजनीतिक इतिहास के साथ साथ उसके सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है, विशेषकर इसलिए कि इसने कलात्मक परंपराओं और प्रस्तुति को प्रभावित किया है और आज भी प्रभावित कर रहा है।

केरल समाज की जटिल संरचना पर यहां विचार करना संभव प्रतीत नहीं होता। फिर भी यह संकेत करना आवश्यक है कि कुटियट्टम जैसे रूपों के विकास का समाज की कठोर संरचना से उतना ही सीधा संबंध है जितना कि प्रकटतः श्रेणीबद्ध और पृथक्करणशील दिखाई देने वाली वर्गबद्धता के भीतर की गतिशीलता और परिवर्तन की आंतरिक व्यवस्था से। यहां केवल एक तथ्य का उल्लेख आवश्यक है और वह यह कि एक ओर नंबूदरियों और नायरों की बीच संबंध के बारे में है तो

दूसरी ओर चाक्यरों और नंबूदिरियों के बीच संबंध के बारे में। ब्राह्मण केरल में प्रवासी थे और बहुत पहले ही उन्होंने सत्ता प्राप्त कर ली थी। शासक वंश के राजकुमार क्षत्रिय बना दिये गये थे। चोलों के साथ निरंतर युद्ध होते रहने के परिणामस्वरूप योद्धावर्ग का आविर्भाव हुआ जिसे नायर या नाइर कहा गया। परंतु नंबूदरियों, नायरों, ब्राह्मणों और क्षत्रियों में परस्पर पर्याप्त सामाजिक संबंध थे : सबसे बड़े पुत्र को छोड़कर नंबूदरियों के अन्य पुत्र नायर स्त्री से विवाह कर सकते थे। चाक्यर वंश के व्यक्ति इसी सामाजिकं संरचना से संबद्ध हैं और उनका उद्गम केरल के प्राचीन इतिहास में भी ढूंढ़ा जा सकता है। यह एक रोचक तथ्य है कि चाक्यर अंबल (मंदिर में रहने वाले) जाति के हैं और ब्राह्मणों तथा नायरों के बीच का एक वर्ग है। जहां अंबलवासी मंदिर में सेवक के रूप में काम करते हैं वहीं चाक्यर एक विशेष उपजाति है। यदि किसी नंबूदरी स्त्री पर व्यभिचार का संदेह होता है तो वह निलंबित कर दी जाती है और जब तक वह निर्दोष या दोषी सिद्ध नहीं हो जाती तब तक के लिए वह पत्नी के रूप में मिले विशेषाधिकारों से अस्थायी रूप से वंचित कर दी जाती है। समुदाय के गुरुजनों द्वारा दोषी घोषित हो जाने पर वह बहिष्कृत कर दी जाती है। यदि अपराध करने की तारीख और बहिष्कृत होने की तारीख के बीच कोई पुत्र उत्पन्न होता है तो वह चाक्यर वंश का मान लिया जाता है और यदि पुत्री हो तो वह नांग्यार मानी जाती है। चाक्यर वंश का प्रारंभ इन्हीं सामाजिक प्रथाओं में निहित है। ये भरत के इस सिद्धांत को प्रमाणित करती हैं कि रंगमंच सामाजिक बाधाओं को तोड़ता है और यह पांचवां वेद है जो सब के लिए है चाहे वे किसी भी जाति और विश्वास के हों। जातिगत सीमाओं का अतिलंघन करने और एक कठोर सामाजिक संरचना में संप्रेषण का माध्यम बनने की दिशा में कलाओं की जो भूमिका है उस पर इस समाज शास्त्रीय तथ्य से बहुत प्रकाश पड़ता है।

चाक्यर वंश का प्रारंभ कदाचित संस्कृत-पूर्व काल से या तमिल गौरवग्रंथ 'शिलप्पादिकरम्' के काल से माना जा सकता है। इस प्रकार कुटियट्टम के प्राचीनतम नाटकों की रचना और चाक्यरकुट्टु के विकास का एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था से स्पष्ट संबंध है, जो एक विशेष वर्ग के व्यक्तियों को नाट्य व्यवसायी मानती थी। एक और महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था का उल्लेख करना भी आवश्यक है और वह है नट्टुकुलम अर्थात् गांव की चौपाल।

इस संक्षिप्त विवरण में केरल के सामाजिक और आर्थिक जीवन के अन्य पहलुओं का भी समावेश किया जा सकता है जिन्होंने निस्संदेह कुटियट्टम के विकास पर, विशेषकर विदूषक की भूमिका पर अपना प्रभाव छोड़ा है। परंतु इन पर कुटियट्टम की संरचना का विश्लेषण करते समय विचार किया जायेगा।

अब केरल के सामान्य इतिहास पर ध्यान दिया जाये जो कुटियट्टम जैसे नाट्य रूप के साहित्यिक और नाट्यगत गुणों को समझने के लिए अत्यावश्यक है।

यद्यपि मलयालम भाषा के उद्गम को लेकर बहुत वाद-विवाद हुआ है, तथापि अब यह मान लिया गया है कि 'तोट्टम' मलयालम की प्राचीनतम रचनाएं थीं और इनका समय केरल में तमिल या संस्कृत के प्रसार के पहले है। तोट्टम या गीत, गाथा-गीत या गान मौखिक कविता की परंपरा में थे और मलयालम के विकास पर उनका प्रभाव सदा ही बना रहा। यह प्रभाव उस समय भी बना रहा जब मलयालम का तमिल से या बाद में संस्कृत से संपर्क स्थापित हुआ। चेर राजवंश के पहले दो चरणों में तमिल, या यदि अधिक ठीक शब्द का प्रयोग करना चाहें तो चेंतमिल, राजभाषा थी। इस काल की दो सर्वोत्कृष्ट कृतियां हैं – 'पतित्रुपट्टु' (जो गाथा काव्य है और जिसमें चेरवंश की दस पीढ़यों का स्तुतिगान किया गया है) और प्रसिद्ध कृति 'शिलप्पदिकरम्' जिसे डा. पी. नायर और डा. मीनाक्षी सुंदरम् जैसे विद्वानों ने राजा चेंकुतुवन के भ्राता इलंगो अडिगल की रचना माना है। राजा चेंकुतुवन का काल दूसरी शताब्दी माना जाता है। इसलिए प्राचीन मलयालम और तमिल का विकास साथ साथ ही आदि द्रविड़ बोली से हुआ होगा। परंतु चूंकि राज्य की राजभाषा चेंतमिल हो गयी थी, अतः दूसरी और 7वीं शताब्दी के बीच के काल में दोनों भाषाओं का बहुत सम्मिश्रण हुआ। तमिल-मलयालम मिश्रण की इस स्थिति में एक नये तत्व अर्थात् संस्कृत का प्रवेश हुआ। मलयालम और संस्कृत के योग से एक अन्य मिश्र-भाषा रूप का आविर्भाव हुआ जो मणिप्रवाल कहलाया। मणि (मलयालम) का अर्थ है लाल और प्रवाल (संस्कृत) का अर्थ है मूंगा। कुटियट्टम के पहले नाटकों का लेखनकाल वही है जो केरल में मणिप्रवाल साहित्य का।

अतः हमें स्मरण रखना चाहिए कि जिस समय कुलशेखर ने अपने नाटक लिखे तब तक केरल की भाषा और साहित्य

में अनेक समानांतर घटनाएं घट चुकी थीं। आदिम मलयालम कविता, उसके गाथा गीत और गान शताब्दियों तक फूलते-फलते रहने वाले चेंतमिल साहित्य की समृद्ध परंपराओं का अंश थे। साथ ही संस्कृत विद्या और हिंदू, बौद्ध तथा जैन विचारधाराओं (जो केरल में बहुत पहले पहुंच चुकी थीं) के अनेक संप्रदाय भी थे। वैदिक, बौद्ध और जैन विचारधारा के अनेक विद्यालयों और विहारों की स्थापना हुई। आठवीं शताब्दी तक केरल संस्कृत को इतना आत्मसात् कर चुका था कि अनेक विद्याओं के ग्रंथ संस्कृत में लिखे जाते थे। व्याकरण, भाषाशास्त्र, दर्शन (शंकर सहित), खगोल शास्त्र, विज्ञान, वास्तुकला, मूर्तिकला और संगीतशास्त्र पर छठी और 16वीं शताब्दी के बीच के काल में केरल में लिखे गये अनेक ग्रंथों से यह सिद्ध हो जाता है। ये ग्रंथ मलयालम लिपि में लिखे गये थे, किंतु इनकी भाषा संस्कृत थी। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि दो कुटियट्टम नाटकों के रचयिता कुलशेखर की रचनाओं में केरल की तत्कालीन स्थिति ही प्रतिबिंबित हुई है, जो सामाजिक और सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार की अनेक धाराओं के सम्मिश्रण का एक अनुपम चित्र प्रस्तुत कर रही थी। इनमें से कुछ धाराएं तो केरल के बाहर की परंपराओं से जुड़ी हुई थीं और कुछ वे थीं जो संपूर्ण रूप से क्षेत्रीय थीं।

अन्य कलाओं, विशेषकर वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत के विकास से संबंधित घटनाएं कुटियट्टम के विकास को समझने के लिए प्रासंगिक हैं। यद्यपि वास्तुकला की बहुत पुरानी कृतियां अब शेष नहीं रह गयी हैं तथापि रंगमंच संबंधी स्थापत्य के बहुत बाद के नमूनों में भी नाट्यशास्त्र में वर्णित रंगमंचीय स्थापत्य की विशेषताएं देखी और पहचानी जा सकती हैं। जहां तक मंदिरों की वास्तुकला का संबंध है केरल ने द्रविड़ शैलियों का अनुसरण किया है। इस दिशा में सबसे प्रामाणिक योगदान गोलाकार मंदिर का है, जिसका विवेचन छठी शताब्दी के बाद के संस्कृत ग्रंथों में किया गया है। स्थापत्यकला की यह विशेषता केरल की अनेक जनजातियों और गांवों की अपनी तथा देशज विशेषता है। दसवीं शताब्दी के और विशेषकर 13वीं और 14वीं शताब्दी के भग्नावशेष वास्तुकला के क्षेत्रीय रूप की प्रतिनिधि विशेषताओं के सूचक हैं। कुटियट्टम की परंपरागत रंगशाला कुट्टंबलम जहां एक ओर बृहतर भारतीय या संस्कृत परंपरा के समानुरूप है, वहीं दूसरी ओर उसका एक भिन्न, अनोखा, क्षेत्रगत स्वरूप भी है। कुटियट्टम की प्रस्तुति की चर्चा करते समय इस पक्ष पर कुछ विस्तार से विचार किया जायेगा। दसवीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक के ग्रंथों में रंगशाला-निर्माण संबंधी रूपरेखाओं के विस्तृत विवरण मिलते हैं और इनसे केरल की वर्तमान संरचनाओं, विशेषकर त्रिचुर के वटक्कुनथन मंदिर की संरचना का सहसंबंध निश्चित किया जा सकता है। 'शिलप्पदिकरम्' और 'पतित्रुपट्टु' दोनों में ही कविता, संगीत और नृत्य के विषय में मूल्यवान प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है। पंद्रहवीं-16वीं शताब्दी में 'गीत गोविंद' के आगमन से पहले केरल में जो संगीत-रूप प्रचलित थे उनकी तमिलनाडु की संगीत/संस्कृति से बड़ी समानता थी। कालांतर में उसने अपनी विधियां विकसित कीं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण वह गायन शैली है जिसका प्रयोग आज कथकलि के लिए किया जाने लगा। कुटियट्टम परंपरा में विशुद्ध पाठ शैलियां (जिनके स्रोत वैदिक उच्चारण पद्धति में ढूंढ़े जा सकते हैं) और कर्नाटक संगीत के रागों – दोनों का ही उपयोग किया जाता है। कुटियट्टम के अनेक रागों की कर्नाटक संगीत के रागों में बहुत समानता है। इसके अतिरिक्त मलयालम के साहित्यिक ग्रंथों में नृत्य के अनेक रूपों का वर्णन है और सूक्ष्म विश्लेषण करने पर इनमें से कुछ रूपों और केरल की प्रचलित नृत्य परंपराओं के संबंध का पता लगाया जा सकता है। अब तक संबंधित क्षेत्र के विद्वानों ने ऐसा प्रयास नहीं किया है।

राजा कुलशेखर अपने नाट्य लेखन में उन विभिन्न और समानांतर धाराओं से अवश्य प्रभावित हुआ होगा जो केरल के सांस्कृतिक विकास का अभिन्न अंग थीं। यद्यपि निर्णायक रूप से यह सिद्ध नहीं हो सका, कि वह संस्कृत साहित्य के उस विपुल भंडार से परिचित था जो केरल के बाहर उपलब्ध था। फिर भी यह मानना युक्तियुक्त होगा कि वह 'मत्तविलासम्' तथा 'भगवदज्जुकियम्' के रचयिता पल्लव राजा महेंद्रविक्रम या वर्मन की कृतियों से अनभिज्ञ नहीं था। हर्ष के दो नाटक 'नागानंदम्' और 'रत्नावली' भी लोकप्रिय थे और भारत के विभिन्न भागों में पहुंच चुके थे। संभव है कि भास के नाटक भी पल्लव राजाओं के दरबार में अभिनीत हुए हों। 'अवंती-सुंदरीकथा' के भरतवाक्यम के अनुसार मातृदत्त दंडिन का मित्र था। दामोदरगुप्त के 'कुट्टिनिमट्टम' में 'रत्नावली' की प्रस्तुति का विशद वर्णन है और यह कृति भी संभवतः राजा कुलशेखर द्वारा कुटियट्टम नाटकों के लिखे जाने के पूर्व केरल पहुंच चुकी थी। सर्जनात्मक कृतियों का भारत के एक भाग से दूसरे दूरस्थ भाग में पहुंचना ऐसी अद्भुत और विशिष्ट घटना है जो भारत में बार बार घटती रही है।

अत: यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कुटियट्टम की विशेषताओं से संपन्न माने गये पहले दो नाटकों के रचयिता ने जहां अपनी रचनाओं में संस्कृत साहित्य के अनेक तत्वों का समावेश किया वहीं उन्हें ऐसा स्थानीय रंग और ऐसी विशिष्ट शैली भी दी जिसने उनके स्वरूप को अत्यधिक क्षेत्रनिष्ठ कर दिया। यद्यपि कोई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, किंतु कहा जाता है कि तोलन नामक एक ब्राह्मण विद्वान ने राजा की सहायता की थी। आर.वी. पोदुवल और कुंजुन्नि राजा जैसे विद्वान इस बात से सहमत हैं कि विदूषक के माध्यम से चार पुरुषार्थों के हास्यानुकरण के लिए संस्कृत नाटक में स्थानीय भाषा का प्रयोग, इन नाटकों की प्रस्तुति को केवल चाक्यर समुदाय तक सीमित करना और नाटकों के अभिनय के लिए विस्तृत कार्यविधियां निश्चित करना राजा का नहीं, अपितु तोलन का ही योगदान था। इन तत्वों के समावेश से एक ऐसी स्वायत्त विधा का आविर्भाव हुआ जो एक स्तर पर जीवित रूप से संस्कृत रंगमंच से जुड़ी हुई थी तो दूसरे स्तर पर स्थानीय परंपराओं से भी जुड़ी हुई थी। विदूषक के माध्यम से स्थानीय भाषा के प्रवेश तथा चारों पुरुषार्थों की खिल्ली उड़ाने की स्वच्छंदता के कारण समकालीनता का प्रबल पुट भी आ गया।

कालांतर में 12वीं शताब्दी के आसपास कुटियट्टम की परिपाटी के फलस्वरूप ऐसी अनेक शास्त्रीय पुस्तकें लिखी गयीं जिनमें प्रस्तुति की विधियों और सिद्धांतों का विवेचन तथा निर्धारण किया गया था। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं — मणिप्रवाल में लिखी गयी 'अट्टप्रकारम्' और 'क्रमदीपिका'। पहली पुस्तक में अविरत कथा के रूप में अभिनय विधियों के ब्यौरे दिये गये हैं और पद्यों की अर्थगत व्याख्या की गयी है। नाटक की अंतर्वस्तु का भंगिमाओं और चेष्टाओं के माध्यम से अभिनय करने में अभिनेता की सहायता करने के लिए यह पुस्तक लिखी गयी थी। दूसरी पुस्तक में नाटकों के मंचन से संबंधित सिद्धांतों और विधियों का निर्धारण किया गया है तथा गीत, नृत्य, राग और अन्य पक्षों का सैद्धांतिक विवेचन किया गया है।

एक और संबद्ध घटना थी चाक्यर कुट्टु का आविर्भाव जो या तो कुटियट्टम से ही निकला हुआ एक रूप था या समानांतर विधा के रूप में विकसित हुआ था। चुनी हुई कहानियों की आख्यायिकाएं संकलित की गयीं जिन्हें बाद में प्रबंध कहा गया। प्रबंध कुट्टू निस्संदेह अब चाक्यर की कथावाचन कला का द्योतक है। साहित्यिक रचनाओं की भाषा सदा ही संस्कृत थी और यह साहित्य अधिकांशत: पौराणिक कथाओं पर आधारित था। 'भरत प्रबंध' और 'रामायण प्रबंध' इसके प्रतिनिधि उदाहरण हैं। कथावाचन अधिकांशत: अभिनेता का प्रपठन-कौशल और उपयुक्त भंगिमाओं, मेधा तथा उदात्त शैली द्वारा उसे परिपुष्ट करने की योग्यता पर निर्भर है। बहुयोजक अभिनय प्रतिभा प्रस्तुति का मूल तत्व है। तांबे के एक बड़े ढोल को छोड़कर जिसे मिलव या मिझावु कहते है किसी अन्य वाद्य यंत्र का प्रयोग नहीं होता। यह ढोल चाक्यर कुट्टु और कुटियट्टम दोनों में समान रूप से व्यवहार में आता है।

कुटियट्टम एक विकसित नाट्य रूप है जिसमें पुरुष और स्त्री दोनों भाग लेते हैं। कुलशेखर ने जब अपने नाटक लिखे थे तब से कुटियट्टम नाटकों के भंडार में बहुत वृद्धि हुई है और आज केरल लगभग एक दर्जन कुटियट्टम नाटकों से परिचित है। इनमें से कुछ पुराने संस्कृत नाटकों के अनुकूलित या संशोधित संस्करण हैं जिनकी प्रस्तुति कुटियट्टम शैली में की जाती है। शेष कुटियट्टम प्रस्तुति के लिए लिखे गये मौलिक नाटक हैं।

'सुभद्राधनंजयम्' और 'ताप्तिसंवरणम्' कुलशेखर के बताये जाते हैं। अन्य नाटक हैं शक्तिभद्र का 'आश्चर्यचूड़ामणि' हर्ष का 'नागानंदम्' भास के 'प्रतिज्ञायौगंधरायणम्,' 'स्वप्नवासवदत्ता,' 'प्रतिमानाटकम्', 'बालचरित्रम्' तथा 'अभिषेकनाटकम्' राजा महेंद्रविक्रम के 'मत्तविलासम्' और 'भगवदज्जुकियम्' तथा नीलकंठ के 'दूतघटोत्कचम्' और 'कल्याण सौगंधिकम्'।

उत्तरवर्ती काल अर्थात् 12वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक के सर्जनात्मक और शास्त्रीय साहित्य में (जिसमें नृत्य, नाटक और संगीतशास्त्र की पुस्तकें भी सम्मिलित हैं) तथा वास्तुशास्त्र की पुस्तकों (जैसे शिल्परत्न) में ऐसी बहुमूल्य संदर्भ सामग्री मिलती है जिसके आधार पर कुटियट्टम के विकास का इतिहास लिखा जा सकता है। अभिनेताओं का समुदाय और उनकी सामाजिक स्थिति, कुटियट्टम की प्रस्तुति से संबंधित परिवेशगत ब्यौरे, रंगमंच निर्माण, अभिनय विधियों और व्यवहृत वाद्य यंत्र — इन सबकी चर्चा उक्त पुस्तकों में मिलती है। मलयालम के 'संदेशकाव्य' में प्राय: कुटियट्टम की प्रस्तुतियों का

उल्लेख किया गया है। हमें यह सूचना मिलती है कि 'उन्नुनिलिसंदेश' में तालि मंदिर में संपन्न हुई 'ताप्तिसंवर्णम्' की प्रस्तुति का उल्लेख मिलता है और 'कोकसंदेश' में इस बात का उल्लेख है कि त्रिप्रभार मंदिर के मंडप में एक कुट्टु की प्रस्तुति हुई थी। वास्तुकला, संगीत और नृत्य की पुस्तकों के अवलोकन से प्रकट होता है कि 10वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक के काल में साहित्य, नाटक और संगीत के क्षेत्रों में बहुत अधिक गतिविधियां थीं और अनेक नये साहित्य रूपों जैसे पट्टु, चंपु, रामनाट्टम, कृष्णाट्टम और अंततः कथकलि का विकास हुआ था। वैष्णववाद और 'गीत गोविंद' के प्रभाव से संगीत के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य आ गया किंतु चाक्यर परिवार बड़ी सावधानी से कुटियट्टम के अस्तित्व की रक्षा करते रहे और कुटियट्टम की प्रस्तुति का क्रम बना रहा। चाक्यर परिवार इस विशेष नाट्य रूप की साहित्यिक और नाट्य-परंपराओं के एकमात्र रक्षक और केंद्र बन गये। विद्वानों के मतानुसार कुटियट्टम की प्रस्तुति करने वाले चाक्यर परिवारों की संख्या 18 थी। कुछ वर्ष पूर्व कंजुत्रि राजा ने ऐसे छह परिवारों की सूची तैयार की थी किंतु इस समय केवल तीन का ही उल्लेख किया जा सकता है। सबसे अधिक विख्यात प्रस्तुतिकर्ताओं में पैनकुलम के राम चाक्यर, पोटियिल के मणिमाधव और अन्नल्लूर माधव चाक्यर के नाम गिनाये जा सकते हैं।

चाक्यर केवल अभिनेता और वंश परंपरा के नाट्य कलाकार ही नहीं हैं, उनमें साहित्यकार और लेखक भी हुए हैं। चौदहवीं शताब्दी में लिखी गयी पुस्तक 'श्रीविलास' मन्ननम के दामोदर की रचना मानी जाती है। यह भी माना जाता है कि उसने 'उन्नियचिचरितम' नाम से एक चंपु की रचना की थी।

नीलकंठ भी चाक्यर था। वर्तमान चाक्यर परिवार के लोग उनके ही वंशज हैं जिनकी रचनाएं हम तक पहुंची हैं और जिनका उल्लेख मलयालम साहित्य की अन्य कृतियों में गत आठ शताब्दियों से या इससे भी अधिक समय से बार बार होता रहा है।

कुटियट्टम के अस्तित्व के बने रहने का रहस्य जहां एक पूर्ववर्ती युग की परंपराओं को सुरक्षित और जीवित रखने की चाक्यर समुदाय की योग्यता में निहित है वहीं नयी स्थितियों के अनुसार स्वयं को बदलने और स्थानीय और तात्कालिक अपेक्षाओं के प्रति सजग रहने तथा समकालीनता की दृष्टि से अपनी प्रस्तुति को ग्राह्य और अर्थवान बनाने की उसकी क्षमता में भी निहित है। यदि चाक्यर कुलशेखर द्वारा दिये गये रूप तक ही अपने को सीमित रखते तो बहुत संभव था कि यह परंपरा टूट गयी होती या लुप्त हो गयी होती। स्थानीय बोली के प्रयोग द्वारा और चार पावन पुरुषार्थों का उपहास करने की छूट देकर तोलन ने विदूषक के चरित्र को नये तत्वों का समावेश करने की जो क्षमता प्रदान की थी उसके कारण ही इस नाट्य रूप में नवीकरण, पुनर्निर्वचन और तात्कालिक अपेक्षाओं की पूर्ति की पर्याप्त संभावनाएं आ गयी होंगी। इस प्रकार कुटियट्टम की परंपराएं आज सुदूर अतीत का स्मरण कराने वाली और संग्रहालय में रखी कोई पुरावस्तु नहीं हैं, अपितु अपने समसामयिक व्यंग्य और सामाजिक आलोचना के कारण समकालीन भारत की निधि हैं। इस अत्यधिक समुन्नत और संरचनाबद्ध नाट्य रूप को सम्मिलित करने का औचित्य यह है कि इससे भारत की उस सांस्कृतिक घटना को समझने में बहुत सहायता मिलती है जिसमें कोई समकालीन नाट्य विधा अतीत के कितने ही क्षणों को और कितनी ही परंपराओं को अपने में संजोए दिखाई देती है। इनमें से कुछ विशुद्ध शास्त्रीय और अखिल भारतीय स्वरूप की हैं और अन्य पूर्णतः स्थानीय या क्षेत्रीय और समसामयिक स्वरूप की। यह विधाओं के एक ओर क्षेत्रीय परंपराओं (जैसे कथकलि) से और दूसरी ओर क्षेत्र-बाह्य परंपराओं (यक्षगान, भागवतमेला आदि) से संबद्ध होने का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।

परंतु ये सब अतीत की बातें हैं — कालगत और देशगत स्थिति की, जिसमें नाट्य विधा की उन्नति और विकास हुआ। प्रश्न है नाट्यगत प्रस्तुति का। उसके मूल तत्व क्या हैं ? वह कैसे आगे बढ़ती है ? शिल्प और संप्रेषण संबंधी उसके मुख्य उपकरण क्या हैं ? इनमें सर्वोपरि है वह स्थान अर्थात् रंगशाला जहां कुटियट्टम प्रस्तुत किया जाता है और जिसे कुट्टंबलम कहते हैं। केरल में आज भी कुट्टंबलम (संस्कृत का परंपरागत नाट्यमंडप) शेष हैं जिनमें परुर के तिरुमुझिकुलम विष्णु मंदिर का नाट्यमंडप तथा त्रिचुर के वटक्कुनथन मंदिर की रंगशाला विशेष उल्लेखनीय हैं। कदाचित कुटियट्टम के प्रथम नाटकों का रचियता नाट्यमंडप का निर्माता भी था। परंपरा से ज्ञात होता है कि तिरुवंचिकुलम के निकट थिरुकुलशेखरपुरम में कृष्ण मंदिर का निर्माण उसी ने किया था। परंतु जो कुट्टंबलम और नाट्यमंडप शेष रह गये हैं वे कुलशेखर के शासनकाल के बहुत

बाद के समय के हैं। इन मंडपों की निर्माण शैली बहुत सीमा तक केरल के मंदिरों की निर्माण शैली के सदृश है। 1800 से 1000 ईस्वी तक की अवधि में बनाये गये मंदिरों की निर्माण योजना सामान्यतः वर्गाकार, वृत्ताकार या अर्धचंद्राकार है। मुख्य मंदिर या श्रीकोविल में अलग से एक नमस्कार मंडप होता है जिसकी निर्माण योजना बर्गाकार और छत स्तूपाकार होती है। कुछ मंदिरों में नमस्कार मंडप नहीं होते। फिर भी नलंबालम के कारण जो श्रीकोविल और नमस्कार मंडप को घेरे रहता है, ये सब परस्पर अंतर्भूत प्रतीत होते हैं।

वर्गाकार, वृत्ताकार और अर्धचंद्राकार भवन निर्माण योजनाओं में वृत्ताकार मंदिर केरल की विशिष्टता हैं। कुट्टंबलम की निर्माण शैली केरल के वर्गाकार और वृत्ताकार मंदिरों की निर्माण योजनाओं के सदृश है। कुट्टंबलम के निर्माण के विषय में बहुमूल्य संदर्भ सामग्री उपलब्ध है, यद्यपि इसमें से अधिकांश सामग्री 9वीं और 10वीं शताब्दी के बाद के काल की है। यद्यपि यह निश्चित नहीं है कि कुलशेखर के समय में कुट्टंबलम का अस्तित्व था, तथापि यह तो निश्चित ही है कि कुटियट्टम की प्रस्तुति विधियों को निर्धारित करते हुए उसने रंगशाला की निर्माण शैली और रंगमंच के स्वरूप पर सम्यक ध्यान दिया था।

जैसाकि सर्वाविदित है, संस्कृत साहित्य में नाट्य मंडप या नृत्त मंडप और नाट्यशाला का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। महाकाव्यों में, विशेषकर 'महाभारत' में नृत्यशालाओं का वर्णन होता है। 'नाट्यशास्त्र' के दूसरे अध्याय में केवल विभिन्न प्रकार की 'रंगशालाओं' का वर्णन किया गया है। आगे चलकर, वास्तुकला, मूर्तिकला और संगीत की शास्त्रीय पुस्तकों में नाट्य मंडप का उल्लेख मिलता है। दसवीं और 11वीं शताब्दी की पुस्तकों जैसे 'मयमट मानसार' तथा 'इशनशिव गुरुदेव पद्धति' में बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है और 16वीं शताब्दी की दो पुस्तकों — 'शिल्परत्न' और 'तंत्रसमुच्चय' में कुट्टंबलम या नाट्य मंडप के सटीक विवरण मिलते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि केरल में जो कुट्टंबलम शेष रह गये हैं उनके निर्माणकाल से पहले की ही ये सारी पुस्तकें हों, ऐसा नहीं है। पेरुमनन, इरिंजलक्कुड और वटक्कुनथन के मंदिरों में भी तीन महत्वपूर्ण कुट्टंबलम देखे जा सकते हैं।

कुट्टंबलम के निर्माण का विस्तृत और सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत पुस्तक का विषय नहीं है। इतना ही संकेत करना पर्याप्त है कि संदर्भ सामग्री तथा वास्तविक पुरावशेष दोनों से ही प्रमाणित होता है कि कुट्टंबलम मंदिर का ही एक अंग था और उसके मूल में एक सुविचारित योजना और आधारभूत विन्यास था। यह उस स्थान के दायीं ओर होता है जहां देवी-देवता की मूर्ति प्रतिष्ठापित की जाती है और शास्त्रीय पुस्तकों के अनुसार ऐसा ही विहित भी किया गया है। केरल की सभी रंगशालाएं (जो मंदिर के निकट हैं) समानांतर धुरी में मंदिरों की मूर्ति के आमने-सामने बनी हुई हैं।

कुट्टंबलम सामान्यतः आयताकार होता है, यद्यपि चेंगन्नुर का कुट्टंबलम अंडाकार था। दुर्भाग्य से इसका केवल स्तंभपाद ही शेष रह गया है। इसका एक प्रतिरूप (मॉडल) त्रिवेंद्रम संग्रहालय में है।

अधिकांश आयताकार कुट्टंबलमों का (जिनमें त्रिचुर के वटक्कुनथन मंदिर का कुट्टंबलम भी सम्मिलित है) स्वरूप एक जैसा ही है। जहां तक मंदिरों की स्थापत्यकला का संबंध है उसमें कुट्टंबलम के लिए निश्चित समानुपातों का विधान किया गया है। इन समानुपातों और मापों में तथा नाट्यशास्त्र में वर्णित विकृष्ट रंगशाला में बहुत अधिक सादृश्य है। माप की आधारभूत इकाई पाद है और रंगशाला की संपूर्ण परिधि, चौड़ाई और लंबाई के बीच निश्चित अनुपात विहित किये गये हैं। इस प्रकार यदि कुल मिलाकर चौबीस भाग हैं तो चौड़ाई में दस भाग होंगे। सोलह भागों में बंटे होने की स्थिति में शिल्परत्न के अनुसार छह भाग चौड़ाई के लिए होंगे (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए क्लिफर्ड जोंस, जर्नल आफ द अमेरिकन सोसाइटी, 93.3, 1973)। संक्षेप में, भवन निर्माण संबंधी अन्य प्रकल्पों और मूर्तिकला के सूत्रों की भांति ही शास्त्रीय पुस्तकों में आधारभूत इकाई, समानुपात और अनुपात का निर्धारण किया गया है और यथास्थिति इनकी सीमा के भीतर रहते हुए फेरबदल किया जा सकता है। मूलभूत आकार और समानुपात की जानकारी हो जाने पर आधार अर्थात् अधिष्ठान (जिस पर मुख्य ढांचा और छत टिके होते हैं) के माप को नियत किया जा सकता है। कुट्टंबलम मंदिर की प्रासाद रचना का भाग है और वह मंदिर का ही एक अंग है। उसके समानुपातों और मंदिर की अन्य संरचनाओं, विशेषकर अन्य मंडपों के बीच सामंजस्य होता है या होना चाहिए। भारत के अन्य भागों में भी मंदिरों और मंडपों के निर्माण के ऐसे आधार मिलते हैं।

कुट्टंबलम की विशिष्टता इसकी आयताकार चपटी और ढालू होती गयी छत है जिसके किनारों पर नागफण आदि आकृतियां बनी होती हैं। छत सदा ही शीर्षबिंदु से 45^{0} के कोण पर रखी जाती है। छोटे छोटे स्तंभों की पंक्तियों पर डाले गये धरन छत को संभाले रहते हैं। सामान्यतः लंबे पार्श्वों पर तीस अर्थात प्रत्येक में पंद्रह पंद्रह और छोटे पार्श्वों पर बाईस अर्थात ग्यारह ग्यारह धरन होते हैं। इनसे जालीदार दीवारें-सी बन जाती हैं जो नीचे के स्तंभों पर टिकी रहती हैं। इन स्तंभों की ऊंचाई बाहर की ओर कम और भीतर अधिक होती है। स्तंभ और धरन पत्थर की समतल चौकी अर्थात् अधिष्ठान पर टिके रहते हैं। छत पूरी तरह से तैयार हो जाने पर उसे तांबे से या खपरैल और गारे के पलस्तर से ढक दिया जाता है और पूर्णघट आदि की आकृतियों से अलंकृत कर दिया जाता है।

दर्शक कक्ष और रंगमंच के बीच सुनिश्चित विभाजन किया गया है। रंगमंच प्रायः वर्गाकार या लगभग वर्गाकार होता है और ऊंचाई पर बनाया जाता है। यह इस प्रकार बनाया जाता है कि इसका रुख देवी-देवता की मूर्ति के सामने होता है और अभिनय करते हुए अभिनेतागण का रुख भगवान की ओर होता है। यह पत्थर के एक खोखले आधार पर बनाया जाता है जिसे मिट्टी और कूड़ा कर्कट से भर कर गोबर से लीप दिया जाता है। दोनों पार्श्वों में एक एक स्तंभ होता है जो चमकीले लाल रोगन से रंगा होता है। ये स्तंभ रंगमंच की एक भीतरी छत को संभाले रखते हैं।

रंगमंच के पीछे नेपथ्य की दीवार होती है। दो संकरे द्वार अभिनेताओं के प्रवेश करने और बाहर निकलने के लिए होते हैं जो हमें नाट्यशास्त्र के विवरणों का स्मरण कराते हैं। दो द्वारों के बीच तांबे के दो ढोल या मिझावु रख दिये जाते हैं। ये ढोल कुटियट्टम के आधारभूत वाद्य यंत्र हैं जो लकड़ी के एक पिंजड़ेनुमा चौखटे में रखे जाते हैं जिसे पिंजर कहते हैं।

नेपथ्य एक छोटा-सा आयताकार कमरा होता है जो रंगमंच की चौड़ाई के समानांतर होता है और उसका तल सामान्यतः रंगमंच के तल से नीचे होता है। कभी कभी उसका तल दर्शक कक्ष के तल से मिला होता है। रंगमंच के स्तंभ आकार, डिजाइन और रंग की दृष्टि से दर्शक कक्ष के स्तंभों से भिन्न होते हैं। अभिनय क्षेत्र में उनका विभाजन इस प्रकार किया जाता है कि दर्शकों को सुविधा हो और इस सीमित स्थान में भी अभिनेता विभिन्न दृश्यों के अनुकूल विशेष 'घटना स्थल' की गुंजाइश निकाल सकें। दर्शक कक्ष का तल चौरस और रंगमंच क्षेत्र के तल से नीचा होता है। कभी कभी यह रंगमंच की दायीं या बायीं ओर उठा हुआ भी हो सकता है। संभवतः यह नाट्यशास्त्र में वर्णित 'मत्तवाणि' के अनुरूप है जिसके विषय में संस्कृत के विद्वानों में बहुत मतभेद रहा है। दर्शक कक्ष के दोनों पार्श्वों में, सामने और पीछे के भागों में ऊंचे स्तभों की पंक्तियां होती हैं। बाह्य भागों में छोटे स्तंभों की तथा एकदम बाहरी भाग में और भी छोटे स्तंभों की। स्तंभ लकड़ी या पत्थर के बने होते हैं या कभी कभी चौकी तो पत्थर की होती है किंतु खंभे लकड़ी के होते हैं। इन सबसे एक आकर्षक अलंकृत स्तंभावली बन जाती है जिस पर एक गगनाकार झोपड़ी जैसी संरचना का आभास होता है। छतों, छज्जों और प्रवालियों से सुसज्जित ये स्तंभ भीतरी सजावट और विन्यास का मनोहर दृश्य प्रस्तुत करते हैं। कुट्टंबलम के बाह्य भाग को देखकर रंगमंच या दर्शक कक्ष के भीतरी आकार प्रकार और संरचना का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

कुट्टंबलम के इस संक्षिप्त विवरण से भी स्पष्ट हो जायेगा कि कुटियट्टम और अन्य नाट्य रूपों की प्रस्तुति अत्यधिक औपचारिक संरचना के अंतर्गत की जाती थी जिसमें रंगमंच, नेपथ्य और दर्शक कक्ष के क्षेत्रों पर सम्यक ध्यान दिया जाता था। नाटक की प्रस्तुति इसी कुट्टंबलम में की जाती है और कुटियट्टम अपने आप में एक समुन्नत नाट्य रूप है जिसमें पूर्व रंग संबंधी अनेक जटिल कार्यकलापों का विधान है। संपूर्ण नाट्य प्रस्तुति कई रातों में संपन्न होती है। पूर्व रंग संबंधी कार्यकलाप प्रस्तुति का महत्वपूर्ण अंग हैं और भारत के अन्य भागों में भी नृत्य और नृत्य नाटक के अन्य रूपों का आवश्यक अंग है।

नाट्य शास्त्र में पूर्वरंग संबंधी अनेक कार्यकलापों का वर्णन है और भरत ने दो अध्यायों में इनकी चर्चा की है। कुटियट्टम की प्रस्तुति का वर्तमान रूप इसी परंपरा का विस्तार है, यद्यपि ब्यौरों की दृष्टि से दोनों में कुछ अंतर है।

.पहले कहा जा चुका है कि दो ढोल अर्थात मिझावु दो दरवाजों के बीच में रखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुझित्ताल का वादन नान्यार (नांग्यार या गायिका) द्वारा किया जाता है। वह गायन भी करती है और वादन भी। यह कथकलि से भिन्न परिपाटी है, क्योंकि उसमें अभिनेता और संगीतकार दोनों ही पुरुष होते हैं। इसके अतरिक्त इडक्का का वादन भी होता है।

यह एक छोटी छड़ी से बजाया जाता है और इसका प्रयोग कुटियट्टम तथा कथकलि दोनों में मंदिरों में देवी या देवता के सम्मुख गाते समय किया जाता है। साथ ही दो वात यंत्रों अर्थात कोंमा (एक प्रकार की तुरही जिसका प्रयोग कथकलि में नहीं होता) और कुरुनकुझल या कुचल (वंशी) का व्यवहार भी होता है। इन दोनों वात यंत्रों के वादकों का स्थान मिझावु वादकों के ठीक बाद होता है। कभी कभी शंख का प्रयोग भी किया जाता है। संपूर्ण वृंद वाद्य को पंचवाद्य कहा जाता है। प्रस्तुति का समारंभ कांसे का दीपक जला कर किया जाता है। दीपक की दो बत्तियां अभिनेता के सम्मुख होती हैं और एक बत्ती दर्शकों के सम्मुख। देवी-देवताओं को चढ़ाई जाने वाली आठ पावन भेंटों अर्थात् अष्टमंगल में अन्न, फल, फूल आदि होते हैं और ये वस्तुएं बहुत निकट रखी जाती हैं। मिझावु वादन आरंभ होता है। इसका वादन नान्यार द्वारा होता है और इसके साथ साथ झांझ का वादन तथा नान्यार (जिसे नांग्यार भी कहते हैं) का गायन भी होता है। गीत में गणपति, सरस्वती और शिव आदि देवी-देवताओं का आह्वान किया जाता है। गणपति या सरस्वती का और कभी कभी शिव का आह्वान भारत के प्रायः सभी भागों में अन्य नृत्य रूपों के पूर्वरंग संबंधी कार्यकलाप में भी सम्मिलित है। इन्हें गोष्ठी या अक्किट्ट कुट्टुक कहा जाता है।

अगला भाग 'नंब्यरूटे तमिल' है जिसमें नंब्यार अभिनय कथा का सार प्रस्तुत करता है। प्रायः इसकी भाषा शुद्ध मलयालम होती है जिसमें संस्कृत शब्दों की बहुलता होती है। इसके बाद पानी छिड़क कर रंगमंच को शुद्ध किया जाता है। इसे अरन्नुतलि कहते हैं। नेपथ्य से अक्किट्ट के पवित्र जल लाने, उसका छिड़काव करने और मंगलश्लोक का पाठ करने के बाद नंब्यार ढोल के पास से हट जाता है। इसके बाद नांग्यार द्वारा ध्रुव पद्यों का गायन होता है। इनमें रंगमंच पर आने वाले पात्र के पूर्वजन्म का संकेत होता है, ये नाट्यशास्त्र में उल्लिखित ध्रुवगान के समानुरूप होते हैं। ध्रुवगान नाटक की गति का नियमन कर देते हैं और ये समुपयुक्त रागों में गाये जाते हैं।

तब मुख्य पात्र के प्रवेश करने के पूर्व दो व्यक्ति एक यवनिका पकड़े रंगमंच पर आते हैं। मिझावु और अन्य वाद्य यंत्रों के वादन के साथ साथ ही अभिनेता आता है और यवनिका के पीछे खड़ा हो जाता है। फिर वह नान्यार के गायन के साथ साथ अनेक पदक्षेप तथा अनेक क्रियाएं प्रदर्शित करता है। अभिनेता के औपचारिक प्रवेश के तुरंत पश्चात ही पुरप्पडु (यह विशेषता कथकलि में भी देखी जा सकती है) और अनेक व्याख्यापरक क्रियाओं का क्रम आरंभ होता है जिन्हें क्रियायवित्तक कहते हैं और जिनमें अभिनेता नाटक के प्रथम पद्य की पहली तीन पंक्तियों का निर्वचन अभिनय द्वारा करता है। यवनिका के पीछे नाट्यशास्त्र के चारि, करण और अंगहार के अनुरूप अनेक अमूर्त्त क्रियाएं भी की जाती हैं। हम जानते हैं कि चारि, करण और अंगहार अमूर्त्त क्रियाएं हैं जिनका विधान नाट्यशास्त्र में पूर्वरंग के अंग के रूप में किया गया है। कुटियट्टम की पुस्तकों में इन क्रियाओं और पदक्षेपों के वर्णन के लिए अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनमें से कुछ शब्दों का प्रयोग अब प्रायः समाप्त ही हो चुका है, किंतु यह मानना गलत नहीं होगा कि वे गति और पदक्षेप की एक सुपरिचित शब्दावली का निर्देश करते हैं और चारि, गति आदि के अर्थ का ही द्योतन करते हैं यद्यपि तमिलनाडु और अन्य स्थानों में इन क्रियाओं को दर्शाने वाली प्रतिमाओं में उन्हें ढूंढ़ना सही नहीं होगा।

पहले दिन की प्रस्तुति इन क्रियाओं के साथ समाप्त हो जाती है। आधारभूत अवस्थिति नाट्यशास्त्र के मंडलस्थान के सदृश कही जा सकती है।

कथकलि की वृत्त स्थिति मूलतः कुटियट्टम के लिए विकसित की गयी इन्हीं क्रियाओं से अधिकांशतः ग्रहण की गयी है। ये पूर्वरंग क्रियाएं कुटियट्टम की प्रस्तुति का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। नगरीय रंगमंच के विशुद्ध रूप से कथोपकथन पर आधारित नाटकों की प्रस्तुति में इनका प्रचलन नहीं रहा, किंतु सभी ग्रामीण नाट्य रूपों में, चाहे वे मंदिरों, सड़क और बाजारों में खेले जाते हों या यात्रा की कोटि में आते हों, ये पूर्वरंग क्रियाएं अभिन्न रूप से समाविष्ट हैं। सभी परंपरागत रूपों में ये भिन्न भिन्न प्रकार से सुरक्षित हैं। अनेक में गणेश का आह्वान किया जाता है और अन्यों में शिव के स्थान पर एक बांस खड़ा करके उसका प्रतिष्ठापन और आह्वान किया जाता है। कुटियट्टम में पुरप्पडु के आह्वान संबंधी पद्य केरल के रामनाट्टम और कृष्णाट्टम, तमिलनाडु के भागवतमेला, कर्नाटक के यक्षगान और आंध्र के भामकलापम जैसे नाट्य रूपों से उसके संबंध के द्योतक हैं।

अगला चरण अर्थात निर्वाहण भी पूर्वरंग का ही अंग है और यह कुटियट्टम की अपनी विशिष्टता है। इसका समारंभ दूसरे दिन होता है। नाटक के मूल कथ्य से संबंधित 'समय विस्तार' की प्रस्तुति से पूर्व पात्र अपना जीवनचरित प्रस्तुत करके अपना परिचय देता है। चूंकि अधिकांश पात्र और नायक सुपरिचित पौराणिक कथाओं के होते हैं, अतः अभिनेता को पात्र से जुड़ी विशेष कथा का चुनाव करने में कोई कठिनाई नहीं होती। पूर्व दीप्ति शैली का प्रयोग पूरे कौशल से किया जाता है और इसके अंतर्गत जन्म से आरंभ करके यौवन तक की या यौवन से आरंभ करके जन्म तक की समस्त घटनाओं का एक एक करके वर्णन किया जाता है। पहले को अनुक्रम कहते हैं और दूसरे को संक्षेप। निर्वाहण एकल संगीत, एकल अभिनय और चरित्र-चित्रण दोनों के लिए ही एक कुशल युक्ति है जो वास्तविक नाट्य प्रस्तुति का मार्ग प्रशस्त कर देती है। भारतीय नाटक में अधिकांशतः चरित्र विकास पर बहुत बल नहीं दिया जाता। कुटियट्टम की परंपरा निर्वाहण के माध्यम से चरित्र चित्रण का पूरा अवसर प्रदान करती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि रंगमंच पर अभिनेता इस अवस्था में कोई भाषण नहीं करता। पद्यों का सस्वर पाठ नान्यार द्वारा किया जाता है और यह क्रिया नर्तक या अभिनेता के मूकाभिनय की अनुगामिनी है, न कि पूर्वगामिनी। इस दृष्टि से कुटियट्टम नाट्यशास्त्र की कुछ अभिनय विधियों का अनुसरण करता है, विशेषकर आंगिकाभिनय के शुचि तथा अंकर रूपों का।

एक चरित्र का निर्वाहण एक रात, दो रात या कई रातों तक भी चल सकता है। इसके पश्चात दूसरे चरण का प्रारंभ होता है जिसमें विदूषक का आगमन होता है। कुटियट्टम रंगमंच का यह स्टाक चरित्र कुटियट्टम और संस्कृत नाटक के परस्पर संबंध का द्योतक है, क्योंकि संस्कृत नाटक में भी विदूषक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह चरित्र भारत के सभी भागों में विकसित अन्य नाट्य रूपों से भी कुटियट्टम का संबंध जोड़ता है। पूर्वरंग की भांति ही विदूषक भी संभ्रांत वर्ग और निम्न वर्ग तथा अतीत और वर्तमान के बीच संप्रेषण और संबंध स्थापन का माध्यम बनकर प्रकटतः असदृश दिखाई देने वाले विभिन्न भारत व्यापी नाट्य रूपों को समानता के सूत्र में बांधता है। कुलशेखर का ब्राह्मण पुरोहित तोलक पुरुषार्थों आदि का उपहास करने की परंपरा का प्रवर्तक माना जाता है। समाज के किसी भी वर्ग की टीका-टिप्पणी और आलोचना करने की जो छूट विदूषक की परंपरा से मिली हुई है वह भी कुटियट्टम की ऐसी विशेषता है जिसने उसे जीवित और समकालीनता तथा विशाल जनसमूह से निरंतर जोड़े रखा है। वस्तुतः नृत्य नाटक के अन्य समस्त रूप इस चरित्र का उपयोग करते हैं। हम आगे देखेंगे कि यह चरित्र नृत्य नाटक के विभिन्न रूपों में कितनी अनोखी और सार्थक भूमिका निभाता है। अन्य पात्रों के निर्वाहण के विपरीत विदूषक अपनी ही भाषा बोलता है और उसकी भाषा अधिकांशतः मलयालम होती है। वह अपना जीवनचरित प्रस्तुत करते हुए पूर्वदीप्ति शैली का भी उपयोग करता है। उसकी प्रस्तुति प्रणाली और अभिनय विधियां भी कभी कभी अन्य अभिनेताओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार की होती हैं। पुरुषार्थों को व्यंग्यात्मक रूप से चार सामान्य वर्गों में बांटा गया है : (i) वंचना – कपट और उसके समस्त सूक्ष्म भेदों का रंगमंचीय कौशल के साथ चित्रण, लुटेरेपन आदि की प्रस्तुति; (ii) रसना – पेटूपन और अतिभोजिता; (iii) राजसेवा – राजभक्ति; (iv) विनोद – विलासप्रियता। इस प्रकार हिंदू जीवन के चारों महत्वपूर्ण लक्ष्यों अर्थात् अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष की बहुत खिल्ली उड़ाई जाती है और किसी भी समसामयिक स्थिति की आलोचना करने के लिए विदूषक पैने व्यंग्य और हास्य का उपयोग करता है। अन्य पात्रों द्वारा देवताओं का आह्वान करने की अत्यधिक कर्मकांडगत और गुह्य रीति और उनके निर्वाहण की अत्यंत संरचनाबद्ध क्रियाएं विदूषक की स्वायत्तता और आशुरचना की छूट के एकदम विपरीत पड़ती हैं और इसी छूट के कारण कुट्टियटम जहां जनसाधारण के समीप पहुंच जाता है, वहीं समसामयिकता से भी जुड़ा रहता है। विदूषक की भूमिका निभाने वाले पात्र को पूरी स्वतंत्रता है कि वह देवलोक से लेकर राजाओं, ब्राह्मणों और जनसाधारण के संसार में विचरण कर सके। सामाजिक विरोध, असहमति और कटु आक्षेप के तत्व सुंदर रीति से अंतर्वलित रहते हैं और राजपरिवार, ऊंची जातियों, कवियों, प्रशासकों और अन्य सत्ताधारी वर्गों की जी खोल कर जो भर्त्सना की जाती है उसका दर्शक गण पूरा आनंद लेते हैं। इस प्रकार कुटियट्टम का विदूषक संस्कृत नाटक के विदूषक से भिन्न प्रकार का चरित्र है। संस्कृत नाटक के विदूषक को यह छूट नहीं है कि नाटक के कथ्य से इधर उधर जा सके। परंतु कुटियट्टम के विदूषक को आशु रचना करने, प्रक्षेप करने और कथ्य से बहुत दूर तक हटने

की छूट है। इस दृष्टि से कुटियट्टम भारतीय रंगमंच की एक सर्वथा नयी परंपरा का सूचक है, एक ऐसी परंपरा का जो मंदिर और नुक्कड़ रंगमंच के सभी रूपों में निरंतर बनी हुई है। यद्यपि जहां तक रंगमंचीय शिल्प का संबंध है अन्य पात्रों के निर्वाहण की गतिक और मूकाभिनयगत शैली की अपेक्षा विदूषक वाचिकाभिनय में निपुण होता है तथापि वह एक कुशल कलाकार है जिसमें संस्कृत पद्यों और मुख्य पात्र की भंगिमाओं को समझने और उनकी पुनर्व्याख्या करने की पूर्ण क्षमता होती है। साथ ही, वह दर्शन और धर्म के विभिन्न संप्रदायों के मूलभूत सिद्धांतों की व्याख्या या विवेचना भी करता है।

अन्य पात्र क्रम से मंच पर आते हैं और अपने जीवनचरित तथा पुरप्पडु की क्रियाओं की प्रस्तुति करते हैं। इन प्रारंभिक और परिचयात्मक कार्यकलापों में 3 से 11 या 14 रातें तक व्यतीत हो सकती हैं। मूल नाटक की प्रस्तुति में अधिक से अधिक 3 या 4 रातें लगती हैं। प्रस्तुति के इस अंतिम चरण में साहित्यिक पाठ की शुद्धता पर अधिक ध्यान दिया जाता है और नाट्य प्रस्तुति की गति आगे बढ़ती है और नाटक का समापन होते ही नायक को छोड़ कर अन्य सभी पात्र मंच से चले जाते हैं तथा अंतिम आह्वान या मुटियक्किट का गायन नान्यार द्वारा किया जाता है। नंब्यार मिझावु का वादन करता है और चाक्यार का एक बार फिर अमूर्त गति पर आधारित नृत्य क्रम होता है। चाक्यर अंत में अपने पांव धोता है, दीपक (कुट्टिविलक्कु) की एक बत्ती बुझा देता है और फिर एक बत्ती जला देता है। इस प्रकार कुटियट्टम की प्रस्तुति की समाप्ति हो जाती है। उसका आरंभ और अंत विस्तृत कर्मकांडगत रीति से होता है तथा प्रस्तुति में अत्यधिक शैलीकृत रंगमंच और शब्द-ध्वनिगत गति तथा प्रतीकात्मक अंग संचालन पर आधारित संप्रेक्षण विधियों और साथ ही अनगढ़ व्यंग्य, परिहास और यथार्थ चित्रण के तत्वों का समावेश रहता है।

कुटियट्टम की प्रस्तुति के विभिन्न चरणों का स्पष्ट विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है : (i) प्रारंभिक आह्वान; (ii) यवनिका के पीछे के पुरप्पडु और पूर्वरंग संबंधी अन्य कार्यकलाप जो विधा की वृत्तविधि का मुख्य कलेवर हैं; (iii) पात्र का निर्वाहण जो एकल अभिनय होता है और जिसमें अभिनय का अंश अधिक किंतु मात्र नृत्य का अंश बहुत थोड़ा होता है; (iv) विदूषक का निर्वाहण; (v) नाटक की प्रस्तुति, जिसमें सभी अभिनेता गायन करते हैं या अपने संवाद बोलते तथा अंग संचालन करते हैं; तथा (vi) भरत वाक्य।

कुटियट्टम के जो नाटक इस समय उपलब्ध हैं उनमें 'अट्टप्रकारम' तथा 'क्रमदीपिकाएं' अर्थात् टीकाएं और व्याख्याएं भी सम्मिलित हैं जिनमें नाट्य प्रस्तुति की विधियों का निर्धारण किया गया है और जिन्हें शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा अभिनेताओं की संदर्शिकाएं कहना अधिक समीचीन होगा। निस्संदेह राघवभट्ट और कल्लिनाथ की टीकाओं से अनेक संस्कृत नाटकों के संदर्भ में इसी उद्देश्य की पूर्ति होती है। ये टीकाएं पद्यार्थ के विभिन्न स्तरों और अभिनय की अपेक्षित विधियों तथा अभिनय क्षेत्रों या दृश्यों की रूढ़ियों पर प्रकाश डालती हैं।

केरल में उपलब्ध अनेक नृत्य दीपिकाओं और टीकाओं की भांति कुटियट्टम की दीपिकाओं में भी इस परंपरा की व्याख्या की गयी है और उसे आगे बढ़ाया गया है। उनमें संस्कृत रंगमंच और नाट्यशास्त्र की वाचिक और आंगिकाभिनय की संकल्पनाओं के शब्द और भंगिमा के संबंध को न केवल अर्थ की बहुस्तरीयता की संभावनाओं की खोज द्वारा अपितु वाक्य के अक्षरों और रचना की संभावनाओं की खोज द्वारा भी अधिक विकसित किया गया है। पारस्परिक प्रश्न और उत्तर आंगिकाभिनय के निर्वचनात्मक अंशों की विशिष्टता है। मूल पाठ का विस्तार और परिष्कार करने के लिए अनुमति ही नहीं दी गयी, प्रोत्साहित भी किया गया है। कदाचित इस परंपरा ने कथकलि के मनोधर्म और कुटियट्टम में अपनी चरम सीमा का स्पर्श किया। परंतु कुटियट्टम की अत्यधिक विकसित और शैलीकृत विधियां अपने आप में एक श्रेणी हैं और उनसे अधिक उत्तम प्रतिमान भारत के किसी भी नृत्य, नाटक या नाट्य रूपों में उपलब्ध नहीं हैं।

इस प्रकार कुटियट्टम अनेक तत्वों का सम्मिश्रण है। नाटक के मुख्य कलेवर में नंब्यार और नान्यार के गायन और पाठ तथा नायक, विदूषक और अन्य पात्रों के संवाद के रूप में भाषित शब्द हैं। अमूर्त अंग संचालन के पूर्व, पश्चात और साथ साथ चलने वाला वाद्य संगीत है जैसे पुरप्पडु और अन्य पूर्वरंग कार्यकलापों में। हस्ताभिनय और मुखाभिनय की समुन्नत अभिव्यक्ति शैली है। साथ ही, रंगबिरंगी प्रतीकात्मक वेशभूषा और रूपसज्जा से युक्त अभिनेताओं द्वारा किया जाने वाला नेत्राभिनय है। ये सारे तत्व परस्पर घुल मिल कर जिस समष्टि की रचना करते हैं वह अंतर्मन की अवस्थाओं को अपनी ओर

आकृष्ट करती है। प्रस्तुति विशेष रूप से इसी प्रयोजन के लिए तैयार की गयी नाट्यशाला में की जाती है जहां अभिनय क्षेत्र स्पष्टतः सीमांकित होते हैं और प्रकाश मद्धिम किंतु सुनियोजित होता है। परंपरागत शब्दों में, चारों प्रकार के अभिनय का संपूर्ण, स्वतंत्र और मिले जुले रूप में उपयोग किया जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वाचिकाभिनय को चार भागों में बांटा जा सकता है। पहला है संस्कृत और प्राकृत रचनाओं का पाठ। इसका स्वरूप कुटियट्टम की अपनी ही विशिष्टता है। यह मंद गति से अक्षरशः की जाने वाली पठन क्रिया है। यद्यपि इस प्रकार का पठन पूर्णतः ऋग्वेद और यजुर्वेद के पठन के अनुरूप नहीं है तथापि दोनों में निश्चित रूप से कुछ समानताएं भी हैं। ऋग्वेद और यजुर्वेद में स्वर के तीन भेद माने गये हैं – अनुदात्त, उदात्त और स्वरित। सामगान में पांच या छह प्रकार के स्वरों के प्रयोग का विधान है और संगीतात्मकता स्वरों के प्रलंबन में निहित है। चाक्यारों द्वारा किये जाने वाले पाठ स्वर्धिल शोल्लुक की स्थिति ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के पाठ के बीच की है। अनेक और भिन्न भिन्न प्रकार की पाठ प्रणालियां हैं और कुटियट्टम के पारखियों ने ऐसी बीस पाठ प्रणालियों का पता लगाया है। विशेष अभिनेताओं द्वारा विशेष पाठ प्रणालियों का उपयोग किया जाता है, कुछ अन्य का विशेष भावों और रसों की अभिव्यक्ति के लिए और कुछ का मात्र बाह्य स्थितियों के वर्णन के लिए। वाचिकाभिनय का दूसरा घटक तत्व नान्यार द्वारा आह्वान के पदों का सस्वर पाठ है। भरत वाक्य के पद दूसरी श्रेणी में आते हैं और उनका सस्वर पाठ चाक्यर के सस्वर पाठ से भिन्न प्रकृति का होता है।

तीसरा तत्व नंब्यार का संगीत है जिसका अपना विशेष स्वर संगीत होता है।

चौथा तत्व है विदूषक का गद्य पाठ, जिसमें और ही प्रकार के स्वर और शब्दोच्चारण की अपेक्षा की जाती है।

पांचवां और अंतिम तत्व है श्लोक अर्थात स्वयं नाटक के पद। प्रत्येक श्लोक किसी विशेष राग से संबद्ध होता है और प्रत्येक राग विशेष स्थितियों, वर्गों या मनोदशाओं या पशु जगत अथवा पक्षी जगत या ऋतु अथवा प्रहर से जुड़ा होता है। कुटियट्टम में ऐसे लगभग बीस रागों का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए, इंदोलि राग का संबंध धीरोदात्त से है, चेतिपंचम का निम्न चरित्रों से, आर्तन का श्रृंगार से, तर्कन का रौद्र से और कौरक्कुरुन्नि का वानरों से। रागों और उनसे संबद्ध वस्तुओं की सूची और बढ़ाई जा सकती है।

इससे स्पष्ट होगा कि वाचिकाभिनय की विधियां भिन्न भिन्न प्रकार की, समृद्ध और बहुआयामी हैं।

परंतु कुटियट्टम का आंगिकाभिनय नेत्रों और भौंहों, मुखपेशियों, धड़ और हाथों के उपयोग की नाट्य विधि का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। गति की एक संपूर्ण और व्यापक भाषा कुटियट्टम प्रस्तुति का सारतत्व है। कुटियट्टम के अभिनेता के उत्कृष्ट कौशल और मुख की मुद्राओं तथा हस्त भंगिमाओं द्वारा स्थितियों और घटनाओं का पुनः सर्जन करने की उसकी योग्यता के विषय में कितनी ही किंवदंतियां प्रचलित हो गयी हैं। वाचिकाभिनय की भांति आंगिकाभिनय में भी अभिव्यक्ति और संप्रेषण की अनेक विधियों का उपयोग किया जाता है जिसका विवरण नीचे दिया जा रहा है:

(i) अर्थ से रिक्त विशुद्ध अमूर्त्त क्रियाएं चविट्टु क्रिया और अन्य पूर्वरंग कार्यकलापों में देखी जा सकती हैं।

(ii) नृत्य क्रम है, जो पुरप्पडु का एक भाग है और जिनमें कभी कभी मूकाभिनय भी सम्मिलित रहता है। आधारभूत स्थिति निम्नांगों का एक मंडल स्थान है जो कथकलि और कुटियट्टम दोनों में समान रूप से दृष्टिगत होती है। नृत्त तत्व भी प्रबल है, यद्यपि उतना व्यापक नहीं जितना कथकलि में। नृत्य क्रिया में आने वाले विभिन्न प्रकार के टुकड़ों में बहुत सावधानी से भेद किया जाता है। ये चेरिय चोक्कम (प्रवेश गति के लिए), कोल्लियुंति नाट (सौम्य गति के लिए), आदि नामों से जाने जाते हैं।

(iii) पाठ या गायन से जुड़ी एक निर्वचनात्मक गति भी है जो सामान्य स्वरूप की है और पूरे शरीर से संबंध रखती है। इसे चाकियट्टम (कथकलि में कुलियट्टम भी, किंतु भिन्न प्रकार की) कहते हैं।

(iv) फिर हस्ताभिनय और नेत्राभिनय द्वारा पंक्तिशः, शब्दशः, अक्षरशः निर्वचन करने का विधान है जिसके साथ साथ अभिनेता का पाठ या नान्यार का गायन भी चलता है। नेत्राभिनय नेत्रों के द्वारा अभिव्यक्त करने की एक अत्यधिक जटिल प्रणाली है।

(iv) चूंकि कुटियट्टम में आशु रचना और मिश्रण की पर्याप्त गुंजाइश रहती है, अत: एक स्तर पर आकर पाठ या गायन से भी निर्वचनात्मक नृत्य के लिए मात्र एक टेक का काम लिया जाता है। इस नृत्य का स्वरूप अत्यधिक शास्त्रीय है और इसमें 'संकेतों' की व्यापक और गहरी जानकारी अपेक्षित है। इस प्रकार यह नाट्य रूप निर्वचनात्मक और मूकाभिनयगत क्रियाओं से भरा हुआ है और अभिनेता की निपुणता शब्द के अनेक निर्वचन करने की उसकी क्षमता में निहित है।

(vi) मुख और मुखपेशियों का भी कुटियट्टम में अत्यधिक महत्व है। मुखपेशियों के संगत प्रयोग द्वारा भावों को अभिव्यक्त करने की विधियां जैसी कुटियट्टम में विकसित हुई हैं वैसी अन्यत्र दुर्लभ हैं। कथकलि में इनमें से कुछ विधियों का उपयोग किया जाता है। किंतु कुटियट्टम की विधियां अधिक जटिल हैं।

(vii) नेत्राभिनय जिसके द्वारा कुटियट्टम के अभिनेता जटिल स्थितियों या भावों को व्यक्त करते हैं अपने आप में एक श्रेणी है। नेत्रों, मुखपेशियों और हाथों के द्वारा चाक्यर जिस कौशल और कलात्मक निपुणता का प्रदर्शन करता है वह वर्णनातीत है। यह संगत अभिनय भरत के अंतराभिनय संबंधी विवेचन के अनुरूप ही है। यद्यपि कथकलि ने भी इस परंपरा और इसके कठोर अनुशासन के एक बड़े भाग को ग्रहण किया है तथापि कुटियट्टम की अपनी ही कुछ विशेषताएं हैं और कदाचित यह अधिक शैलीकृत और अमूर्त्त है।

आहार्याभिनय में वेशभूषा और रूपसज्जा की जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है उनसे भी निर्वैयक्तिक रूप से तथा विशिष्ट शैलीकरण द्वारा चरित्र और भाव का चित्रण करने की इस दृष्टि को बल मिलता है। यद्यपि विदूषक का चरित्र एक यथार्थ और समसामयिक चरित्र है तथापि उसे बहुत अधिक यथार्थनिष्ठ बनने नहीं दिया जाता। वेशभूषा की दृष्टि से सभी पात्र एक आधारभूत विन्यास में बंधे होते हैं जो कुछ अंशों से कथकलि के सदृश होते हुए भी अपना एक अलग विशिष्ट स्वरूप रखता है। वेषभूषा को निश्चित आकार से अधिक बड़ा नहीं होने दिया जाता। कुटियट्टम में वेशभूषा का विन्यास इस प्रकार किया जाता है कि वह सामने से दिखाई दे सके।

विदूषक की वेशभूषा में, जो अपने आप में एक श्रेणी है, अनेक प्रभाव ढूंढ़े जा सकते हैं। इसमें एक मोटा और फूला हुआ अधोवस्त्र होता है और एक उत्तरीय जो आगे से खुला हुआ किंतु पीठ पर मुड़ा हुआ होता है। अन्य पात्र भी अधोवस्त्र अर्थात् 'पृष्ठ' और 'पइतकम' तथा साथ ही कसे हुए ऊपरी वस्त्र अर्थात् कुप्पयम पहने होते हैं। स्त्रियों का परिधान कथकलि जैसा ही होता है। कुटियट्टम की रूपसज्जा कथकलि से मिलती है, किंतु इसमें अपेक्षाकृत अधिक सादगी होती है। यद्यपि मूल रंग प्रतीकात्मकता दोनों में एक-सी होती है। जहां तक रूपसज्जा का संबंध है, नायक, राजा और धीरोदात्त चरित्रों के लिए हल्के लाल रंग के पझुप्प का प्रयोग किया जाता है। अर्जुन, मित्रवसु और राम जैसे राजकुमारों के लिए पच्चे (हरा और श्याम) का तथा आदिवासियों, असुरों और शूर्पणखा के लिए करि (काले रंग) का उपयोग किया जाता है। रावण जैसे चरित्रों के लिए कत्ति (लाल रंग) का उपयोग किया जाता है और कथकलि की भांति नाक के अग्रभाग पर चटकीली बिंदी लगाई जाती है। चत्त (चावल के आटे की लेई) लगाने की रीति कथकलि से भी अधिक भिन्न नहीं होती। दोनों में एक-सी सामग्री का उपयोग किया जाता है जिसमें इमली का चूर्ण, लाल संखिया, सिंदूर (चलियम), कोयले का चूर्ण, नील, चावल का चूर्ण (अभ्र), तेच्ची के लाल फूल, नोत्रन घास, बांस की छड़ियां, कार्क, सुपारी और खजूर के पेड़ों से बनाया गया बाहरी घेरा आदि सम्मिलित हैं। अन्य कलारूपों में भी चरित्रों की रूपसज्जा के लिए इन देसी वस्तुओं का उपयोग किया जाता है, किंतु भारत में कुटियट्टम, कथकलि और यक्षगान में रूपसज्जा और शिरोवस्त्र की अत्यधिक व्यापक और शैलीकृत विधियों का उपयोग किया जाता है।

अपने बाह्य तथा आंतरिक तत्वों के आधार पर कुटियट्टम का जहां एक ओर अत्यधिक प्रतीकात्मक, अमूर्त्त और स्वकल्पित स्वरूप है (जिसकी तुलना कुछ विद्वानों ने वैदिक कर्मकांड से की है) वहीं दूसरी ओर वह एक मूर्त्त कलारूप भी है जिसमें विशिष्टता और समसामयिकता के लिए पर्याप्त गुंजाइश रहती है। हम देखते हैं कि जहां इसका मंदिरों के कर्मकांड और दरबारी नाटक से निकट का संबंध है, वहीं यह कोई ऐसा कलारूप नहीं है जो मात्र संभ्रांत वर्ग के लिए हो। यह जनसमूह के शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों वर्गों के लिए है। यह जनसमूह के शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों वर्गों से ही जुड़ना चाहता है और वास्तव में जुड़ता भी है। इस दृष्टि से इसमें भारतीय नाट्य कलाओं की वह विशेषता पूर्ण रूप से दृष्टिगत होगी जो

उन्हें शायद ही कभी दर्शकों के किसी वर्ग विशेष तक सीमित रहने देती है, चाहे अभिनेताओं और रंगकर्मियों का संबंध किसी विशेष समुदाय या जाति से क्यों न हो। कुटियट्टम की अभिनय शैलियों में अनेक तत्वों का समावेश है। इनमें से कुछ तो केरल के अपने हैं और कुछ संस्कृत परंपरा से लिये गये हैं, जैसे आंगिकाभिनय। इसी प्रकार का मिश्रण भाषा प्रयोग में भी दिखाई देता है जिसमें संस्कृत से लेकर मणिप्रवाल और बोलचाल की मलयालम तक का समावेश है।

जहां इसकी कुछ परिपाटियां (जैसे पूर्वरंग) संस्कृत परंपरा से ली गयी हैं, वहीं निर्वाहण जैसी अन्य परिपाटियां इसकी अपनी विशेषता हैं। भारतीय रंगमंच की अनेक विशेषताएं और नायक संबंधी रूढ़ियां कुटियट्टम में भी उपलब्ध हैं, जैसे गणेश वंदना, विदूषक आदि।

इसकी प्रस्तुति शैली में सभी कलाओं के तत्व ग्रहण किये गये हैं और यह प्रमुखतः साहित्यिक शब्द, रंगशाला की बनावट, स्थापत्य तत्वों, भित्ति चित्र के तत्वों तथा संगीत के रागों पर आधारित है। इस प्रकार यह एक संपूर्ण रंगमंच है जिसमें समस्त शब्दगत विधाएं (कथित या लिखित), गति (वृहत तथा लघु, अमूर्त्त अथवा निर्वचनात्मक), वेशभूषा, साज संवार, अभिकल्प आदि तत्व एक दूसरे में गुंथे हुए हैं और ये सब मिल कर एक समेकित समग्रता की सृष्टि करते हैं।

हमने इस कला रूप का कुछ विस्तृत विवेचन इस कारण से किया है कि इसकी सर्वांगीण विधियों और शिल्प से उन अन्य कलारूपों को समझने में बहुत अधिक सहायता मिलती है जिनकी चर्चा हम आगे करने जा रहे हैं और जिनका अस्तित्व आज भी भारत के अनेक भागों में बना हुआ है।

3

यक्षगान

कर्नाटक केरल के उत्तर में पश्चिमी तट पर स्थित है। उसके पूर्व में आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु है एवं यह उत्तर-पूर्व में महाराष्ट्र से घिरा है। 191,773 वर्ग किलोमीट के क्षेत्र में फैले हुए इस प्रदेश में हरे भरे ग्राम क्षेत्र हैं, ढालू पश्चिमी घाट और समुद्र है। इसकी लगभग तीन करोड़ की जनसंख्या का भारत, विशेषकर दक्षिण-राज्यों के समृद्ध इतिहास और सांस्कृतिक परंपराओं में साझा है। साहित्यिक, प्रदर्शनकारी तथा दृश्य कलाओं के क्षेत्र में इसका इतिहास कदंब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसाल तथा विजयनगर शासकों के राजवंशों के साथ जुड़ा हुआ है।

यद्यपि कुछ विद्वानों के मतानुसार यक्षगान का उद्भव काल, 16वीं शताब्दी और कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार 18वीं शताब्दी है तथापि कुटियट्टम की भांति ही इसके उद्भव और विकास के स्रोत भी एक ओर संस्कृत साहित्य और संस्कृत नाटक में तथा दूसरी ओर कन्नड़ साहित्य और कर्नाटक में प्रचलित अनेक कर्मकांडीय नृत्य तथा संगीत में ढूंढ़े जा सकते हैं। कुटियट्टम की भांति ही इसमें भी संस्कृत रंगमंच की अनेक परंपराओं और परिपाटियों का समावेश हुआ है, विशेषकर पूर्वरंग और विदूषक का तथा देश और काल की अन्वितियों के सोद्देश्य निषेध का। कुटियट्टम की भांति ही इसने भी कविता के सस्वर पाठ, संगीत रागों, लय, नृत्य विधि और सबसे अधिक वेशभूषा तथा साज संवार की अपनी विशिष्ट पद्धति विकसित की है। परंतु कुटियट्टम के विपरीत इसने अनेक महत्वपूर्ण तरीकों से संस्कृत रंगमंच की परिपाटियों का त्याग किया है और हस्ताभिनय तथा नेत्राभिनय की बहुत अधिक व्यापक अभिव्यक्ति प्रणाली इसमें नहीं मिलती। अपने पड़ोसी राज्यों आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु की साहित्यिक गतिविधियों से भी इसका घनिष्ठ संपर्क रहा है और तंजौर के मराठा शासकों के दरबार में फलने फूलने वाली साहित्यिक विधाओं से भी इसका कुछ साम्य है।

साहित्यिक और नाट्य विधा कहे जाने वाले यक्षगान का अध्ययन मुख्यतः कन्नड़ साहित्य और अन्य कलाओं, विशेषकर संगीत, चित्रकला और स्थापत्यकला के विकास को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए। कन्नड़ साहित्य भारत के प्राचीनतम साहित्य में से है और पुरातनता की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत और तमिल के बाद इसी का स्थान है। राज्य के 5वीं से लेकर 8वीं शताब्दी तक के शिलालेखों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि इस क्षेत्र की संस्कृति बहुत समृद्ध और वैविध्यपूर्ण थी जिसका भारत के अन्य भागों से और संभवतः पश्चिमी एशिया से भी बहुत घनिष्ठ संपर्क था। 450 ईस्वी का हलमिदी शिलालेख कन्नड़ भाषा का प्राचीनतम अभिलेख है। यद्यपि इससे पूर्व किसी भाषा का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी कन्नड़ से मिलती जुलती कोई भाषा अवश्य रही होगी। परंतु दूसरी शताब्दी के तमिल साहित्य में परोक्ष रूप से कन्नड़ भाषा का उल्लेख मिलता है। कर्नाटक के उत्तरी जिलों में पत्थरों पर उत्कीर्ण राजाज्ञाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र पर उत्तर

भारत की संस्कृति का प्रभाव अशोक के काल से ही रहा है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों से ही यह क्षेत्र परिचित था। जैन धर्म का कन्नड़ साहित्य और भाषा पर प्रभाव रहा है। संस्कृत साहित्य कर्नाटक में बहुत पहले पहुंच चुका था और महाकाव्यों के साथ साथ माघ, भारवी, बाण और भट्टनारायण की कृतियों से यह क्षेत्र परिचित था। साथ ही, प्राकृत ग्रंथों का परिचय भी इस प्रदेश ने प्राप्त कर लिया था। गुणाढ्य के 'बृहत्कथा' तथा हल के गाथा 'सप्तशती' जैसे ग्रंथों ने भी प्राचीन कन्नड़ लेखन को प्रभावित किया है। जैन धर्म का प्रभाव गहरा और व्यापक था। भूतबली, पुष्पदंत, वत्तकेर, सामंतभद्र आदि गुरुओं तथा अन्य विद्वानों के संस्कृत और प्राकृत में लिखे गये ग्रंथ बहुत समय तक कन्नड़ कवियों के लिए प्रेरणा के स्रोत रहे थे। इस प्रकार प्राचीन और मध्यकालीन कन्नड़ साहित्य के निर्माण में अनेक तत्वों का योग था जिनमें से कुछ तो विशुद्ध रूप से क्षेत्रीय थे और कुछ ऐसे भी थे जो भारत के अन्य भागों से उस क्षेत्र में पहुंचे थे। कन्नड़ साहित्य के विभिन्न चरणों अर्थात् प्राचीन, मध्य और आधुनिक काल के साहित्य में उन तत्वों का सम्मिश्रण दिखाई देता है जिन्हें मार्गी और देशी कहा गया है। विद्वानों ने स्थूल रूप से कन्नड़ साहित्य को पांच कालों में विभाजित किया है – (i) प्रारंभिक काल 850 ई. से पूर्व माना गया है; (ii) 850 ई. से 1150 ई. तक का काल प्राचीन काल माना गया है और इस पर जैन धर्म तथा साहित्य का प्रभाव है; (iii) 1150 ई. से 1500 ई. तक के काल को मध्य काल माना गया है; (iv) 1500 ई. से 1850 ई. तक के काल को उत्तर-मध्य काल माना गया है; तथा (v) 1850 ई. के बाद के काल को आधुनिक काल माना गया है। भारत के अन्य भागों की भांति इस क्षेत्र में भी साहित्य तथा कलाओं के विकास पर जैनवाद, वीर-शैववाद, ब्राह्मणवाद, और विशेषकर वैष्णववाद तथा भक्ति जैसे धार्मिक आंदोलनों का गहरा प्रभाव पड़ा था।

450 ई. से 850 ई. तक के काल के साहित्य में से अब कुछ भी उपलब्ध नहीं है। परंतु काव्य-प्रबंध 'कविराज मार्ग' (850 ई.) से इस काल की साहत्यिक शैलियों, छंद आदि के विषय में बहुमूल्य जानकारी मिल सकती है। इसके बहुत बाद के काल की साहित्यिक रचना यक्षगान के लिए ये तत्व कुछ अंशों में प्रासंगिक हैं।

कविराजमार्ग के लेखक के बाद अनेक लेखक हुए जिनमें असग सबसे महत्वपूर्ण हैं। कहा जाता है कि उन्होंने संस्कृत और कन्नड़ में आठ ग्रंथ लिखे जिसमें एक का शीर्षक था 'कर्नाटक कुमारसंभव'। दुर्भाग्यवश प्रसिद्ध लेखक गुणवर्म प्रथम के दो ग्रंथों 'शुद्रक' और 'हरिवंश' के बहुत थोड़े पद्य ही उपलब्ध हैं। दुख की बात है कि इन ग्रंथों के विषय में प्रत्यक्ष साक्ष्य बहुत थोड़ा है यद्यपि संकलनों में उनके उद्धरण मिल जाते हैं।

कविता के साथ साथ गद्य के ग्रंथ भी लिखे जा रहे थे। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है 'वद्दरधेने' (925 ई.)। इसमें उन्नीस जैन संन्यासियों की कथा है जिन्होंने मृत्यु का सामना करते हुए भी अपने चित्त को शांत रखा। वर्णन सरस, सजीव और ओजपूर्ण है तथा नैतिक उद्देश्य से परिपूर्ण। आरंभ में कथा-सार की प्रस्तुति एक परिपाटी बन गयी और संभवत: आगे चलकर इसने नाट्य-प्रस्तुति पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। आरंभ में कथा-सार प्रस्तुत करने की परिपाटी का निर्वाह भारत की अनेक नाट्य विधाओं में होता रहा।

यद्यपि इन ग्रंथों और अन्य ग्रंथों के लालित्य और सौंदर्य की चर्चा अपने आप में एक सुखद कार्य होगा, किंतु यक्षगान के अध्ययन के प्रसंग में इनकी चर्चा करने का उद्देश्य इस तथ्य की ओर संकेत करना है कि समकालीन यक्षगान में ऐसे अनेक तत्वों का समावेश हुआ है जिनके स्रोत प्राचीन कन्नड़ साहित्य, उसकी विषय वस्तु, काव्यशास्त्र, शैलीगत विशेषताओं तथा वर्णनात्मक गद्य विधाओं में ढूंढ़े जा सकते हैं। यद्यपि कुटियट्टम जैसे कलारूप की तुलना में यक्षगान एक तरुण साहत्य विधा प्रतीत होगी, तथापि इसमें ऐसे अनेक तत्व सुरक्षित हैं जिनके स्रोत उसकी अपेक्षा 700 वर्ष या इससे भी अधिक पुराने ग्रंथों में ढूंढ़े जा सकते हैं।

उपर्युक्त दो ग्रंथों के अतिरिक्त उसी काल में लिखा गया पम्पा (942 ई.) का प्रचुर और महत्वपूर्ण साहित्य है। यद्यपि पम्पा के पिता ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, तथापि उसने स्वयं संस्कृत और प्राकृत साहित्य का गहन अध्ययन किया था, विशेषकर रामायण और महाभारत का। उसे जैन दर्शन और संत-चरित तथा संगीत, नृत्य, नाटक, स्थापत्य, चित्रकला और शिल्पों का भी समान रूप से ज्ञान था। जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों में से प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ या पूर्णदेव की जीवनकथा पर आधारित उसका 'आदिपुराण' ग्रंथ इसका पर्याप्त प्रमाण है। यद्यपि उसने यह विषय जिनासन द्वितीय से लिया है तथापि

उसने अपनी इस रचना को एक नयी साहित्यिक और नैतिक अर्थवत्ता प्रदान की है। ललितांग की कथा से संबद्ध खंड में सुंदर दिव्य नर्तकी नीलांजना के नाचते हुए मृत्यु-पथ पर अग्रसर होने और इस प्रकार संसार को त्यागने के लिए आदिनाथ के मन को तैयार करने के प्रसंग का जिस नाटकीय रीति से वर्णन हुआ है वह पम्पा के अद्‌भुत कौशल का परिचय देती है। इस ग्रंथ से राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण तृतीय के सामंत और पम्पा के प्रश्रयदाता चालुक्य राजकुमार अरिकेशरी द्वितीय के शासनकाल में कलाओं की स्थिति पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है।

उसका दूसरा ग्रंथ 'पम्पा भारत' या 'विक्रमार्जुन विजय' भी समान रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि इस ग्रंथ में सर्वप्रथम वह प्रतिमान प्रस्तुत किया गया है जिसके अनुसार आगे चलकर कर्नाटक में महाभारत के विषय पर प्रचुर साहित्य की रचना की गयी। उसकी इस रचना का नायक अर्जुन है, किंतु वह राजकुमार अरिकेशरी भी है जो उसका संरक्षक था। इस प्रकार कथा निर्बाध और प्रभावपूर्ण रीति से दो स्तरों पर चलती है। एक स्तर पर यह पांडवों की कथा है और दूसरे स्तर पर चालुक्य राजकुमार की कथा भी है जो समसामयिक है। समय के अनेक आयाम लेकर चलने की परिपाटी इस प्रकार पम्पा ने ही शुरू की थी। आज भी यक्षगान में इस परिपाटी का निर्वाह कुछ सीमा तक होता है। दसवीं और 16वीं शताब्दी के बीच अनेक लेखक, कवि और नाटककार हुए। पोत्र और रत्न दोनों ही पम्पा के समकालीन थे और कन्नड़ साहित्य में दोनों का ही योगदान महत्वपूर्ण है। पोन्न के लिए 18वें तीर्थंकर शांतिनाथ नायक थे तो रत्न के लिए रामचंद्र। वीरों और पौराणिक चरित्रों के जीवन पर नाटकों की निर्भरता, जो यक्षगान की प्रमुख विशेषता है, प्रारंभिक काल के इन ग्रंथों की देन कही जा सकती है। राजा चावुंदरय (978 ई.) एक महत्वपूर्ण लेखक था जिसने 'त्रिषष्टि लक्षण महापुराण' की रचना की थी। यह तीर्थंकर पर लिखा गया एक महान ग्रंथ है। इसने संस्कृत में भी लिखा है। नागवर्मा प्रथम (990 ई.) ने बाण की 'कादंबरी' को आधार बना कर चंपु विधा में एक पुस्तक की रचना की थी। इसके अतिरिक्त उसने छंदशास्त्र की भी एक पुस्तक लिखी है। 11वीं शताब्दी में दुर्गासिंह ने 'पंचतंत्र' का कन्नड़ गद्य और काव्य में रूपांतरण किया। शांतिनाथ (1068 ई.) 'सुकुमार चरित' का लेखक था। यह पुस्तक सुकुमार और अवंती की जैन कथा पर आधारित थी और चंपु शैली में लिखी गयी थी। नागवर्माचार्य ने 1070 ई. में एक 'शतक' लिखा था। अंत में नागचंद्र का नामोल्लेख किया जा सकता है जो कवि था और जिसने 'पम्पा रामायण' की रचना की थी। वह स्वयं को अभिनव पम्पा कहता था। रावण के चरित्र को बहुत अधिक त्रासद ऊंचाइयों तक ले जाने की दृष्टि से उसकी इस रचना का बहुत महत्व है।

1150 ई. से 1400 ई. तक के काल में साहित्यिक गतिवधि बहुत अधिक थी। इस काल में जहां चंपु, शतक (गीत संकलन) और वर्णनात्मक गद्य में साहित्य लेखन होता रहा वहीं नयी विधाओं का प्रवर्त्तन भी हुआ। नवीन धाराएं मुख्यतः बसव के नेतृत्व में वीर शैवों के सुधारवादी आंदोलन के प्रभाव से प्रवाहित हुईं। बसव ने जनता की बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया और इसे साहित्यिक गरिमा प्रदान की। इन नवीन विधाओं में 'वचन' सबसे अधिक स्थायी विधा सिद्ध हुई। जैन तीर्थंकरों और महाभारत को लेकर अनेक ग्रंथ लिखे जाते रहे। महाकाव्यों, जातकों और जैन पुराणों के अनेक चरित्रों का सर्वथा नवीन दृष्टि से चित्रण निर्वचन किया गया। विद्वानों और आचार्यों द्वारा छंद शास्त्र, व्याकरण, गणित, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष आदि विषयों पर ग्रंथ लिखे जाते रहे। इसके बाद वैष्णव संप्रदाय के दास कवियों की रचनाएं सामने आयीं। कतिपय विद्वानों के मतानुसार इस धारा के प्रवर्त्तक श्रीपदराय (लगभग 16वीं शताब्दी) थे।

पंद्रहवीं और 16वीं शताब्दी का काल अनेक दृष्टियों से आकर्षक था। जहां कुमार व्यास जैसे लेखक कन्नड़ में 'भारत' और 'रामायण' लिख रहे थे, वहीं दास कवियों ने भक्त का नया उत्साह उत्पन्न किया। दास कवियों की रचनाएं तेलुगु की साहित्यिक गतिविधियों से जुड़ी हुई थीं। पहला यक्षगान (यद्यपि यह तेलुगु में था) 16वीं शताब्दी में पेद केम्प गौदन ने लिखा जिसे 'गंगा गौरी विलासम' कहा गया (1513-1569 ई.)। इसके बाद ही 17वीं शताब्दी में पुनरुत्थान का आरंभ हुआ और इसी काल में कर्नाटक, आंध्र और तमिलनाडु में यक्षगान विधा विकसित हुई। गेय आख्यान और नृत्य नाटक के रूप में आंध्र इस विधा से 15वीं शताब्दी से ही परिचित था। आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में 17वीं और 18वीं शताब्दी में महत्वपूर्ण साहित्यिक गतिविधियां दृष्टिगत होती हैं। यह स्वाभाविक ही था कि कन्नड़ का भी इनसे सक्रिय संपर्क होता। यह विधा थोड़े ही बाद के काल के 'प्रबंध नाटक' से भी जुड़ी हुई थी।

इस संक्षिप्त साहित्यिक सर्वेक्षण से कोई भी उन साहित्यिक स्रोतों के संबंध में आश्वस्त हो जायेगा जिनसे नाट्य कलाकार (संगीतकार, नर्तक, नाटककार) अपने लिए कुछ न कुछ ग्रहण कर सकता था। जैन और हिंदू धर्मों से संबद्ध विषयों से वह परिचित था। साहित्य रूपों में वणनात्मक महाकाव्य से लेकर गीति-काव्य और शुद्ध गद्य तक और रचना विधाओं में चंपु और शतक से लेकर वचन और प्रबंध तक का वैविध्यपूर्ण साहित्य उपलब्ध था। इसके अतिरिक्त शतपदी का गीति-काव्य और दास कवियों के कीर्तन या पद थे जिनसे नाट्य कलाकार बहुत कुछ ग्रहण कर सकता था। संगीत रूप साहित्यिक रचनाओं, विशेषकर रगले, त्रिपदा और शतपदी जैसे विशिष्ट कन्नड़ छंदों से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे।

इस प्रकार कन्नड़ में यक्षगान के रचनाकार को स्थानीय और क्षेत्रीय साहित्यिक परंपराओं पर आधारित किसी नाट्य विधा के विकास के लिए कर्नाटक और पड़ोसी क्षेत्रों में उपलब्ध सामग्री पर दृष्टि भर डालने की आवश्यकता थी। संस्कृत परंपरा को क्षेत्रीय साहित्य पहले ही आत्मसात कर चुका था। निस्संदेह 'मार्गी' और 'देशी' के विवाद ने विषय और रूप दोनों में एक विशिष्ट क्षेत्रीय स्वरूप को जन्म दिया था। बसव से लेकर पुरंदरदास तक के साहित्य से यह बात सिद्ध होती है। इस प्रकार यक्षगान की नाट्य विधा को इन साहित्यिक गतिविधियों की कथित परंपरा में एक दृश्य चित्रण मानना चाहिए। आलोचकों ने इसे विशुद्ध यक्षगान की संरचना और संस्कृत तथा कन्नड़ साहित्य का सूक्ष्म विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जायेगा कि लिखित और कथित में दो समानांतर साहित्य धाराएं असंदिग्ध रूप से परस्पर जुड़ी रही हैं। विद्वानों का मत है कि कन्नड़ का प्रथम नाटक 'मित्र-विंद-गोविंद' (श्री हर्ष के 'रत्नावलि' पर आधारित) 17वीं शताब्दी में लिखा गया था। यह सच हो सकता है, किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि नाटकीय वर्णनात्मक रूप कन्नड़ में एक पुराना रूप है।

शीघ्र ही इसके पश्चात साहित्यिक गतिविधियों में उतार आने लगा और नाट्य विधा के रूप में यक्षगान को पुनः लोकप्रियता 18वीं शताब्दी में ही प्राप्त हो सकी। फिर भी नाटक लिखे जाते रहे, किंतु ये मुख्यतः नाट्य प्रस्तुति के लिए तैयार की गयी पाडुंलिपि के रूप में ही लिखे जाते थे। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि संपूर्ण विधा के रूप में यक्षगान का आविर्भाव दक्षिण कनारा में ऐसे समय में हुआ जो अत्यधिक राजनीतिक अशांति और सामाजिक उथल पुथल का समय था। सदाशिव नायक (1544-1565 ई.) तुलु राज्य कहलाने वाले इस क्षेत्र का शासक था और वह पुर्तगालियों तथा अन्य शक्तियों द्वारा उत्पन्न खतरों का सामना करते हुए शासन कर रहा था। उसके उत्तराधिकारियों अर्थात् वेंकटप्पा नायक और वीरभद्र नायक (1629-1641 ई.) के शासनकाल में, विशेषतः वीरभद्र नायक के शासनकाल में राज्य में बहुत उथल पुथल मची हुई थी। अठाहरवीं शताब्दी का एक बड़ा भाग भी राजनीतिक संघर्ष का काल था जो लगभग 1768 ई. अर्थात् अंग्रेजों के इस क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व तक बना रहा। हैदर अली और टीपू सुलतान की भूमिका सुविदित है और उसकी चर्चा आवश्यक प्रतीत नहीं होती।

यदि हमने उस समय के राजनीतिक इतिहास की संक्षिप्त चर्चा की है तो केवल इस तथ्य पर बल देने के लिए कि भारत में अनेक नाट्य विधाओं का विकास राजनीतिक संघर्ष और सामाजिक उथल पुथल के समय में ही हुआ है और उनके पीछे मृत अतीत में अध्यात्मिक रुचि लेने की अपेक्षा समसामयिक स्थितियों से निपटने की ही अनिवार्यता अधिक रही है। यह स्वाभाविक ही था कि ऐसे समय में जब स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला की महान परंपराओं से सजीव संबंध टूट चुका था और जनता को भावात्मक सुरक्षा की दृष्टि से भीषण संकट का सामना करना पड़ रहा था, नाटक के माध्यम से जन संपर्क के दृढ़ सूत्र विकसित किये गये। रंगमंच ने जनता को इस स्थिति में उसी प्रकार बल दिया जिस प्रकार माधवाचार्य के द्वैत संप्रदाय जैसे दर्शन संप्रदायों ने और वीर-शैववाद तथा भक्ति आंदोलन जैसे धार्मिक, सामाजिक आंदोलनों ने उसे शक्ति प्रदान की थी। पुरातन कर्मकांडों के साथ साथ, धार्मिक कार्यकलाप लोकप्रिय और गूढ़ दोनों स्तरों पर चलते रहे। लोकप्रिय स्तर पर नागमंडल के रूप में पूजा और भूत पूजा इस क्षेत्र की विशिष्टता है और ये दोनों रूप बहुत प्राचीन हैं। प्रत्येक गांव के अपने भूत स्थान होते हैं जिनका उद्‌गम इतिहास-पूर्वकाल में ढूंढ़ा जा सकता है।

यद्यपि प्रकटतः यक्षगान और इन कर्मकांडों के बीच कोई संबंध दिखाई नहीं देता या बहुत थोड़ा संबंध दिखाई देता है, तथापि यह मान लेना सही नहीं होगा कि इन दोनों के बीच वस्तुतः कोई संबंध नहीं है। यह बात ध्यान में रहनी चाहिए कि यह नाट्य रूप रंगमंच, नृत्य और नाटक की उन अनेक कर्मकांडगत परिपाटियों तथा धर्मनिरपेक्ष परंपराओं में से एक है जो

प्राचीन काल से ही इस क्षेत्र में फूलती फलती रही हैं। इन विभिन्न प्रकार की परिपाटियों में से प्रत्येक का स्पष्ट क्षेत्र निर्धारण इस प्रकार नहीं किया जा सकता कि उसे जनजातीय, ग्रामीण और नगरीय अथवा दरबार तथा मंदिरों से संबद्ध कलारूप की संज्ञा दी जा सके। और, न ही पूरे विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि कुछ विशेष कलारूपों पर ब्राह्मण और क्षत्रिय या आज की अनुसूचित जातियों जैसी कुछ विशेष जातियों का एकाधिकार था। वर्गों और सामाजिक आर्थिक स्तरीकरण के संदर्भ में जनजातीय, ग्रामीण और नगरीय स्तरों पर इन कलारूपों के सर्वांगपूर्ण सर्वेक्षण का प्रयत्न अभी नहीं किया गया है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि एक विकसित नृत्य नाटक के रूप में यक्षगान को सार्वजनिक मान्यता प्राप्त होने के पूर्व भी संस्कारगत पूजा के अनेक अन्य रूपों का सह-अस्तित्व था जैसे नागमंडल या भूतपूजा अथवा कुरुबि, मरत, कुदिया आदि जनजातियों के नृत्य। संस्कारगत नृत्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के कारण व्यावसायिक वर्गों का सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान होता है जैसे दोदाबों और नाटकों का।

हम पुनः यक्षगान पर लौटें। हम देखते हैं कि उपर्युक्त अनेक साहित्यिक कृतियों की सहायता से यक्षगान का इतिहास पुनर्निर्मित किया जा सकता है। अब तक हमने इन साहित्यिक कृतियों की चर्चा एक साहित्य विधा के रूप में यक्षगान के विकास के संदर्भ में ही की है। परंतु नाट्य विधा के रूप में यक्षगान पर प्रकाश डालने की दृष्टि से भी यह सामग्री बहुत रोचक और उपयोगी है।

कुछ विद्वानों के अनुसार वज्रनाभासुर वध के लिए छल के रूप में रामायण की नाट्य प्रस्तुति का जो वर्णन 'हरिवंश पुराण' में किया गया है वह यक्षगान के संबंध में पहला संकेत है। उसमें उल्लिखित भागवत मेला ओपेरा नाट्य रूप के सदृश रूप हो सकता है। परंतु यह निष्कर्ष ग्रहण करना कदाचित सही नहीं होगा कि हरिवंश की नाटिका और यक्षगान में सीधा संबंध है। शिलालेखों और ऐतिहासिक अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि सामान्यतः नृत्य नाटिका का प्रचलन था, शुद्ध नृत्य और नाटक (नाट्य) में अंतर किया जाता था और संगीत-शैलियों का विकास हो रहा था। पट्टडकल के शिलालेखों से हमें 8वीं शताब्दी के एक नटसेव्य की जानकारी मिलती है जो अभिनय और नृत्य दोनों में निपुण था। नर्तक और नट दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुगुद शिलालेख (धारवाड़ के निकट 1045 ई.) में नाटकशाला का उल्लेख है। परंतु यक्षगान का प्रथम निर्णायक और सम्यक उल्लेख केवल 12वीं शताब्दी की कृति 'चंद्रप्रभा पुराण' में मिलता है। 'मल्लिकानाथ पुराण' (जो कुछ वर्षों बाद की रचना है) में भी इसका उल्लेख मिलता है। सोलहवीं शताब्दी में कवि रत्नाकर वर्णी ने अपनी कृति 'भारतेष-वैभव' में इसकी चर्चा की है।

गोविंद दीक्षित की 'संगीत सुधा' (1628 ई.) में भी इसका उल्लेख है। इन सबमें यक्षगान के संबंध में जो कुछ लिखा गया है उससे प्रकट होता है कि पहले यह एक गेय आख्यान था और एक समुन्नत संगीत शैली का रूप इसने आगे चलकर 17वीं शताब्दी में ग्रहण किया। आगे चलकर नाट्य रूप ने संगीत शैली का नाम अपना लिया। यक्षगान संबंधी विशेष उल्लेखों में उपर्युक्त कन्नड़ ग्रंथों के नृत्य, संगीत और नाटक संबंधी असंख्य उल्लेख सम्मिलित माने जाने चाहिए।

यह बात सहज लगेगी कि इस नाट्य रूप की पूरी पृष्ठभूमि को समझने के लिए सामान्यतः भारत के और विशेषकर कर्नाटक के ऐतिहासिक विकास पर विचार करना आवश्यक है। समाज के विभिन्न स्तरों पर अनेक कला रूपों का विकास समानांतर रूप से हो रहा था। संस्कृत (मार्गी) परंपरा और क्षेत्रीय (देशी) रूपों, दोनों से संबद्ध साहित्यिक और संगीतात्मक शैलियां साथ साथ विकसित हो रही थीं।

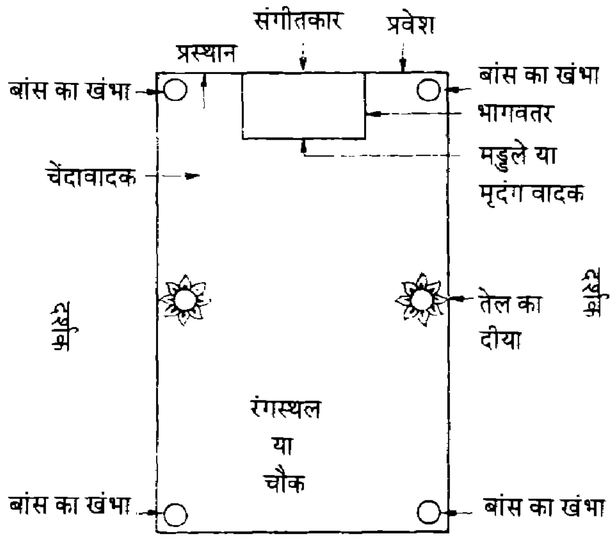
यक्षगान को शास्त्रीय स्वीकृति मुख्यतः 17वीं शताब्दी के एक ग्रंथ 'सभा लक्षण मट्टु प्रसंग' से मिली है। तेलुगु और तमिल के यक्षगान लेखकों के अतिरिक्त कर्नाटक में यक्षगान लेखकों की संख्या बहुत अधिक थी और यह क्रम 20वीं शताब्दी तक बना रहा। इनमें लक्ष्मीनारायण उपनाम मुद्दन, संतिबनदेसिकर, पर्ति सुभ और तिम्न विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सभी शुद्ध साहित्यिक नाटकों के लेखक न होकर नाट्य प्रस्तुति के लिए अपेक्षित पांडुलिपियों के लेखक थे। तथापि उनकी सृजनशीलता पर उन साहित्यिक गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाना चाहिए जिनकी रूपरेखा ऊपर दी गयी है, क्योंकि यह तथाकथित लोक-नृत्य (अधिकांश आलोचकों ने यही संज्ञा दी है) बृहतर सांस्कृतिक विकास का एक महत्वपूर्ण पक्ष था।

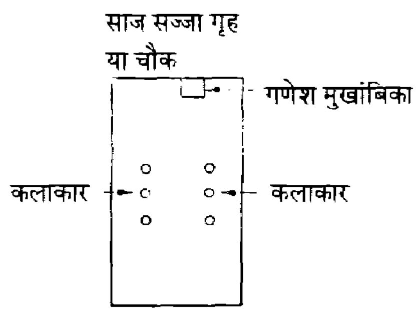
इस परिधि में हमें वर्तमान यक्षगान को समझना है जो पूर्णतः तो नहीं, किंतु मुख्यतः मंदिरों से संबद्ध और भागवतर

(भागवत) कहे जाने वाले ब्राह्मण वर्ग के संरक्षण में जीवित है । निस्संदेह आज भी देवस्थानम या मंदिर प्रशासन द्वारा ही इसका अनुरक्षण किया जाता है ।

प्रस्तुति

यद्यपि शिलालेखों और साहित्य ग्रंथों में नाटकशाला या नर्तकशाला शब्दों का उल्लेख हुआ है, फिर भी केरल के कुटियट्टम के विपरीत आज यक्षगान की प्रस्तुति खुले स्थान पर की जाती है । साथ ही, कथकलि के विपरीत इसकी प्रस्तुति कभी कभी ऊंचे मंच पर की जाती है । कथकलि की प्रस्तुति भी खुले स्थान पर की जाती है, किंतु भूमितल वही होता है जो दर्शकों के लिए होता है । रंगमंच आयताकार होता है या वर्गाकार । आयताकार होने की स्थिति में लंबाई 16 फुट और चौड़ाई 20 फुट होती है और वर्गाकार होने की स्थिति में प्रत्येक पार्श्व 16 फुट या 20 फुट होता है । चारों कोनों पर एक एक खंभा गाड़ दिया जाता है । केले के पेड़ों के तने और पत्तियां खंभे से बांध दी जाती हैं । रंगमंच के दोनों पार्श्वों पर बीच में एक एक दीया रख दिया जाता है । रंगमंच के पश्च भाग में भीच में भागवतर बैठता है जो नाटक का मुख्य निर्देशक, पाठकर्ता और संचालक होता है । वह करताल लिए रहता है और एक मड्डुलेवादक (ढोल बजाने वाला) और एक शुर्तिवादक उसकी संगत करते हैं । अब हारमोनियमवादक और कभी कभी बांसुरीवादक भी रंगमंच पर दिखाई देने लगे हैं । उनके दाहिनी ओर कुछ दूरी पर





चेंदावादक बैठता है । दर्शक रंगमंच के तीनों ओर बैठते हैं । रंगमंच के पीछे बहुत सारा खुला स्थान होता है जो अंधकार में डूबा रहता है जिससे कि प्रवेश और प्रस्थान शीघ्रता से किया जा सके । रंगमंच का आकार कुछ इस तरह का होता है :

कुछ दूरी पर एक फूस की झोपडी होती है जो नेपथ्य का काम देती है । यहां अभिनेता समानांतर पंक्तियों में गणेश की मूर्ति के सामने जमीन पर बैठते हैं । अभिनय क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व वे गणेश की पूजा करते हैं । कभी कभी यह मूर्ति गणेश की न होकर मुखांबिका की होती है । नाटकों की प्रस्तुति नवंबर से मई तक की अवधि में होती है जब फसल की कटाई हो चुकी होती है । इस अवधि में कदाचित ही कोई दिन हो जब कर्नाटक के हरे भरे गांवों में यक्षगान के ढोलों का स्वर सुनाई न दे ।

चेंदे का स्वर गूंजता है, मड्डुले पर थाप पड़ती है और भागवतर का गायन आरंभ होता है । नाटक का पूर्वरंग कुटियट्टम

के पूर्वरंग का स्मरण कराता है, किंतु दोनों पूर्णतया एक जैसे नहीं हैं। यक्षगान में पूर्वरंग को सभालक्षण कहा जाता है और इसके तीन भाग होते हैं। पहले भाग में नेपथ्य में गणेश या मुखांबिका का आह्वान किया जाता है। फिर भागवतर रंगमंच पर एक श्लोक का गायन करता है और विदूषक (जिसे हनुमनायक कहते हैं) तथा उसके परिजनों (जिनमें नवयुवक होते हैं और जिन्हें कोदंगि कहा जाता है) के बीच एक संवाद होता है। दूसरे भाग में हनुमनायक और भागवतर के बीच एक संवाद होता है। अंतिम अर्थात् तीसरे भाग में भागवतर फिर एक श्लोक का गायन करता है और दो युवा नर्तक बाल-गोपाल तथा कृष्ण-बलराम प्रवेश करते हैं और एक शुद्ध नृत्यमाला प्रस्तुत करते हैं। प्रायः सत्यभामा और रुक्मिणी के रूप में दो महिला चरित्रों (स्त्री वेश) की ओर से लास्यमाला की प्रस्तुति होती है। यह भी शुद्ध नृत्य (नृत्त) है और बाल-गोपाल तथा स्त्रीवेश दोनों के नृत्य में नृत्य की एक संपन्न शिल्पाविधि का पर्याप्त प्रमाण मिलता है।

कुटियट्टम की संस्कारगत परिपाटियां यहां दृष्टिगत नहीं होतीं, यद्यपि पूर्वरंग की योजना बहुत व्यापक और अत्यधिक संरचनाबद्ध होती है। इनमें खुले रंगमंच का जो भाव है वह इसे कर्मकांडीय पूजा से भिन्न कर देता है। पूर्व रंग समाप्त होने पर भागवतर या भागवत संध्या के मुख्य नाटक अर्थात् प्रसंग से काव्य का सस्वर पाठ करना आरंभ करता है। भागवतर के गायन के माध्यम से प्रत्येक चरित्र का परिचय दिया जाता है। पात्र के प्रवेश की घोषणा परदे के पीछे छिपे एक अभिनेता द्वारा की जाती है। इस पर्दे को दो व्यक्ति पकड़े रखते हैं। भागवतर का गायन और रंगमंच के पीछे अभिनेता नर्तक की प्रस्तुति कुटियट्टम और कथकलि के परुप्पदु और सरलीकृत रूप में कुटियट्टम के निर्वाहण के समतुल्य है। यद्यपि पूर्व जन्मों के संबंध में कोई पूर्व दृश्य नहीं होते, तथापि पात्र के लिए अनेक समानार्थक शब्दों और गुणवाचक नामों का प्रयोग किया जाता है और श्लोकों में पात्र की मुख्य विशेषताओं, उसके पराक्रम और वीरता आदि का वर्णन किया जाता है। यह भाग ओड्डोलग कहलाता है। परदे के पीछे प्रत्येक अभिनेता झुकता है और एक विशेष नृत्तमाला प्रस्तुत करता है। उसकी पीठ दर्शकों की ओर होती है और कभी कभी केवल अपने भव्य शिरोभूषण को प्रदर्शित करके वह हट जाता है। उदाहरण के लिए, पांच पांडवों की शृंखला में प्रत्येक भ्राता प्रथमतः अकेले ही प्रवेश करता है और भागवतर के गायन तथा नृत्त अंश के बोलों के साथ अपनी भूमिका निभाता है। प्रत्येक बोल का समापन समतुकांत तिहाई में होता है। फिर पांचों भ्राता एक साथ परदे के पीछे प्रकट होते हैं, किंतु बहुधा नीचे खींच कर परदे की चौड़ाई कम कर दी जाती है और उसकी ऊंचाई कमर तक रह जाती है। फिर परदा खींच कर हटा दिया जाता है और दर्शक पार्श्व में रखे दीपक के प्रकाश में अभिनेताओं को उनकी रंगबिरंगी पोशाक और देदीप्यमान शिरोभूषण में पूरी तरह से देख सकते हैं। ओड्डोलग अर्थात् प्रत्येक पात्र का वर्णन इस प्रकार का होता है कि नाटक के अन्य पात्रों से वह स्पष्ट रूप से पृथक् दिखाई देता है। इस प्रकार यह वर्णन नाटक का स्वर निर्धारण करता है। सच्चरित्र पात्र घूम घूमकर नृत्य करता है जबकि राक्षस गरजता, चीखता है और विरूप चेष्टाएं प्रदर्शित करता है। कुछ समकालीन प्रस्तुतियों में दांत पीसने जैसी चेष्टाएं भी सम्मिलित हैं।

प्रसंग अर्थात् कथा भागवतर या भागवत के काव्यांश गायन और उसके तथा किसी पात्र के बीच गद्य संवाद तथा विभिन्न पात्रों के परस्पर संवाद के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है। सामान्यतया काव्यांश गायन के साथ अत्यधिक वर्णनात्मक और सरल प्रकार का आंगिकाभिनय किया जाता है। हस्तसंचालन का स्वरूप बहुत सुपरिष्कृत या जटिल नहीं होता, फिर भी वह इस नृत्य रूप को एक विशिष्ट शैलीकरण से संपन्न करने में समर्थ है। नृत्त अंगों की प्रस्तुति चेंदे और मड्डुले की संगत पर की जाती है और बीच बीच में सस्वर पाठ और गीत के अंश भी रहते हैं। यक्षगान में बोलों की योजना की अपनी ही विशिष्टता है, यद्यपि इनमें और दक्षिण की कुछ अन्य नृत्य शैलियों जैसे भरतनाट्यम, भागवतमेला और भामकलापम में दिखाई देने वाले पद संचालन विन्यास में अस्पष्ट साम्य है।

नृत्य विधि अर्धमंडली से मिलती जुलती एक आधारभूत मुद्रा है, किंतु यहां इसकी उतनी अनिवार्यता नहीं है जितनी कि भरतनाट्यम या भागवतमेला में। तथापि चलने, खड़े होने और बैठने के अनेक प्रकार हैं जो निश्चित रूप से शैलीकरण के सूचक हैं। पशु पक्षियों की गति का भी बहुत प्रभावशाली ढंग से उपयोग किया जाता है। अर्धमंडली के अतिरिक्त, जिसमें थोड़ा उकड़ू बैठने की स्थिति होती है और जांघें तथा घुटने बाहर को मुड़े होते हैं, मंडल स्थान जैसी मुद्राएं भी कुछ स्थितियों में दृष्टिगत होती हैं। ये गति और शैलीकृत स्थितियां नाट्यशास्त्र में उल्लिखित चारि और गति का स्मरण कराती हैं। मुद्राएं

नाट्यशास्त्र में 'मंडल' और 'स्थान' हैं। ऊंची कूद, घिरनी खाने की स्थिति और घुटनों पर घिरनी खाने की एक विशेष प्रकार की स्थिति जिसे मंडी नाट्यशास्त्र के जानुभयम के सदृश कहते हैं, अनेक प्रसंगों में दिखाई देती हैं। यह मंडी या मंडली मणिपुर और वृन्दावन के रास नृत्यों में भी दृष्टिगत होती है। शरीर के भार को एक पांव पर सहा जाता है जैसा कि भारत की अनेक अन्य नृत्य शैलियों में भी देखा जा सकता है। आठ के अंक, वर्ग और अर्धवृत्त की आकृतियों के नृत्यपरक विन्यासों की बहुलता है। अभिनेता नर्तक तथा भागवतर को नृत्त तथा अभिनय अंशों में तात्कालिक परिवर्तन कर लेने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है।

जो अंश गेय हों या जिनका सस्वर पाठ किया जाता है उनमें छंदों का उपयोग किया जाता है। संस्कृत छंद आर्य का उपयोग किया जाता है जिससे वर्णन की गति को द्रुत करने में सहायता मिलती है। देवी-देवताओं की स्तुति में वृत्त का उपयोग किया जाता है। विशिष्ट कन्नड़ छंदों जैसे द्विपदी, भामिनी, शतपदी का उपयोग वर्णन और अंतःसंबंध स्थापित करने के लिए किया जाता है। छह मूल तालों का उपयोग किया जाता है। 'एक' में चार मात्राएं, 'झांप' में पांच, 'रूपक' में छह, 'त्रिपुत' में सात, 'आदि' में आठ और 'आष्ट' में चौदह मात्राएं होती हैं। इन पर सममित और असममित प्रतिरूप पर्याप्त रूप से बुने जा सकते हैं। बोलों में बहुत अधिक प्रबलित और अप्रबलित ध्वनियां होती हैं और उनकी समाप्ति तिहाई पर होती है।

छंद व्यवस्था, लय और ताल नृत्य में विभिन्न प्रकार के अंग संचालन के लिए आधार सुलभ कराते हैं। इनमें गीतात्मक अंग संचालन से लेकर वीरोचित और भयानक अंग संचालन तक सम्मिलित हैं। इन तत्वों के अंतर्गुम्फन से अंग संचालन के अत्यधिक विशिष्ट गुच्छ उत्पन्न हुए हैं। शृंगारिक प्रसंगों में एक प्रकार की लय और छंद योजनाओं का उपयोग किया जाता है। युद्ध के दृश्यों में अन्य प्रकार की लय और छंद योजनाओं का उपयोग किया जाता है जो बहुत जटिल और प्रभावोत्पादक होती हैं। कथकलि की लय और छंद योजनाओं और इनमें बहुत साम्य है।

संगीत तत्व भी समान रूप से समृद्ध है। हिंदुस्तानी संगीत और कर्नाटक संगीत दोनों की परंपराएं कर्नाटक को मिली हैं और इन दोनों को उसने विकसित किया है। यक्षगान इसका पर्याप्त प्रमाण है। कहा जाता है कि यक्षगान के भंडार में लगभग 150 राग हैं। यक्षगान के भंडार को पुनरुज्जीवित करके और साथ ही अनेक रागों की पुनर्रचना करके डा. शिवराम कारंथ ने एक बहुमूल्य सेवा की है। उन्होंने ऐसे साठ राग एकत्र किये हैं जो कर्नाटक संगीत, हिंदुस्तानी संगीत और शुद्ध कन्नड़ संगीत की तीन भिन्न भिन्न धाराओं का सामंजस्यपूर्ण सम्मिश्रण हैं। इनमें मचलि या गोपनिते हैं जो शुद्ध कन्नड़ हैं। कोर्वे जैसे अन्य राग कर्नाटक संगीत के कुरवंजि से मिलते जुलते हैं और द्विलजवंति जैसे राग हिंदुस्तानी संगीत के जैजैवंती के ही परिवर्तित रूप हैं। यमन कल्याण, तोड़ी, केदार, गौर्त, आनंद भैरवी, शंकराभरमणम और कल्याणी सामान्य और लोकप्रिय हिंदुस्तानी तथा कर्नाटक राग हैं।

यक्षगान के भंडार में लगभग 60 नाटक हैं। ये सभी रामायण, महाभारत और भागवत पुराण पर आधारित हैं। यह उल्लेखनीय है कि जैन विषय पूर्णतया लुप्त हो चुके हैं। डा. कारंथ ने 18वीं और 19वीं शताब्दी की अनेक पांडुलिपियां ढूंढ निकाली हैं जो यक्षगान के भंडार को और समृद्ध कर सकती हैं। कन्नड़ का विशिष्ट पुट लिये रामायण और महाभारत के विषय ही प्रमुख आधार हैं जिस पर नाट्य परिदृश्य का निर्माण हुआ है।

इन नाटकों की साहित्यिक संरचना का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जायेगा कि यक्षगान का लेखक उन सभी साहित्यिक शैलियों और विधियों का उपयोग कर रहा था जो पूर्ववर्ती काल के कवियों और लेखकों ने विकसित की थीं। यद्यपि 'चंपु' का अस्तित्व अब नहीं रहा, फिर भी 'वचन' रूप का प्रायः उपयोग किया जाता है। 'प्रबंध' रूप से यक्षगान का संबंध असंदिग्ध है।

कुटियट्टम की भांति यक्षगान भी यद्यपि अपेक्षाकृत कम शैलीकृत रूप में – शुद्ध लय, सस्वर पाठ, पद्यांशों और गद्य संवादों के गायन की संरचना का अनुसरण करता है। इनमें नृत्त के अंशों का छितराव रहता है और ये सभी जाने पहचाने छंदों, लयात्मक रचनाओं और रागों के सूत्र में बंधे होते हैं।

आज के यक्षगान का एक विशेष प्रचलित रूप बायलाटा कहलाता है। यह नाम एक संगीत रचना से ग्रहण किया गया

है और इसका अर्थ है खुले रंगमंच का नाटक।

यक्षगान का सबसे भव्य पक्ष है उसकी रूपसज्जा, वेशभूषा और शिरोभूषण आदि जो अभिनेताओं को पारलौकिक चरित्रों में परिवर्तित कर देते हैं और इस प्रकार आकाश तथा अधोलोक का भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। कुटियट्टम और कथकलि की भांति यक्षगान के पात्र भी कुछ वर्गों में बंटे होते हैं। एक वर्ग नायक का है जो संस्कृत नाटक के धीरोदात्त चरित्रों से मिलता जुलता है। कृष्ण, बलराम, राम, अर्जुन और कर्ण इसी वर्ग के चरित्र हैं। दूसरा वर्ग रौद्र मनोदशा वाले भीम, इंद्र या गय (गंधर्व) जैसे चरित्रों का है। तीसरे वर्ग में शिकारी, आदिवासी आदि (जैसे किरात का चरित्र) आते हैं। फिर, रावण और कुंभकर्ण जैसे चरित्र हैं जो वीर और साहसिक तो है, किंतु विनाशकारी और दुष्ट स्वभाव के हैं। एक अन्य वर्ग रावण के भाई विभीषण या रावण के पुत्र अतिकाम जैसे चरित्रों का हैं। इनकी वेशभूषा और रूपसज्जा अन्य पात्रों से भिन्न प्रकार की होती है। फिर, एक विशेष वर्ग वीरभद्र और नरसिंह (विष्णु के अवतार) तथा अन्य अवतारों का है जो पाप के विनाश के लिए आकार ग्रहण करते हैं। इन नायकों और प्रतिनायकों के अतिरिक्त हनुमान, बाली, जंबुवान जैसे चरित्र भी हैं जिनकी रूपसज्जा और शिरोभूषण विशेष प्रकार के होते हैं। एक वर्ग ऋषियों या गुरुओं जैसे चरित्रों का भी है जो कथकलि के मित्रक्कु से मिलते जुलते चरित्र हैं। नारी पात्रों की भूमिका में शैलीकरण का प्रयास नहीं किया जाता है और प्रायः उन्हें यथार्थ रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है।

यद्यपि रूपसज्जा की दृष्टि से भारत में अनेक परंपराएं हैं तथापि कथकलि और यक्षगान में इसकी सर्वाधिक विकसित विधियां मिलती हैं। इनमें रंग प्रतीकात्मकता की जो योजना है उसका अधिक अध्ययन और विश्लेषण आवश्यक है।

यक्षगान की वेशभूषा और रूपसज्जा हमारे समक्ष अनेक समस्याएं लाती हैं। अनेक इतिहासवेत्ताओं का विचार है कि यह रूपसज्जा और शिरोभूषण 16वीं और 17वीं शताब्दी में हुई कुछ घटनाओं के परिणामस्वरूप विकसित हुए हैं। परंतु यदि हम 13वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक के काल की तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल की मूर्तियों को ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि अनेक चरित्रों, विशेषतः द्वारपाल और अन्य नायकों के जो शिरोभूषण दिखाए गये हैं उनमें और यक्षगान के शिरोभूषणों में बहुत अधिक साम्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि समकालीन यक्षगान की वेशभूषा और शिरोभूषण की अनेक विशेषताएं 13वीं शताब्दी से निरंतर चली आ रही हैं।

तीनों क्षेत्रों की इन मूर्तियों से जिस तथ्य का प्रमाण मिलता है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि ऐसे शिरोभूषणों और आभूषणों का उपयोग करने वाली किसी नाट्य विधा से दक्षिण भारत के अनेक भाग संभवतः परिचित थे। परंतु इस साक्ष्य की पुष्टि साहित्य या शास्त्रीय ग्रंथों से नहीं होती। अतः निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। विभिन्न नाट्य विधाओं की रूपसज्जा, वेशभूषा और आभूषणों पर अब तक जितना अन्वेषण कार्य हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। इस दिशा में और अधिक प्रयास की आवश्यकता है।

समकालीन यक्षगान में रूपसज्जा के उन्हीं सिद्धांतों का अनुसरण किया जाता है जिसका अनुसरण कथकलि में किया जाता है। परंतु यह सादृश्य ऊपरी है। अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि कुछ विद्वानों की यह धारणा सही नहीं है कि रूपसज्जा की दृष्टि से यक्षगान कथकलि का अनुकरण मात्र है। वस्तुतः यक्षगान ने रूपसज्जा की अपनी विशिष्ट शैलियां विकसित की हैं जो कथकलि का अनुकरण मात्र नहीं कही जा सकतीं।

व्यक्ति के चेहरे को किसी विशेष पात्र के चेहरे में बदलने के लिए रूपसज्जा का उपयोग करने के सिद्धांत एशिया की अनेक नाट्य विधाओं में समान रूप से दृष्टिगत होते हैं। अन्य नाट्य रूपों के साथ साथ जापानी काबुकी तथा चीनी ओपेरा में इन सिद्धांतों का अनुसरण किया जाता है। भारत में कुटियट्टम, कथकलि और यक्षगान के अतिरिक्त कर्मकांड और उपासना के अनेक नृत्य हैं जिनमें जीवन से भिन्न रूप उत्पन्न करने का जान बूझकर प्रयत्न किया जाता है। भगवती उपासना के नृत्यों, केरल के तेयट्टम और तेरियट्टम और तुलु देश के अनेक अन्य नृत्यों में रूपसज्जा की जटिल विधियों का अनुसरण किया जाता है। इनकी तुलना में कथकलि, कृष्णाट्टम और यक्षगान की रूपसज्जा सादी भी है और अधिक परिष्कृत भी।

यक्षगान में पहले चेहरे को एक आधारभूत रूपसज्जा से ढक दिया जाता है। उस पर विभिन्न रंगों की रेखाएं खींची जाती हैं, विशेषकर लाल, काले और सफेद रंग की रेखाएं। कथकलि में नायकों की वीरता और शौर्य की मनोदशा के लिए

आधारभूत रंग हरा (पच्च) है। यक्षगान में इसके लिए गुलाबी और पीला रंग है। गालों की हड्डियों, गालों और ठुड्डी पर पहले गुलाबी रंग के घोल की एक परत चढ़ा दी जाती है। यह घोल नारियल के तेल, पानी, चावल की लेई और चूने को मिलाकर किया जाता है। इस परत पर पात्र की विशेषताओं और मनोदशाओं को प्रदर्शित करने के लिए विभिन्न प्रकार की रूपरेखाएं अंकित की जाती हैं। नकुल या सहदेव जैसे तरुण राजकुमारों के लिए आंखों के पास एक बड़ा भाग सफेद रंग दिया जाता है। सफेद रंगे भाग के चारों ओर लाल रेखा खींच दी जाती है। माथे पर लाल, सफेद और काले रंग का एक बड़ा तिलक होता है। तिलक का आकार-प्रकार विभिन्न पात्रों के लिए अलग अलग होता है और बहुधा इसी की सहायता से किसी विशेष पात्र को पहचाना जा सकता है। कप्पु (काजल) लगाकर आंखें और भौंहें बड़ी कर दी जाती हैं, किंतु रूपरेखाएं कथकलि या कृष्णाट्टम से सर्वथा भिन्न होती हैं। होंठ लाल रंगे जाते हैं और इसके लिए एक लेई का उपयोग किया जाता है जिसे केम्पु कहते हैं। बाल-गोपाल, लव-कुश, कृष्ण, अभिमन्यु आदि चरित्रों के लिए इस साधारण योजना का उपयोग किया जाता है जिसमें मूंछों की आवश्यकता नहीं होती। अर्जुन, युधिष्ठिर आदि वीर चरित्रों के मामले में रंगकर काली मूंछें बना दी जाती हैं। साथ ही दाढ़ी का आभास देने के लिए ठुड्डी को सफेद या स्याह रंग से रंग दिया जाता है। कर्ण और अन्य पात्रों के साथ भी ऐसा ही किया जाता है। आधारभूत रूपरेखाओं के भीतर रहते हुए अनेक परिवर्तन किये जा सकते हैं। कुछ पात्रों की मूंछें होती हैं, किंतु दाढ़ी नहीं होती। कुछ पात्रों के दोनों होती हैं। दर्शकों को एक सपाट चौरस चेहरे का आभास होता है। उग्र मनोदशा में भीम जैसे पात्रों के चेहरे पर रंग से बनायी हुई मूंछ-दाढ़ी के साथ साथ ऊपर से ऊन की मूंछें और दाढ़ियां भी चिपका दी जाती हैं। माथे पर तिलक भी एकदम भिन्न प्रकार का होता है और प्रायः नाक तक उससे ढकी रहती है। वीरता और उग्रता का आभास देने के लिए गालों की हड्डियों के ठीक ऊपर आंखों के पास के सफेद भाग के नीचे की ओर लाल रंग से कोई आकृति बना दी जाती है। दशरथ और धृतराष्ट्र जैसे वृद्ध पात्रों के लिए सफेद रंगी हुई मूंछें और ऊन की नकली सफेद मूंछें होती हैं और साथ ही दाढ़ी भी लगा दी जाती है। जैसा अर्जुन जैसे पात्रों के साथ किया जाता है वैसा इनके साथ नहीं किया जाता अर्थात् ठुड्डी को काला रंगने की बजाय दाढ़ियां लगाई जाती हैं।

गंधर्व जैसे पात्रों के लिए विशेष प्रकार की रूपसज्जा होती है। प्रत्येक आंख के चारों ओर लाल रंग से एक अंडाकार आकृति बना दी जाती है और इस आकृति के भीतर सफेद रंग से कुछ रूपरेखाएं खींच दी जाती हैं।

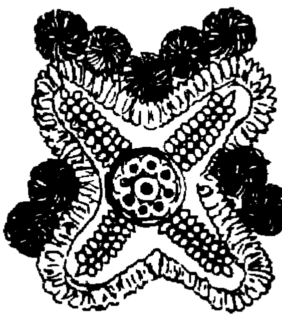
जहां तक राक्षसों की आधारभूत रूपसज्जा का संबंध है, उसका रंग बदलता रहा है। संप्रति यह लाल और हरा है। कथकलि में भी दुष्टता और वीरता व्यक्त करने के लिए लाल रंग की प्रतीकात्मकता का प्रयोग किया जाता है। यक्षगान में राक्षसों की वीरता और उग्रता प्रदर्शित करने के लिए लाल और हरे या नीले रंगों का मिला जुला कर इस्तेमाल किया जाता है और दुष्टता तथा उग्रता की मनोदशा के लिए लाल और काले रंगों का। अर्धराक्षस या अतिकाय की विशिष्ट रूपसज्जा में गालों और गालों की हड्डियों पर गहरा हरा रंग चढ़ा दिया जाता है और जबड़ों तथा ठुड्डी पर भड़कीला लाल रंग। आंखों की ऊपर और नीचे की पलकें और आंखों के चारों ओर का भाग गहरे लाल रंग से रंग दिया जाता है। बरौनियों पर एक स्पष्ट काली रेखा खींच दी जाती है। भौंहें मोटी और बड़ी कर दी जाती हैं। माथे पर आधारभूत रूपसज्जा में हरे या नीले रंग का उपयोग किया जाता है और प्रत्येक भौंह के ठीक ऊपर माथे पर बिंदुओं से सफेद रूपरेखा बना कर लाल रंग से छोटे छोटे वृत्त बना दिये जाते हैं। लाल और सफेद रेखाओं से बनाया गया तिलक नाक की नोक तक रहता है। लाल और नीले का मिश्रण, विशिष्ट आकृति के सात लाल और सफेद रंगों का तह दर तह प्रयोग और बड़ी बड़ी चौरस मूंछें – ये सब मिल कर भयावहता का प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

शूर्पनखा, बाली और भुलक राजा जैसे अन्य पात्रों की रूपसज्जा जटिल होती है और प्रभावोत्पादकता भी। यक्षगान में रूपसज्जा की कम से कम आठ दस श्रेणियां हैं जो कथकलि की अपेक्षा कहीं अधिक हैं।

रूपसज्जा के वैविध्य के साथ साथ आहार्य (वेशभूषा आदि) के अन्य पात्रों जैसे शिरोभूषण, गहने, पोशाक आदि में भी बहुत वैविध्य है। अलग अलग चरित्रों के लिए अलग अलग प्रकार के शिरोभूषण गहनों और पोशाकों का विधान है।

अधिकांश पात्रों की आधारभूत वेशभूषा साधारण प्रकार की होती है। वे ढीला ढाला या चुस्त काला पायजामा पहनते हैं। ऋषियों और स्त्रियों को छोड़कर सब इसे ही पहनते हैं। पायजामे के ऊपर कर्नाटक की एक विशेष प्रकार की चारखाने

की लाल-पीली साड़ी पहनी जाती है। यह साड़ी इस ढंग से पहनी जाती है कि टांगों को आगे बढ़ाने, ऊंचा करने, कूदने और घिरनी खाने में कोई कठिनाई नहीं होती। धड़ पर पहना जाने वाला कपड़ा लंबी आस्तीनों वाली एक जाकेट है जो पात्र के अनुसार लाल, हरे या काले रंग की होती है। पात्र की मनोदशा और उसकी चारित्रिक विशेषताओं का संकेत विभिन्न रंगों के माध्यम से दिया जाता है। जाकेट पीठ की ओर खुली नहीं होती जबकि कथकलि में यह पीठ की ओर खुली होती है। बाली या हनुमान को छोड़कर किसी भी अन्य पात्र की जाकेट कथकलि की तरह रोएंदार नहीं होती। कमर में साड़ी और जाकेट के ऊपर कमरबंद या पेटी बंधी रहती है। टखनों में घुंघरू बंधे होते हैं। फुंदनों और शीशों से सज्जित उत्तरीय यहां नहीं है जो कथकलि की विशेषता है। इन जाकेटों और धोती के ऊपर बहुत सारी कक्ष-पट्टिकाएं, कंधों के आभूषण, करधनियां और कमरबंद धारण किये जाते हैं। ये सब बहुत हल्की लकड़ी के बने होते हैं और शोख सुनहले, लाल आदि रंगों में रंगे होते हैं। इनमें शीशे जड़े होते हैं। बाल-गोपाल और अति साधारण जाकेटों पर भारी वक्ष-पट्टिकाएं धारण करते हैं। ये चार कोनों वाले तारे के आकार की होती है (देखें बायीं ओर का चित्र)। राक्षसों और दानवों की वक्ष-पट्टिकाएं दो टुकड़ों की होती हैं और वे पूरी छाती और पेट को ढके रखती हैं। उनमें चारों ओर गोल ऊनी फुंदने लगे होते हैं (देखें दायीं ओर का चित्र)। कमरबंद में आगे एक चपटा पल्ला लटका रहता है जिसमें बहुत-सी डोरियां लगी होती हैं (देखें बायीं ओर का चित्र)।





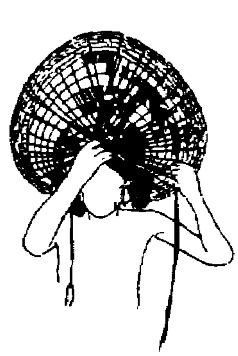


यक्षगान में कंधे की पट्टिकाएं अधिक वैविध्यपूर्ण होती हैं। भीष्म, धर्मराजा आदि नायक अनेक शंक्वाकार घुंडियों से युक्त स्कंध-पट्टिकाएं धारण करते हैं। राक्षस स्कंध-पट्टिकाएं लगभग कवच की भांति धारण करते हैं। इन पट्टिकाओं तथा अन्य पट्टिकाओं का यह प्रभाव होता है कि पात्रों का आकार प्रकार बढ़ जाता है। बाहुओं पर ऊपर जहां स्कंध-पट्टिका खत्म होती है, बाजूबंद बंधे होते हैं। हाथों में अनेक प्रकार की चूड़ियां, कड़े आदि पहने जाते हैं। साथ ही, लकड़ी की बालियां भी पहनी जाती हैं जिनसे पूरा कान ढक जाता है। गले में कसे हुए कंठे आदि भी पहने जाते हैं। संक्षेप में यह कि सारी सजधज बहुत भव्य होती है और प्रत्येक वस्तु का आकार-प्रकार और विन्यास एक पात्र को दूसरे-पात्र से अलग करता है।

जो वस्तु इस वेशभूषा, आभूषणों और रूपसज्जा को नाटकीय दृष्टि से सबसे अधिक प्रभावशाली बनाती है वह है शिरोभूषण या मुंडासु और मुंडले (जिसका शाब्दिक अर्थ है पगड़ी)। हम जानते हैं कि कथकलि में अनेक प्रकार की 'मुंडियों' का उपयोग किया जाता है, किंतु ये सभी मुकुट या शिरोभूषण (किरीटम और केश धारण) हैं जो टोपी या टोप की तरह धारण किये जाते हैं। यक्षगान में जहां कुछ पात्र जैसे वानर राजा, हनुमंत, राक्षस इसी प्रकार के शिरोभूषण धारण करते हैं, वहीं गंधर्व, कर्ण, कृष्ण, बाल-गोपाल आदि एक जटिल प्रकार की पगड़ी बांधते हैं जो मुकुट या शिरोभूषण जैसी दिखाई देती है किंतु वास्तव में पगड़ी होती है। पगड़ी को लपेटने की एक जटिल शैली होती है। अधिकांश नर्तकों के बाल लंबे होते हैं जिन्हें पहले जूड़े के रूप में बांध दिया जाता है। सिर के एक तरफ या पीछे बंधा हुआ जूड़ा समस्त शिरोभूषण के टिकने के लिए मुख्य आधार का काम देता है। जूड़े और सिर पर एक काला स्कार्फ बांध दिया जाता है। वेशभूषा की यह प्रणाली यक्षगान, कथकलि और उन तमाम रूपों में प्रचलित है जिनमें भारी शिरोभूषणों का उपयोग किया जाता है। सर्वप्रथम, अभिनेता माथे पर एक आभूषण बांधता है जिसे बोत्तु मुंडले कहते हैं। यह माथे पर ठीक बीच में बांधा जाता है और इसकी डोरियां पीछे बंधी रहती हैं। अभिनेता तब कृत्रिम मुकुट (मुंडासु या किरीट) पहनता है और केदगे मुंडले या पगड़ी बांधता है।

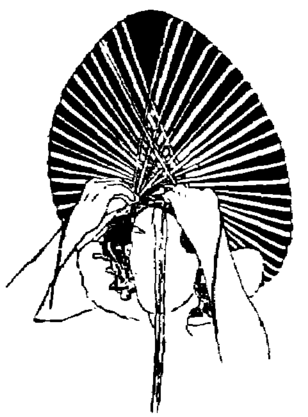
एक प्रकार का मुंडासु गोपुरम के आकार की पगड़ी है जो मोटी सुतली से घने छल्ले बनाकर तैयार की जाती है। गजों लंबी मोटी सुतली ऐसे कौशल से सजाकर लगायी जाती है कि वह छोटे या बड़े अर्धचंद्र अथवा अर्धवृत्त की तरह दिखाई

देती है। प्रारंभिक बनावट इस प्रकार एक ऊंची पगड़ी का आभास देती है (देखें बायीं ओर का चित्र)। फिर इसे एक काले कपड़े से ढक दिया जाता है। इस पगड़ी को बांधने में बहुत समय लगता है और प्रस्तुति के पहले हर बार इसे बांधना पड़ता है। तब काले कपड़े पर पतले रिबन या पन्नी के आरी जैसे दिखने वाले टुकड़े बांध दिये जाते हैं। इनमें से प्रत्येक का एक सिरा माथे के मध्य बंधा रहता है (देखें दायीं ओर का चित्र)।





शिरोभूषण बांधने की यह प्रक्रिया एक लंबी और जटिल प्रक्रिया है और प्रत्येक अभिनेता वर्षों के अभ्यास से ही मुंडले लपेटने में कौशल प्राप्त करता है। जहां कृष्ण,बलराम आदि पात्र मंझोले आकार का मुंडासु धारण करते हैं वहीं कर्ण,शल्य,प्रद्युम्न आदि बहुत बड़े आकार का मुंडासु धारण करते हैं। ये बड़े आकार के मुंडासु बहुत भव्य दिखाई देते हैं,किंतु उनका बांधना भी उतना ही कठिन होता है। बनावट और आकार की दृष्टि से ये शिरोभूषण अनेक प्रकार के होते हैं,चाहे वे किरीट की तरह के हों या पगड़ी की तरह बांधे जाने वाले हों। विभिन्न पात्रों की विशिष्टता और भिन्नता दिखाने तथा उनमें स्पष्ट भेद करने के लिए इनका उपयोग किया जाता है (देखें बायीं ओर का चित्र)।



शूर्पणखा,हनुमान और गरुड़ जैसे चरित्र विशिष्ट प्रकार के शिरोभूषण धारण करते हैं और प्रत्येक के लिए ऐसा शिरोभूषण होता है जो केवल उसके लिए ही होता है और वही उसकी विशिष्ट पहचान होती है। नारी पात्रों,ऋषियों आदि की रूपसज्जा सहज और शिरोभूषण साधारण कोटि का होता है। इस दृष्टि से वे कथकलि के मिन्नक्कु पात्रों के समतुल्य हैं। निस्संदेह यक्षगान ने शैलीकृत वेशभूषा, रूपसज्जा और शिरोभूषणों की अद्‌भुत पद्धति विकसित की है और इस दृष्टि से वह अपने आप में ही एक पृथक श्रेणी है। यक्षगान के इस महत्वपूर्ण पक्ष का अधिक विस्तृत विवेचन इस विषय के स्वतंत्र अध्ययन की मांग करता है। डा. के.एस. कारंथ ने इसका कुछ विवरण प्रस्तुत किया है।

परंतु इस संक्षिप्त विवरण से भी यह सिद्ध हो जायेगा कि लोक-नाट्य प्रतीत होने वाला यह रूप अत्यधिक विकसित रूप है जो वेशभूषा,शिरोभूषण और रूपसज्जा की अनेक कठिन और जटिल विधियों का अनुसरण करता है। कथकलि से उसकी समानताएं और भिन्नताएं भी सुस्पष्ट हैं। आधारभूत रूपसज्जा इस दृष्टि से कथकलि से भिन्न है कि यक्षगान में अच्छे पात्रों के लिए आधारभूत रंग गुलाबी और पीला है जबकि कथकलि में यह हरा (पच्च) है। साथ ही,कथकलि में मूंछों का उपयोग नहीं किया जाता। इसके स्थान पर कागज के टुकड़े लगाकर जबड़े बड़े कर लिये जाते हैं। यक्षगान में मूंछों और रंगी हुई दाढ़ी का उपयोग किया जाता है। रौद्र चरित्रों के लिए लाल रंग का और किरात (शिकारी) आदि के लिए काले रंग का उपयोग यहां भी किया जाता है। यहां भी राक्षस और राक्षसी की रूपसज्जा कथकलि से भिन्न प्रकार की है और अपेक्षाकृत अधिक जटिल भी। जहां कथकलि के हनुमान का रंग सदा ही सफेद होता है,वहीं यक्षगान में हनुमान का रंग गुलाबी,लाल या काला भी हो सकता है।

यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि नृत्य नाटक के अन्य पक्षों जैसे वाचिक और आंगिकाभिनय पर अनेक शास्त्रीय ग्रंथ उपलब्ध हैं,किंतु इन नाट्य रूपों की रूपसज्जा विधियों पर न तो कर्नाटक में ही कोई ग्रंथ अब तक मिला है और न केरल में। भरत ने अपने ग्रंथ के एक अध्ययन में इन विधियों की चर्चा की है जिससे हमें यह जानकारी मिलती है कि चेहरे रंगे जाते थे और रंग प्रतीकात्मकता का प्रचलन था। परंतु क्षेत्रीय भाषाओं में इस विषय पर एक भी प्रामाणिक ग्रंथ सुलभ नहीं हो सका है। रूपसज्जा की ये विधियां यह भी मांग करती हैं कि इनका पुराणों और चीन तथा जापान के ऐसे ही ग्रंथों,विशेषकर चीनी

ओपेरा और जापानी काबुकी के शास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित रंग-प्रतीकात्मकता के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाये ।

कुटियट्टम और कथकलि की भांति यक्षगान में भी नाट्यशास्त्र की परंपरा के अनुरूप ऐसी नाट्य विधि विकसित की है जो चार प्रकार के अभिनयों के बीच एक सामंजस्यपूर्ण संतुलन बनाए रखती है । अभिनय के ये चार प्रकार हैं : वाचिक – इसमें सस्वर पाठ,पद्यांश गायन और युद्ध गद्यांशों का समावेश रहता है । आंगिक – इसमें शैलीकृत गतियों की एक सूत्रबद्ध पद्धति रहती है । यह चरित्र,या पशु,पक्षी या मनुष्य की स्थिति और मनोदशा तथा अंग संचालन के प्रकार और अंग संचालन गुच्छ (जो तालों की सात-छंद मालाओं से सुबद्ध रहते हैं) के अनुसार विभिन्न वर्गों में विभाजित रहती है । आहार्य – इसका संबंध वेशभूषा,शिरोभूषण और रूपसज्जा की जटिल विधियों और परिपाटियों से है । सात्विक – यह नाट्य-रचना के नैतिक स्वर की आंतरिक गति निश्चित करता है । इसमें तांडव और लास्य के तत्व हैं और प्रस्थान तथा प्रवेश में और अपने विभिन्न नृत्यपरक प्रतिमानों तथा मंचगत रूपरेखाओं के द्वारा दृश्य की स्थापना करने में यह नाट्यधर्मी की परिपाटियों का निर्वाह करता है ।

संरचना और शैलीकरण संबंधी इन विशेषताओं पर विचार कर लेने के पश्चात यक्षगान में ऐसा बहुत थोड़ा रह जाता है जिसे स्वतः प्रवर्तित और नैसर्गिक मानते हुए शुद्ध लोक-नाट्य का अंग कहा जा सके । यह सच है कि इसमें कुटियट्टम या कथकलि जैसी प्रभावशाली शिल्प शिक्षा पद्धति नहीं है । ये दोनों ही अत्यधिक शास्त्रीय नृत्य रूप माने जाते हैं । परंतु यक्षगान के अभिनेता और उसके संचालक भागवतर को भी वर्षों अभ्यास करना पड़ता है । अंत इसे लोक-कला कहना भ्रांति होगी परंतु इसका जनता से सीधा संबंध है,क्योंकि बीस बीस हजार या इससे अधिक लोग इस नाट्य दृश्य के दर्शक ही नहीं होते,उनमें उनकी सक्रिय सहभागिता भी होती है । इस दृष्टि से इसे लोकप्रिय भी माना जा सकता है और ग्राम्य भी । इस प्रकार यक्षगान में हमें भारतीय कला की वह विशिष्ट प्रक्रिया दिखाई देती है जिसके परिणामस्वरूप एक कला रूप ग्रामीण सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में स्थित होते हुए भी शास्त्रीयता के समस्त तत्वों को अपने भीतर संजोये रखती है । प्रश्रय या सुनिश्चित संस्थागत ढांचे के अभाव में मौखिक परंपरा,भागवतर की गतिशीलता और ग्राम समुदाय के उत्साह ने इस नाट्य रूप को जीवित रखा है ।

दर्शकों के लिए कुटियट्टम की भांति यक्षगान का संप्रेष्य भी दो प्रकार का होता है :एक का संबंध अतीत तथा महाकाव्यों और पुराणों के शाश्वत विषयों से है और दूसरे का संबंध समसामयिक सामाजिक व्यंग्य से है जिसकी प्रस्तुति हनुमनायक और कोटंगि जैसे चरित्रों के चित्रण द्वारा की जाती है । यक्षगान कुटियट्टम और कथकलि के पारस्परिक संपर्क बिंदुओं की चर्चा पहले की जा चुकी है । भागवतमेला और भामकलायम पर विचार करते समय हम यह भी देखेंगे कि पड़ोसी राज्यों अर्थात् आंध्रप्रदेश और तमिलनाडु के अन्य नाट्य रूपों और यक्षगान में कितनी समानताएं हैं । अन्य कर्मकांडगत,जनजातीय और लोक-रूपों से इसके अंतःसंबंधों की ओर भी संकेत किया जा चुका है,यद्यपि इस पक्ष का और अधिक गहन अध्ययन करने की आवश्यकता है । परंतु यक्षगान और कठपुतली नाट्य रूप (जिसे गोम्बेयट्ट कहते हैं),के बीच निकटतम संबंध है । संक्षेप में मानव यक्षगान की समस्त अंग संचालन योजनाओं का अनुसरण करती हैं । समस्त भारतीय परंपरा में भी इतने निकट का समानांतर ढूंढ़ पाना कठिन है ।

नाट्य विधा के रूप में यक्षगान गत कुछ समय से ही विद्वानों और कलाकारों का ध्यान आकर्षित कर सका है । इसका इतिहास ज्ञात है और कर्नाटक तथा भारत के अन्य क्षेत्रों के रूपों से इसके संबंध भी असंदिग्ध हैं । परंतु यह एक व्यापक विषय है जिसका अध्ययन अभी नहीं हो सका है । आशा है कि यहां जो बातें सुझाई गयी हैं वे ऐसे संपूर्ण अध्ययन का आरंभ बिंदु बन सकेंगी ।

4

भागवतमेला और कुचिपुडि

आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में अनेक नृत्य नाट्य रूप हैं। जो भिन्न भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं – भागवतमेला, कुचिपुडि, भामकलापम, यक्षगान आदि। अन्य रूप जैसे आंध्र प्रदेश का वीथिनाटकम और तमिलनाडु का तेरुकूथु आज सड़क नाटक कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त कई कुर्वंजि रूप हैं। नाट्य रूपों और विधाओं की यह सूची और बढ़ाई जा सकती है।

जहां इनमें से प्रत्येक पर उसके विशिष्ट स्वरूप के कारण पृथक् रूप से विचार किया जा सकता है, वहीं उनमें कथ्य और विषय की दृष्टि से ऐसी समानताएं भी मिलती हैं जो उन्हें एक ही बड़े परिवार के सदस्यों का रूप प्रदान करती हैं।

ये सभी यक्षगान कहे जाने वाली और आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु तथा कर्नाटक में विकसित साहित्य विधा से संबद्ध हैं। निस्संदेह कर्नाटक के यक्षगान के संबंध में जो कुछ कहा गया है उस पर आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु की घटनाओं के बृहतर परिप्रेक्ष्य में भी विचार किया जाना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से ये सभी रूप एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही साहित्य स्रोत से विभिन्न प्रकार की अनेक नृत्य नाट्य परंपराओं का उदगम हुआ है। जहां कर्नाटक में इसने 17वीं शताब्दी में एक निश्चित आकार ग्रहण किया, वहीं तमिलनाडु के तंजौर जिले के मेलत्तुरू के भागवतमेला और आंध्र प्रदेश की कुचिपुडि कही जाने वाली विधा का परस्पर बहुत गहरा संबंध है।

सत्रहवीं और 18वीं शताब्दी के वीथिनाटकम् और तेरुकूथु जैसे नुक्कड़ नाट्य रूप जिन के एकमात्र संरक्षक आर्थिक दृष्टि से अल्पविकसित वर्ग थे आज ग्रामीण स्वरूप के नाटक हैं, जिनका अभिनय अधिकांशतः ब्राह्मणेतर वर्गों या विशेष जनजातियों द्वारा किया जाता है। इन दोनों विधाओं की आंतरिक संरचना को देखें तो स्पष्ट होगा कि ये यक्षगान या भागवतमेला के साहित्यिक प्रतिमानों का अनुसरण करते हैं। अतः हम इनका एक ओर साहित्यिक, परंपरागत और नगरीय श्रेणियों में तथा दूसरी ओर लोक नाट्य रूप या जनजातीय नाट्य रूप की श्रेणियों में सुनिश्चित विभाजन नहीं कर सकते। ये रूप तथा तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश के कुर्वंजि के अनेक रूप हमारी परिकल्पना को सही सिद्ध करते हैं कि सांस्कृतिक गतिविधियां दो समानांतर स्तरों पर चल रही थीं। एक की क्षेत्र विशेष के भीतर उर्ध्वाधर गति थी जिसमें यद्यपि कुछ कलात्मक अभिव्यक्तियां समाज के कतिपय विशेष स्तरों या वर्गों तक सीमित थीं तथापि उच्चतर और निम्नतर दोनों ही वर्गों तक उनकी पहुंच थी। दूसरे की गति क्षैतिज थी जिसमें समाज के समतुल्य स्तरों के कलारूप विभिन्न क्षेत्रों में विशेषकर संलग्न क्षेत्रों में एक-दूसरे को निरंतर प्रभावित कर रहे थे।

नृत्य और नाटक के संदर्भ में दक्षिण के विभिन्न क्षेत्रों में इसका स्थूल निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है :

		आंध्र प्रदेश	तमिलनाडु	कर्नाटक	केरल
1.	मंदिर	देवदासीअट्टम	सादिर नृत्य	देवदासी नृत्य (मैसूर शैली)	मंदिर में अष्टपदी गायन
2.	मंदिर-प्रांगण	यक्षगान भामकलापम	यक्षगान भागवतमेला	यक्षगान	कुटियट्टम कृष्णाट्टम कथकलि
3.	मंदिर और ग्रामीण वातावरण	कुर्वंजि	कुर्वंजि	–	–
4.	नुक्कड़ नाट्यरूप		वीथिनाटकम तेरुकूथु	–	ओत्तान थुल्लाल
5.	सामुदायिक नृत्य	कुम्मि	कुम्मि	–	कैकोट्टिकलि कुम्मि
6.	जनजातीय रूप	माथुरि इत्यादि	करगम	अनेक रूप	–
7.	संस्कारगत नृत्य	–	कावादि	नागमंडल भूतम कोलम इत्यादि	अनेक रूप जिनमें पुल-यारकलि, थेय्यम, कोलम आदि सम्मिलित हैं

जहां प्रत्येक क्षेत्र में 1 से 6 तक के रूपों में साहित्य या संगीतात्मक लयों की मानव गति की दृष्टि से कुछ समानताएं हैं वहीं पहली श्रेणी के सभी रूपों में साहित्यिक अंतर्वस्तु की दृष्टि से बहुत अधिक समानता है और दूसरी श्रेणी के रूपों में यह समानता और भी अधिक है। शुद्ध नृत्य और नृत्य नाटक के रूपों में एक और प्रकार का विभाजन किया जा सकता है और समानताएं तथा विभिन्नताएं रेखांकित की जा सकती हैं। हमें यहां दूसरी श्रेणी पर ही विचार करना है और वह भी आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु तक सीमित रह कर। कुटियट्टम, कथकलि और यक्षगान के पारस्परिक संबंधों की चर्चा पहले की जा चुकी है। पहला स्वयं में एक श्रेणी है। यद्यपि मंदिर के प्रांगण के कर्मकांडीय नृत्य और नृत्य नाटक, दोनों से उसका गहरा संबंध है।

दूसरी श्रेणी के सभी रूपों की प्रथम उल्लेखनीय विशेषता उनका साहित्यिक आधार है। निस्संदेह रंगमंच के इतिहासकारों ने इन नाट्य रूपों के शुद्ध नाट्य स्वरूप पर विचार करते समय उनसे संबद्ध इस आधारभूत तथ्य की उपेक्षा की है। ये नाट्य रूप साहित्यिक रचनाओं में उद्भूत हुए और उनके रंगमंचीय परिदृश्य का नियमन संस्कृत, मलयालम, कन्नड़, तमिल और तेलुगु साहित्य द्वारा ही होता रहा है। साथ ही, समकालीन नाट्य परिदृश्य की अनेक संरचनागत विशेषताएं ऐसे काल के साहित्य के विषय, विधा और शैली में ढूंढ़ी जा सकती हैं। जो यक्षगान के विधागत नाम से या भागवतमेला या भामकलापम के विशेष नाट्य रूप के नाम से लिखी गयी साहित्यिक रचनाओं के पूर्व का काल है।

अतः समकालीन नाट्य रूपों चाहे वे भागवतमेला हो अथवा वीथिनाटकम या तेरुकूथु जैसे नुक्कड़ नाटक हों – पर विचार करने से पूर्व तमिल और तेलुगु साहित्य के विकास पर एक विहंगम दृष्टि डालना प्रासंगिक होगा।

तमिलनाडु की प्राचीनता और मलयालम, तेलुगु तथा कन्नड़ के विकास पर उसके प्रभाव की चर्चा पहले की जा चुकी है। शिलप्पदिकरम् और मणिमेखलाई पूरे क्षेत्र की ही थाती थे और इन्होंने प्रारंभ काल के ही नहीं, अपितु मध्यकाल के

लेखकों,कवियों और नाटककारों को प्रभावित किया था। केरल की भांति तमिलनाडु में भी संस्कृत और तमिल प्राचीन काल से ही एक-दूसरी को प्रभावित कर रही थीं। तमिल का पहला व्याकरण तोल्काप्पियम् इसका स्पष्ट प्रमाण है। परिणामस्वरूप एक ऐसी भाषा विकसित हुई जो संस्कृत और तमिल का मिला जुला रूप थी। केरलवासियों की भांति तमिल भी इसे 'मणिप्रवाल' कहते थे। इस प्रकार संगम साहित्य के विकास और शैव नायमारों तथा वैष्णव आल्वारों के रहस्यवादी भावोद्गारों के साथ साथ संस्कृत साहित्य के अनुवाद और रूपांतर की समानांतर धारा भी तमिल को समृद्ध कर रही थी।

तमिल और संस्कृत का सम्मिश्रण और आगे चलकर पालि और प्राकृत का समावेश भी एक ऐसा उदाहरण है जिससे हम यह जान सकते हैं कि किस प्रकार तमिलनाडु बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रभावों को आत्मसात कर सका। एक और समानांतर घटना पौराणिक कथाओं और देवताओं के प्रवेश की घटना थी। उदाहरण के लिए, कपिलर चार देवताओं का स्तुतिगान करता है जो पुरम काव्य को ज्ञात थे। ये हैं – शिव, विष्णु, बलराम और सुब्रमण्य। पुतन्सेंतनार शिव, विष्णु और ब्रह्मा की त्रयी का उपासक है।

इस काव्यगत गतिविधि और विभिन्न देवताओं में रुचि का अपना महत्व है, किंतु तिरुक्कुरल का सर्वव्यापी प्रभाव मात्र उतना ही नहीं है। मूलतः नीतिपरक और उपदेशात्मक होते हुए भी इसमें चार पुरुषार्थों में से तीन पुरुषार्थों का जो चित्रण हुआ है उसका तमिलनाडु में विकसित नाट्य परंपराओं से रोचक संबंध है।

तिरुक्कुरल के विधागत तत्व संगम साहित्य की रूढ़ियों से लिये गये हैं और इनका प्रभावशाली रीति से प्रयोग हुआ है। कमत्तुप्पाल के तृतीय भाग में प्रत्येक द्विपदी एक नाटकीय एकालाप है जिसका संगम साहित्य के 'अकम्' रूप के एकालापों से बहुत साम्य है। यह भाग तीन खंडों में विभाजित है। पहले खंड में स्त्रियों के भाषण हैं, दूसरे खंड में पुरुषों के भाषण और तीसरे खंड में पुरुष और स्त्री दोनों के भाषण। और भी कई रूढ़ियां हैं जो इन दो धाराओं को संयुक्त करती हैं। तिरुक्कुरल के नीतिपरक तत्व ने स्वभावतया उत्तरवर्ती नाट्य साहित्य के विकास को प्रभावित किया, विशेषकर उन रचनाओं को जिनका सामाजिक और आर्थिक जीवन से संबंध था। यहां इसका विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं है।

आल्वारों और नायन्मारों ने समाज के सभी वर्गों के लोगों पर गहरा प्रभाव डाला है। वे अपना काव्य गाते थे और संगीतात्मक लय उनकी रचना का अनिवार्य अंग थी। इस परिपाटी ने स्वभावतया क्षेत्र की नाट्य विधाओं को प्रभावित किया। इस काव्य के साथ नृत्य का जो गहरा संबंध था वह भी सुविदित है और यह प्रायः चर्चा का विषय रहा है। आल्वार और नायन्मार बहुधा बोलचाल के शब्दों का प्रयोग करते थे और लोक संगीत की शैलियों में अपने गीत गाते थे जिससे कि उनका भक्ति का संदेश जनता तक पहुंच सके। अतः यह स्पष्ट होगा कि एक ओर जहां इनकी रचनाओं की जड़ें पूर्ववर्ती अखिल भारतीय साहित्यिक दाय में निहित थीं, वहीं उनमें प्रायः स्थानीय और क्षेत्रीय विषयों का तथा कलात्मक अभिव्यक्तियों की लोक शैलियों का भी समावेश था। इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण अंडल (या अंटेल) की रचनाएं हैं जिन्होंने ईश्वरत्व के लिए मानव हृदय की शाश्वत उत्कंठा से संबद्ध अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए लोकप्रिय गाथा गीतों और लोक साहित्य का उपयोग किया है। हमें यह याद रखना चाहिए कि आल्वारों और नायन्मारों ने वर्ग भेद की दीवारों को तोड़ने और श्रेणीबद्ध जाति व्यवस्था की अर्थहीनता का संदेश देने की दृष्टि से भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यह विषय उनकी रचनाओं का प्रमुख विषय रहा है।

अपनी पहचान बनाए रखने के साथ साथ सार्वभौमिकता का लक्ष्य प्राप्त करने की यही प्रक्रिया हमें एक पूर्ववर्ती काल में भी दृष्टिगत होती है। गूढ़ काव्य जैसी रचनाओं में लोक मिथकों और दंत कथाओं का प्रयोग साहित्यिक कृतियों की एक सामान्य विशेषता है। विभिन्न सामाजिक स्तरों और विभिन्न क्षेत्रों के बीच संवाद-सेतु बनने की यह क्षमता ही भारतीय साहित्य को उसका विशेष रस प्रदान करती है।

नौवीं शताब्दी के आते आते ये समस्त प्रभाव एक प्रबल समन्वित धारा का रूप ग्रहण कर लेते हैं। तमिलनाडु का महान महाकाव्य लेखक कम्बन इस समन्वय का प्रतीक है। कुछ विद्वानों के मतानुसार उसका काल 12वीं शताब्दी था। केरल परंपरा की चर्चा करते हुए हमने उसकी कृति का उल्लेख किया है। यहां यह कहना पर्याप्त होगा कि यद्यपि रामकथा सुविदित थी तथापि कम्बन के महाकाव्य के अनेक प्रसंग वाल्मीकि की रामायण से सर्वथा भिन्न हैं। राम के चरित्र के चित्रण के अतिरिक्त

भी उसने घटनाओं में अनेक परिवर्तन किये हैं, विशेषतः बाली, सुग्रीव आदि से संबद्ध घटनाओं में। बहुत आगे चलकर ये सब भागवतमेला रूपों की नाट्य परंपराओं का अंग भी बन गये।

चोलों के शासनकाल में साहित्यिक गतिविधियां बहुत अधिक थीं और 12-13वीं शताब्दी में राम और शिव के विषयों को लेकर अनेक महाकाव्यों की रचना की गयी। इसके पश्चात एक ऐसा काल आया जिसमें पट्टियट जैसी नयी काव्य विधाओं और तेयपानि तथा तंतकम जैसे नवीन छंद रूपों को लोकप्रियता मिली।

ऊपर के विवेचन से कदाचित स्पष्ट हो जायेगा कि अन्य संलग्न क्षेत्रों की भांति तमिल साहित्य में भी अनेक विधाओं और साहित्य रूपों का पोषण हो रहा था। इनमें से कुछ का संबंध संस्कृत साहित्य से था और शेष विशुद्ध स्थानीय और क्षेत्रीय थे। नाटक और कविता की भाषा का स्वरूप निर्धारित करने में लोक साहित्य और लोक मिथकों तथा दंत कथाओं की महत्वपूर्ण भूमिका थी। शैव सिद्धांत की प्राचीनतम कृति 'तिरुवुंतियर' लोक गीत की शैली में लिखी गयी है। एक बार फिर हम साहित्य को ऐसी लय और परंपरा से बंधा हुआ पाते हैं जो सभी क्षेत्रों के लोक-साहित्य का प्रबल और शक्तिशाली अंग है। महान दर्शन और गूढ़ अनुभूतियां सरल भाषा में और लोकप्रिय धुनों में ढाल कर प्रस्तुत की जाती थीं जिससे कि जनता उन्हें मंदिर प्रांगण में सुन सके। चौदहवीं शताब्दी के कवि तत्त्वरयर ने ऐसे अनेक लोक गीत लिखे हैं। साथ ही, पौराणिक कथाओं की नाट्य प्रस्तुति भी मंदिरों के भीतर या सामने की जाती थी। बहुधा सामाजिक प्रयोजन से अत्यधिक गंभीर काव्य और दार्शनिक विषयों को हास्य का पुट देकर कोमल और मृदु बना दिया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के तथाकथित पार्थक्य के बीच भी गतिशीलता की एक व्यवस्था बनी हुई थी। इन माध्यमों में से एक था रंगमंच, जो सबसे अधिक सशक्त माध्यम भी सिद्ध हुआ। इसके द्वारा महाकाव्यों और पुराणों को लोकप्रिय रूप दिया गया और दरिद्र लोक काव्य को गूढ़ विचारों की ऊंचाइयों पर पहुंचा दिया गया। यह क्रम 18वीं शताब्दी तक चलता रहा। यह संवाद अविच्छिन्न और परस्पर लाभकारी था।

तेलुगु प्रभाव, या अधिक सम्यक शब्द का प्रयोग करें तो तंजौर के तेलुगु प्रवासी ऐसी उर्वर भूमि पर विचरण कर रहे थे जहां अनेक शताब्दियों तक भिन्न भिन्न प्रकार की अनेक विधाएं फल फूल चुकी थीं। परंतु भागवतमेला की विशेष विधा का उदय एक ही क्षेत्र के विभिन्न स्तरों के पारस्परिक प्रभाव के परिणामस्वरूप नहीं अपितु दो क्षेत्रों के पारस्परिक प्रभाव के परिणामस्वरूप हुआ, हालांकि पूर्वोक्त प्रक्रिया का सर्वथा अभाव नहीं था।

भागवतमेला के अतिरिक्त, नायकों और मराठा शासकों द्वारा संगीतकारों को दिये गये प्रश्रय के परिणामस्वरूप कीर्तन का विकास भी हुआ। इन रचनाओं में ईश्वर की स्तुति के साथ साथ राजाओं का गुणगान भी किया जाता था। गुणों और विशेषताओं का आवृत्तिमूलक वर्णन 'वकुप्पु' कहलाता था। आगे चलकर यह एक संगीत रचना का नाम हो गया। तमिल में नाट्य प्रयोजनों से कीर्तन के प्रयोग का सबसे सफल प्रयास अरुणाचल कवि ने किया। उसने अपनी रचना 'राम नाटक कीर्तनै' में रामायण को नाट्यरूप दिया। इसका अधिकांश गेय था। आगे चलकर अनेक अन्य कवियों ने इस विधा में जिसमें कविता और संगीत परस्पर घुल मिल जाते हैं, रचनाएं कीं। उन्नीसवीं शताब्दी में कीर्तनै के विकास ने एक नया मोड़ लिया जब उसका प्रयोग कालक्षेपम अर्थात् शुद्ध एकालाप में किया गया। इस प्रकार संगीत साहित्यिक रचना का अभिन्न अंग था और नाट्य विधा में दोनों का एक साथ प्रयोग किया जाता था।

नयी तेलुगु मूलक नाट्य प्रस्तुति के स्वरूप को पूरी तरह से समझने के लिए तमिल साहित्य की उपर्युक्त सामान्य विशेषताएं महत्वपूर्ण हैं। स्पष्ट होगा कि यद्यपि प्राचीन काल से ही साहित्य और संगीत परस्पर कटे हुए नहीं थे, फिर भी मध्यकाल के अंतिम चरणों में कविता अभिव्यक्ति के लिए संगीत पर अधिकाधिक आश्रित होने लगी थी। स्वभावतया नाट्य प्रस्तुति तथा लय का प्रवेश हुआ और अंततः ऐसी काव्य रचना का प्रयास किया जाने लगा जिसे नृत्य रूप दिया जा सके। साहित्यिक रंगमंच के अधिकाधिक संगीतात्मक होते चले जाने की यह प्रवृत्ति भारत के अनेक भागों में दिखाई देगी।

हम भागवतमेला पर लौटें। हम देख चुके हैं कि 15-16वीं शताब्दी में तमिलनाडु के साहित्यिक दाय में निम्नलिखित सम्मिलित थे :(क) संगम साहित्य, (ख) संत कवियों की रचनाएं, (ग) संस्कृत साहित्य पर आधारित नाट्य विधाएं, (घ) रामायण और महाभारत के रूपांतर, (ङ) गेय लोक काव्य तथा (च) कीर्तनै रूपों का प्रारंभ।

इसी स्थिति में आंध्र प्रदेश से प्रवासियों की एक टोली तंजौर पहुंची। सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में साहित्य विधा और नाट्य विधा दोनों ही रूपों में भागवतमेला या अधिक सम्यक् शब्द का प्रयोग करें तो यक्षगान की विधा विकसित हुई। परंतु इस विधा के विकास को तेलुगु साहित्य के विकास से पृथक नहीं किया जा सकता। निस्संदेह तमिलनाडु का भागवतमेला तंजौर में तेलुगु साहित्य के विकास की ही एक घटना थी। कदाचित् इसी कारण से तमिल साहित्य के अनेक विद्वान इसे तमिल साहित्य के इतिहास का एक अंग नहीं मानते। परंतु चूंकि समकालीन भागवतमेला और भरतनाट्यम परस्पर आश्रित हैं, अतः न तो तेलुगु भाषियों के प्रवास से पूर्व तमिलनाडु में जो स्थिति थी उसकी उपेक्षा की जा सकती है और न ही इस प्रवास को पड़ोस के क्षेत्र में तेलुगु का विस्तार मात्र ही माना जा सकता है। नायक राजाओं के शासनकाल में और परवर्ती मराठा शासकों के संरक्षण में तंजौर के दरबारों में जिस विधा का विकास हुआ वह तमिलनाडु में तेलुगु प्रवास और कोई सौ वर्ष बाद तेलुगुओं के आंध्र प्रदेश में लौटने का परिणाम थी।

इस क्रिया और पारस्परिक प्रभाव के रोचक इतिहास का वर्णन करने से पूर्व तेलुगु साहित्य का संक्षिप्त सिंहावलोकन कर लेना उपयोगी होगा। तभी यह बात हमारी समझ में आ सकती है कि किस प्रकार दोनों क्षेत्रों के साहित्य और नाट्य रूपों का एक दूसरे को प्रभावित करना और परिणामस्वरूप एक नयी साहित्य की विधा का विकसित होना एक सहज और तर्क संगत क्रिया थी। दृश्य प्रस्तुति के द्वारा भागवतालु इस विधा के गतिशील वाहक थे और उनके कारण इस विधा को एक स्वच्छंद गति मिली।

तेलुगु के उद्‌भव की हमें जानकारी है। शिलालेखों के साक्ष्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि 600-800 ई. में तेलुगु द्रविड़ भाषा परिवार की एक पृथक शाखा के रूप में विकसित हो चुकी थी। 800 ई. से 1000 ई. के बीच ऐसी अनेक काव्य रचनाएं आयीं जिनमें विशिष्ट कन्नड़ और तेलुगु छंदों का प्रयोग किया गया था। दुर्भाग्यवश इस साहित्य का बहुत थोड़ा अंश ही सुरक्षित रह सका है और इसके आधार पर इन रचनाओं की विधा के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना संभव नहीं है। फिर भी, इतना तो स्पष्ट ही है कि तेलुगु के आदि कवि नान्नय ने 11वीं शताब्दी में तेलुगु में महाभारत का रूपांतर किया था तो उसके पूर्व तेलुगु में पर्याप्त मात्रा में रचनाएं की जा चुकी होंगी जो नान्नय के लिए सहायक सिद्ध हुई होंगी। यद्यपि महाभारत का भाषांतर राजा राजाराज नरेंद्र (1022-1063 ई.) के आदेश से किया गया था तथापि इस अपूर्ण कृति को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक विभिन्न पुराणों और इतिहासों से परिचित था और तेलुगु तथा संस्कृत दोनों पर उसका समान अधिकार था। 'आदि पर्व', 'सभा पर्व' और 'वन पर्व' के एक भाग का उसका अनुवाद शाब्दिक नहीं है। कवि ने प्रायः स्वतंत्र अनुवाद किया है और विषयगत तथा विधागत अनेक परिवर्तन किये हैं। उसने कुछ घटनाएं छोड़ दी हैं और कुछ नये प्रसंग जोड़ दिये हैं। उसका अनुवाद यद्यपि व्यास की कृति की मूल आत्मा के अनुरूप है तथापि उसने अनेक रोचक और महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं। इनमें से एक है वैदिक धर्म के समर्थन का नीतिपरक पुट जो मूल कृति में रेखांकित नहीं किया गया है। उसने अपने काव्य की रचना चंपु विधा में की है जो गद्य और पद्य का मिश्र रूप है। उसकी शैली में नवीनता और ताजगी है और वह इतनी प्रभावपूर्ण है कि अनेक परवर्ती लेखकों ने उसका अनुकरण करने का प्रयत्न किया है। महाभारत के अतिरिक्त अनेक पुराणों, विशेषकर ब्रह्मानंद पुराण के रूपांतर भी उसने तेलुगु में किये। नान्नय के महाभारत के अधूरे काम को तिक्कन ने 13वीं शताब्दी (1220-1300 ई.) में पूरा किया। परंतु बीच के इस काल में तेलुगु साहित्य को अनेक लेखकों ने समृद्ध किया जिन्होंने नये विषयों पर रचनाएं कीं और नयी विधाएं विकसित कीं। इनमें कवि भी थे और छंद शास्त्र के लेखक भी। मल्लिय रचना तेलुगु छंदशास्त्र के प्रथम ग्रंथ 'कविज्ञानरायमु' का लेखक था। नन्नेचोद ने कुमारसंभव का अनुवाद किया। सरस्वती महल पुस्तकालय में मिली एक पांडुलिपि से कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि लेखक का काल 12वीं शताब्दी नहीं अपितु 10वीं शताब्दी था। परंतु कुमारसंभव की शैली और शब्द विन्यास यह निष्कर्ष ग्रहण करने पर विवश करते हैं कि तेलुगु में काव्य रचना की कुछ दीर्घकालिक परंपरा होने पर ही ऐसी परिष्कृत भाषा लिखी जा सकी होगी। यहां प्रासंगिकता इस तथ्य की है कि 12वीं शताब्दी तक संस्कृत महाकाव्य और संस्कृत काव्य दोनों ही तेलुगु क्षेत्र में अपनी जड़ें जमा चुके थे। इससे भी अधिक महत्व इस बात का है कि दो पृथक विधाओं अर्थात् मार्गी और देशी से इस सीमा तक परिचित हो चुके थे कि उन पर जोरदार वाद-विवाद हो रहा था और संगीत तथा नाट्य के टीकाकारों और लेखकों ने, जिनमें

'संगीत रत्नाकर' का लेखक सारंगदेव भी सम्मिलित है, इस विषय पर बहुत ध्यान दिया था। नाट्यशास्त्र के अन्य टीकाकार भी निरंतर मार्गी और देशी की संकल्पना की ओर ध्यान आकर्षित करते रहे हैं। नान्नय के अधूरे कार्य को तिक्कन और एर्रन ने पूरा किया है और महाभारत के शेष पर्वों का अनुवाद भी किया। यद्यपि तिक्कन ने नान्नय की भांति ही संस्कृत और तेलुगु दोनों का प्रयोग किया है, फिर भी तेलुगु के प्रति उसका मोह सुस्पष्ट है। नान्नय की भांति उसका कार्य भी शाब्दिक अनुवाद की कोटि में नहीं अपितु पुनर्रचना की कोटि में आता है। इस कार्य के द्वारा उसने तेलुगु साहित्य को एक नयी नाटकीय शक्ति और गरिमा प्रदान की। एर्रन अथवा एर्रप्रगद (1300-1380 ई.) ने अपनी कृति 'हरिवंश' और 'नरसिंह पुराण' में प्रबंध विधा का प्रयोग करके तेलुगु साहित्य को और अधिक समृद्ध किया। कहा जाता है कि उसने रामायण का भी अनुवाद किया था, किंतु दुर्भाग्यवश वह उपलब्ध नहीं है। उसके एक समकालीन केतन ने दशकुमारचरित और मितक्षर का अनुवाद किया था।

बारहवीं शताब्दी में शैव साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है। इस काल में मल्लिकार्जुन पंडिताराध्य (1150 ई.) और यथावेक्कुल अन्नमय्य जैसे उच्च स्तर के कवि दृष्टिगत होते हैं जो क्रमशः 'शिवतत्व सारम्' तथा 'सर्वेश्वर शतकम्' के लेखक थे। मलकुरिकि सोमनाथ ने 1200-1240 ई. के काल में अनेक ग्रंथ लिखे जिनमें देशी द्विपदी छंद में लिखित 'बासवपुराण' तथा 'पंडिताराध्य चरित' आज भी उत्कृष्ट माने जाते हैं।

महाभारत और शैव साहित्य की अपेक्षा रामायण की कथा ने 1240 ई. से 1326 ई. तक के काल में तेलुगु लेखकों को बहुत अधिक आकृष्ट किया और इस अवधि में, रामायण को आधार बनाकर अनेक रूपांतर हुए और अनेक काव्य लिखे गये। रामायण के इन अनेक अनुकूलित पाठों और रूपांतरों में दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृतियां हैं, 'रंगनाथ रामायण' (जो कुछ विद्वानों के अनुसार गोनबद्ध रेड्डी की रचना है) और 'भास्कर रामायण' यद्यपि इनके लेखक और रचना तिथि के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है तथापि यह स्पष्ट है कि ये विशिष्ट प्रकार के तेलुगु रूपांतर हैं जिनमें समय की आवश्यकता और लेखक की प्रतिभा के अनुसार अनेक घटनाएं बदल दी गयी हैं, छोड़ दी गयी हैं, या नये प्रसंग जोड़ दिये गये हैं। ये कंबन की रामायण से भी एकदम भिन्न हैं। यह भी स्पष्ट है कि इनकी रचना जनसाधारण को सुनाने के लिए की गयी थी और इनमें चंपु शैली का बहुत कौशल और लचीलेपन के साथ प्रयोग किया गया है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि ये रचनाएं कन्नड़ की 'पम्पा रामायण' के कोई सौ वर्ष बाद सामने आयीं। समकालीन भागवतमेला की अनेक कथाएं और प्रसंग मूल संस्कृत ग्रंथों में नहीं, अपितु महाभारत, रामायण और पुराणों के इन तेलुगु रूपांतरों में ही ढूंढे जा सकते हैं। यहां हमें कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के बीच एक सक्रिय संवाद की स्थिति दिखाई देती है।

तेरहवीं शताब्दी से लेकर 16 वीं शताब्दी तक के समय का तेलुगु साहित्य का इतिहास बहुत समृद्ध और वैविध्यपूर्ण है। इस काल में केतन (1200-1250 ई.), मरण मंचन (1300 ई.), नचनसोमन और मदिकिसिंगन (1420 ई.) जैसे लेखक हुए जिन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रंथों जैसे 'प्रबोध चंद्रोदय', 'कादंबरी', 'मार्कंडेय पुराण' आदि का तेलुगु में अनुवाद और रूपांतर करके तेलुगु साहित्य को समृद्ध किया। भागवतमेला की लोकप्रिय कथा 'ऊषापरिणयम्' नचनसोमन के 'उत्तर हरिवंश' का एक अंश है। इसी काल में पंचतंत्र का भी तेलुगु में अनुवाद हुआ। लगभग इसी काल में 'मंजरी' नामक देशी छंद में लोकप्रिय गाथागीत विधाओं का भी विकास हुआ। श्रीनाथ (1400 ई.) जिसने इस छंद में 'पल्नति वीर चरितम्' की रचना की थी, 'क्रियाभिरामम्' अथवा 'वीथिनाटकम' का भी लेखक था। इसमें वरंगल के सामाजिक जीवन का विशद चित्रण हुआ है। संस्कृत साहित्य से गृहीत विषयों की इस बहुलता तथा लोक भाषा के प्रयोग के साथ 15वीं शताब्दी में अनेक गीत लेखक हुए जैसे तल्लपक अन्नामाचार्य जिसने संस्कृत तथा तेलुगु में लगभग तीस हजार गीतों की रचना की। अन्नामाचार्य कवि भी था और संगीतज्ञ भी और निश्चित लय योजना के अनुसार गेय पद्य की परंपरा का प्रवर्तक उसे ही माना जाता है। वह 'संकीर्तन लक्षणम्' का भी लेखक था जिसमें अलग अलग भक्ति गीत विशेष रागों में बांधे गये थे। अंत में उल्लेखनीय है बम्मर्सपोतन (15वीं शताब्दी) का 'भागवतम्'।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो जायेगा कि 16वीं शताब्दी के आते आते तेलुगु लेखक न केवल संस्कृत साहित्य से विषय ग्रहण कर रहे थे अपितु वे अनेक रूपगत तथा विधागत प्रयोग भी कर रहे थे। इनमें गद्य और संस्कृत छंदों के प्रयोग से लेकर तेलुगु के देशी छंदों का प्रयोग और लिखित तथा गेय काव्य सम्मिलित थे।

सोलहवीं शताब्दी में प्रबंध विधा प्रचलित हो चुकी थी। कदाचित् यह गीत गोविंद के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव का परिणाम था। कतिपय आलोचकों की यह धारणा सही नहीं है कि काव्य और संगीत का मिश्रण साहित्य में पतन काल का आरंभ था। यह स्मरण रखने योग्य है कि समस्त भारतीय साहित्य में श्रुत कविता (गाने, नाचने योग्य) और लिखित कविता (पढ़ने, देखने योग्य की परंपराएं दो समानांतर धाराएं थीं। केवल कुछ कालों में ही कोई एक अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल के अंतिम चरणों में एक पुरानी परंपरा को ही गेय शब्द की शक्ति देकर पुनर्जीवित किया गया था। जैसा कि सुविदित है, प्रबंध विधा भारत के अन्य भागों में (विशेषकर पूर्व में) प्रचलित थी। आंध्र प्रदेश में कृष्णदेवराय (16वीं शताब्दी) और उसके समकालीन अष्टदिग्गजों के समय यह एक आदर्श विधा बन गयी थी। इन लेखकों ने बहुत सारे प्रबंध लिखे थे। जहां अनेक विषय पुराणों से लिये गये थे वहीं बहुत से विषय मौलिक भी थे। प्रत्येक में तुकांत छंद में लिखा गया आख्यान है। नांदी तिम्मान का 'पारिजातापहरणम्' इनमें से ही एक है। इस लेखक ने सत्यभामा के चरित्र की सृष्टि की है। सत्यभामा शताब्दियों से आंध्र भामकलापम की प्रमुख पात्रा रही है। लोकप्रिय कृति 'वेमन शतकम्' का लेखक वेमन था जो विशाल जनसमुदाय के सामने अपने काव्य का सस्वर पाठ करता था।

हमें गत 500 वर्षों के इस विशाल दृश्य को ध्यान में रखकर ही तेलुगु साहित्य की यक्षगान विधा पर विचार करना है जिसका जन्म यद्यपि 11वीं शताब्दी में हो चुका था किंतु जिसका उत्कर्ष 16वीं-17वीं शताब्दी में ही हुआ। गाथागीत की विधाएं, चंपु, शतक और देशी छंद, विशेषकर द्विपदी और संगीत शैलियों का विकास और शास्त्रीय ग्रंथ – इन सबने मिलकर उस विशेष नाट्य विधा का निर्माण किया जिसे यक्षगान कहा गया है (जिसे अब मौखिक परंपराओं में भागवतमेला या भामकलापम आदि कहा जाता है)। इतिहास, पुराण, काव्य और भक्ति गीतों के जो विषय लोक परंपरा का अंश बन चुके थे उनकी प्रस्तुति के लिए गद्य, सस्वर पाठ, गेय शब्द और स्वांग का सामूहिक प्रयोग करने का यह एक सचेतन प्रयास था। रघुनाथ नायक और उसके पुत्र विजय राघव नायक (1633-1673 ई.) के संरक्षण में तेलुगु साहित्य के नये दक्षिण संप्रदाय का उद्‌भव हुआ। प्रबंध द्विपदी, काव्य और अंततः यक्षगान – तंजौर दरबार में ये तीन सर्वाधिक लोकप्रिय विधाओं के रूप में विकसित हुए।

प्रतिष्ठित यक्षगान लेखकों में एक था कोनेति दीक्षित चंद्र। यह 'विजय राघव कल्याणम्' का लेखक था जो एक सुंदर नाट्य रचना थी। इसमें लयात्मक गद्य, संवादों और गीतों का प्रयोग किया गया था जो नृत्य का आधार भी बन सकते थे। महिला लेखक पशु पुलेति रंग जाम्मा ने दो प्रबंध लिखे थे। एक था 'मन्नरुदास विलासम्' जो यक्षगान के प्रकार का गीत-नाटक था और इसमें आठ विभिन्न भाषाओं का प्रयोग किया गया है। दूसरा था 'ऊषापरिणयम्' जिसकी उपलब्ध पांडुलिपि यद्यपि अपूर्ण है किंतु यह इस विषय पर लिखित अन्य भागवतमेला नाटकों का आधार सुलभ कराता है। इनसे पूर्व कंडुकुरुरुद्र कवि ने 1568 ई. में 'सुग्रीव विजयम्' की और राजा रघुनाथ नायक ने 'गजेन्द्रोमोक्षम्', 'रुक्मिणी-कृष्ण विवाहम्' तथा 'जानकीपरिणयम्' की रचना की थी। उसके पुत्र विजय राघव नायक ने भी एक संगीत-नाटक 'रघुनाथाभ्युदयम्' की रचना की थी जो यक्षगान के प्रकार का था। अनेक अन्य समकालीन और परवर्ती लेखकों ने भी यक्षगान नाटक लिखे थे और इस प्रकार भागवतमेला और यक्षगान को समृद्ध किया था। इनमें 'गोवर्धनधारण', 'रुक्मिणी', 'सत्यभामाविवाहम्', 'राधामाधवम', उषापरिणयम्, कंस विजयम् आदि उल्लेखनीय रचनाएं सम्मिलित हैं।

ये सभी रचनाएं उच्च कोटि के नाट्य कौशल का परिचय देती हैं और इनमें विभिन्न माध्यमों का उपयोग किया गया है किंतु ऐसा करते हुए नाट्य प्रयोजन को ही महत्व दिया गया है। इस दृष्टि से तेलुगु के लेखक संस्कृत नाटककारों के सच्चे उत्तराधिकारी थे। वे केवल साहित्य सृजन ही नहीं कर रहे थे, अपितु रंगमंच के नाटक लिख रहे थे।

तंजौर के एकोजी (1678-1712 ई.) का पुत्र सहज या साहा महाराज महान् संगीतकार होने के साथ साथ 'किरातविलासम्', 'गंगापार्वती', 'कृष्णाविलासम्', 'जलक्रीड़ा' जैसे यक्षगान नाटकों का लेखक भी था। यक्षगान साहित्य का लेखन 18वीं और 19वीं शताब्दी तक चलता रहा। तमिलनाडु में आंध्रप्रदेश के प्रवासियों के लेखन के लिए अनुकूल वातावरण मिला और अधिकांश यक्षगान नाटकों की रचना उन्होंने ही की। ये नाटक अभिनीत भी हुए।

बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार के साक्ष्य से प्रकट होता है कि तेलुगु साहित्य, विशेषतः प्रबंध और यक्षगान साहित्य रूप आंध्र से 16वीं, 17वीं और 18वीं शताब्दी में तंजौर और कर्नाटक पहुंचे जहां एक साहित्य विधा और नाट्य काव्य, दोनों ही रूपों में इसने बहुत उन्नति की। आंध्र प्रदेश के तीर्थनारायण योगी ने तंजौर में प्रवास किया और फिर यक्षगान लौटकर आंध्र में पहुंचा जहां कुचिपुडि ब्राह्मणों का इसे विशेष संरक्षण मिला जो आज भी बना हुआ है।

इस प्रकार 18वीं और 19वीं शताब्दी में एक ही समय में हमें दो समानांतर धाराएं दिखाई देती हैं। एक तंजौर और कर्नाटक के तेलुगु साहित्य से संबद्ध है और दूसरी का संबंध आंध्र प्रदेश में नाटकों की प्रस्तुति से है।

'कृष्ण लीला तरंगिणी' के लेखक तीर्थनारायण योगी को आज यक्षगान की साहित्य विधा से भिन्न भागवतमेला, भामकलापम और कुचिपुडि नाट्य विधाओं का जनक माना जाता है। उनका अपने पूर्ववर्ती अन्नामाचार्य की भांति ही यह दृढ़ विश्वास था कि नाट्य रूप साधना के माध्यम थे और साहित्य की पूर्णता तभी संभव है जब उसे संगीत, नृत्य और अभिनय के सम्मिलित प्रयोग द्वारा संप्रेषित किया जाये। उनकी परंपरा को तंजौर में उनके अनुयायियों ने आगे बढ़ाया जबकि सिद्ध योगी स्वयं आंध्र प्रदेश को लौट गये।

तीर्थनारायण योगी के अत्यधिक प्रतिष्ठित अनुयायियों में से एक थे वेंकटरामन् शास्त्रियार। उन्होंने बारह नाटक लिखे थे जो आज भागवतमेला के भंडार का प्रमुख भाग माने जाते हैं। 'प्रह्लाद', 'मार्कंडेय', 'उषा', 'रुक्मांगदा', 'हरिश्चंद्र', 'गोल्लभामा', 'सीताकल्याणम्' 'रुक्मिणी कल्याणम्', 'ध्रुव', 'कंसवध', 'सावित्री वैबवम् 'और 'बाणासुरवधम्' इनमें सम्मिलित हैं। पूर्ववर्ती यक्षगान की सीधी परंपरा से जुड़े ये नाटक आज तंजौर के चारों ओर गांवों में, विशेषकर मेलत्तुर, सूलमंगलम, ऊथुकद, सलिदमंगलम्, नेल्लुर और थेप्पेरुम नल्लुर में अभीनीत किये जाते हैं। पूर्ववर्ती यक्षगान और पुराणों की कथाएं आज भी प्रेरणा के मुख्य स्रोत हैं।

मेलत्तुर में भरतम नारायण स्वामी और बालु वागवतर ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया है। कृष्ण आयर और डा. वी. राघवन जैसे विद्वानों ने शताब्दी के चौथे और पांचवें दशक में इस मिटती हुई विधा को प्रोत्साहन दिया और उसका मार्गदर्शन किया। आज इस विधा को नये सिरे से मान्यता प्राप्त हो चुकी है।

तीर्थनारायण योगी के मेलत्तुर चले जाने के बाद आंध्र प्रदेश में यह परंपरा समाप्त नहीं हो गयी। साहित्य, संगीत और नृत्य की पुरानी परंपराएं भी फूलती-फलती रहीं। सोमेश्वर द्वितीय का 'अभिलाषार्थ चिंतामणि', जयप्प नायक का 'नृत्तरत्नावली', कुमारगिरि रेड्डी का 'वसंतराजीयमु' और पेदकोमति वेम का 'संगीत चिंतामणि' आदि ग्रंथ साक्षी हैं कि अनेक ब्राह्मण नाट्याचार्यों के श्रेष्ठ मार्गदर्शन में संगीत और नृत्य की अनेक शैलियां आंध्रप्रदेश में प्रचलित थीं। पल्कुरिकि सोमनाथ ने अपने ग्रंथ 'पंडिताराध्य चरित' में आंध्र में प्रचलित अनेक संगीत और नृत्य शैलियों का विशद वर्णन किया है। कुछ शिलालेखों और स्थापत्य के साक्ष्य से भी मंदिरों में नंदी के ठीक पीछे 'बुलिपीठ' अर्थात पत्थर की एक चौकी के अस्तित्व का पता चलता है जिस पर देवदासियां आराधना नृत्य करती थीं। नृत्तरत्नावली में ऐसे कुछ नृत्यों का वर्णन किया गया है।

प्रकट होगा कि जिसे कुचिपुडि कहा गया वह एक ओर मध्यकाल के देशी कहे जाने वाले साहित्य लेखन से संबद्ध था तो दूसरी ओर वह मंदिरों के उन कर्मकांडीय शुद्ध नृत्य रूपों से भी जुड़ा हुआ था जिनका अस्तित्व साहित्य, शिलालेखों और स्थापत्य के साक्ष्य से पर्याप्त रूप से प्रमाणित होता है। जहां देवदासियां मंदिरों में नृत्य करती थीं और उनकी नृत्य मुद्राएं मंदिरों की दीवारों पर चित्रांकित हैं वहीं कुचिपुडि ब्राह्मण बालकों की सैलानी मंडलियां गांव के खुले प्रांगण में नाट्य प्रस्तुति करती थीं। उनके विषय समकालीन धार्मिक विश्वासों और सामाजिक आंदोलनों से निश्चित होते थे। इस प्रकार प्रारंभ में कहानियां शैव पुराणों के इर्दगिर्द घूमती थीं और वैष्णववाद का उद्भव होने पर कथाएं अधिकांशतया भागवत पुराणों से ली जाने लगीं। नाट्य प्रस्तुति करने वाले स्वयं भागवातालु कहे जाने लगे। इनमें से कुछ मेलत्तुर चले गये। सिद्धेंद्र योगी मेलत्तुर से लौट आये। उन्होंने कुचिपुडि की शिक्षा अपने गुरु तीर्थनारायण योगी से प्राप्त की थी। कहा जाता है कि उन्होंने भगवान कृष्ण को अपने नेत्रहीन गुरु के शरीर पर नृत्य करते देखा था। किंवदंती के अनुसार भगवान कृष्ण ने स्वयं उनके गुरु को आदेश दिया था कि यदि वह मोक्ष चाहते हैं तो परिजातापहरणम् कथा की रचना करें। इस आदेश के अनुसार उन्होंने बालकों को भामकलापम के अभिनय की शिक्षा दी जो कुचिपुडि भंडार का सर्वोत्तम अंश है। सिद्धेन्द्र योगी के दिव्य दर्शन

की इस कथा को केवल यक्षगान के साहित्यिक विकास की पृष्ठभूमि में ही समझना आवश्यक नहीं है। इस संबंध में संत कवियों की अत्यंत महत्वपूर्ण गतिविधियों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है जो आंध्र में ठीक उस समय जोर पकड़ रही थीं जब कुछ भागवतालु मेलत्तुर चले गये थे। इन प्रवासी भागवतालुओं में महान क्षेत्राग्न भी था जो कुचिपुडि से केवल दो मील दूर मुव्व गांव का निवासी था। उसने तंजौर की यात्रा की थी और मुव्व गोपाल पदों को 'सात्विकाभिनय' में बांधा था। अत: यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है यदि सिद्धेंद्र योगी ऐसी प्रतिभा की खोज में कुचिपुडि गांव में पहुंचे थे। उस समय वैष्णववाद का प्रसार अपनी चरम सीमा पर था और देश के अन्य भाग रामदास, तुकाराम, मीरा और चैतन्य के गीतों से गूंज रहे थे। परिजातापहरणम् इस धर्मोत्साह की एक और उत्कट अभिव्यक्ति थी। परंतु विषय और शिल्प की दृष्टि से सिद्धेंद्र योगी ने पूर्ववर्ती काल के और अपने समय के साहित्यिक यक्षगान का ही अनुसरण किया था। यह नाटक इतना सफल हुआ कि उन्होंने कुचिपुडि के ब्राह्मण परिवारों को यह प्रतिज्ञा करने के लिए प्रेरित किया कि प्रत्येक परिवार में से कम से कम एक पुरुष अपने जीवन में एक बार सत्यभामा के रूप में अभिनय अवश्य करेगा। उन्होंने गोरकोंडा के नवाब की ओर से 1675 ई. में एक ताम्रपत्र जारी करवाने में भी सफलता प्राप्त की थी। इस ताम्रपत्र के अनुसार इस कला के प्रति समर्पित ब्राह्मण परिवारों को अग्रहाम स्वरूप कुचिपुडि गांव दे दिया गया था।

आज कुचिपुडि के भंडार में लगभग तेरह नाटक हैं जो सिद्धेंद्र योगी के अनुयायियों द्वारा लिखे गये हैं। इनमें से कुछ नाटकों के विषय मेलत्तुर के भागवतमेला के विषय भी हैं। अन्य नाटकों के विषय भिन्न हैं। परंतु दोनों ही उन यक्षगान नाटकों पर बहुत अधिक आश्रित हैं जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दरबारी साहित्यिक नाटक भक्तों और योगियों के बीच पहुंच गया जिन्होंने एक साहित्यिक परंपरा को मौखिक परंपरा में परिवर्तित कर दिया। परंतु दोनों परंपराओं के बीच गहरी समानताएं बनी रहीं। अब नाट्य तत्व लिपिबद्ध रचनाओं के सहारे नहीं अपितु मात्र वाणी द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचने लगा। मेलत्तुर और साथ ही कुचिपुडि में भी ब्राह्मण परिवारों ने इस परिपाटी को बनाए रखा है यद्यपि गत पच्चीस वर्षों में क्रमिक रूप से अनेक परिवर्तन हुए हैं और अन्य संप्रदायों के नवयुवकों ने भी इस कला की शिक्षा प्राप्त की है। इनमें से एक परिवार के मुखिया थे चल्ल भागवतम वासमोल्तु जो कुचिपुडि के निवासी थे और कुरनूल जिले के कोटाकोंडा गांव में आकर बस गये थे। सत्तर वर्ष की अवस्था में भी वह सत्यभामा की भूमिका निभा सकते थे। अन्य गुरुओं में चिंतामणि कृष्णमूर्ति का नाम लिया जा सकता है जिनके सुयोग्य शिष्य वेदांतम सत्यनारायण ने भारत के अनेक भागों में इस कथा की प्रस्तुति की है। नृत्य नाटकों में से शुद्ध नृत्य (नृत्त) का तत्व चुन लेने और कुचिपुडि नृत्य नाटक से भिन्न एक कुचिपुडि नृत्य शैली विकसित करने का मुख्य श्रेय भी उनको ही जाता है। इस क्षेत्र के एक और उत्कृष्ट कलाकार हैं प्रह्लाद शर्मा।

आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु की इन समानांतर गतिविधियों का वर्णन करने के साथ साथ हमें भरतनाट्यम कहे जाने वाले नृत्य रूप के विकास को भी ध्यान में रखना चाहिए। भरतनाट्यम वस्तुत: मैसूर और आंध्र में प्रचलित पुराने नृत्य रूपों अर्थात् दासीअट्टम् ,सादिर्नृत्य और देवदासी नृत्य का ही एक परिवर्तित रूप था। यह भी कदाचित स्पष्ट हो गया होगा कि आंध्र और तमिलनाडु में दो प्रकार की नृत्य प्रस्तुति का प्रचलन था। एक का संबंध मंदिर में किए जाने वाले नृत्य से था जिसकी प्रस्तुति एक स्त्री द्वारा या अनेक स्त्रियों द्वारा सामूहिक रूप से की जाती थी। दूसरा गांव या मंदिर के प्रांगण में किया जाने वाला नृत्य था जिसकी प्रस्तुति केवल पुरुषों द्वारा की जाती थी। ओड़िसा में भी मंदिरों की महारि और अखाड़ों के गोटिपुअ पर विचार करते समय हमें ऐसी ही स्थिति देखने को मिलती है।

इन दोनों स्तरों के साथ एक तीसरा स्तर भी जुड़ना चाहिए जिसका विकास यद्यपि बहुत आगे चलकर हुआ किंतु जिसका दोनों से संबंध था। यह तीसरा स्तर था कुर्वजि, वीथिनाटकम् और तेरुकूथु जैसे नाट्य रूपों का। ये नाट्य रूप, विशेषत: वीथिनाटकम् और तेरुकूथु तथाकथित पिछड़े और निम्न वर्गों के जीवन में रच बस गये थे किंतु विषय और शिल्प की दृष्टि से इनमें और अन्य दो स्तरों में अनेक समानताएं थीं। पूर्वी भारत में ओड़िसा और बंगाल के जात्रा को इन नाट्य रूपों का समानांतर रूप मानना चाहिए। भवाई मंदिर प्रांगण और नुक्कड़ नाटक की विधाओं के बीच में कहीं पर अवस्थित है।

बहुत पहले ही यह कहा जा चुका है कि इन रूपों में और उन जनजातीय तथा लोक संगीत और नृत्य के उन सैकड़ों रूपों में भेद करना आवश्यक है जिनके अवशेष इस क्षेत्र में साथ साथ प्रचलित हैं और जिनसे इन रूपों का संबंध भी है। वीथिनाटकम् जैसे नुक्कड़ नाटक जनजातीय वर्गों में ब्राह्मण परंपराओं के विषय और शिल्प के प्रवेश का रोचक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यह विधा इस समय येनदि जनजाति में सीमित हैं परंतु इसकी कथाएं पौराणिक हैं और चरित्र भागवत से लिये गये हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, पूर्वरंग और कुछ नाट्यगत परिपाटियों की दृष्टि से संस्कृत नाटक और इसके बीच अनेक समानताएं हैं।

तुरुकूथु को आज पूर्णतः एक लोक नाट्य विधा माना जाता है किंतु इसमें भी इसी प्रकार की विशेषताएं दृष्टिगत होती हैं और सुपरिष्कृत साहित्यिक विधाओं से इसके संबंध असंदिग्ध हैं।

स्थानाभाव के कारण यह संभव नहीं है कि तेलुगु और तमिल साहित्य में उपलब्ध उस आंतरिक साक्ष्य पर संपूर्ण रूप से विचार किया जाये जो इन विधाओं के विकास पर सम्यक् प्रकाश डालता है। और न ही यहां शिलालेखों और स्थापत्य के साक्ष्य पर विचार करना संभव है जो विभिन्न क्षेत्रों और कलात्मक विधाओं तथा शैलियों के परस्पर संबद्ध होने के हमारे तर्क को पुष्ट करता है। फिर भी यह आशा की जाती है कि इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से विकास के उन टेढ़े-मेढ़े रास्तों की कुछ जानकारी मिल सकेगी जो एक-दूसरे से एकदम कटे हुए न माने जाकर सुघटित संपूर्ण इकाई के अंग माने जाने चाहिए। जो विधाएं कभी गंवारू लोक नाट्य विधाएं समझी और हेय दृष्टि से देखी जाती थीं और आज नगरीय केंद्रों में अभिनव रंगमंच के लिए कच्चे माल का काम दे रही हैं, उन पर विचार करते समय यह आवश्यक है कि संस्कृत और क्षेत्रीय साहित्य, मार्गी तथा देशी साहित्य विधाओं, संगीत शैलियों तथा नाट्य विधियों, शास्त्रीय ग्रंथों और सृजनात्मक कृतियों तथा साहित्यिक और मौखिक परंपराओं के पारस्परिक प्रभाव की सामान्य धाराओं को भी ध्यान में रखा जाये। ये विधाएं अपने भीतर भारतीय संस्कृति की उस विशिष्टता का रहस्य छिपाए हुए हैं जिसने उसे कुछ समयहीन शाश्वत और सर्वनिष्ठ तत्वों को अपने भीतर सदा ही समेटे रखने की शक्ति के साथ साथ एक प्रकार का लचीलापन और स्वयं को जीवित रखने की क्षमता प्रदान की है।

इस पृष्ठभूमि और साहित्यिक यक्षगान तथा मौखिक भागवतमेला के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और विभिन्न क्षेत्रों तथा कलात्मक अभिव्यक्तियों की अंतः संबद्धता को ध्यान में रखते हुए अब हम स्वयं नाट्य परिदृश्य पर ही विचार करें।

भागवतमेला

मेलत्तुर की यात्रा करते हुए तमिलनाडु में धान के हरे भरे खेतों और नारियल के पेड़ों का घना सिलसिला दिखाई देगा। कावेरी नदी की एक शाखा निकट ही बहती है। यह गांव अच्युथाप्पा नायक ने प्रवासी ब्राह्मण परिवारों को उपहार स्वरूप दिया था। यहां का वरदराजास्वामी मंदिर धार्मिक और सामाजिक गतिविधियों का केंद्र है। नरसिंह जयंती मई और जून में मनाई जाती है। यही समय भागवतमेला नाटक की प्रस्तुति का है।

मंदिर के सामने फूस के छप्पर का एक दर्शक गृह तैयार किया जाता है। पंडाल 100 फुट से 120 फुट तक लंबा हो सकता है। मंच अंदर की ओर 18 से 20 फुट तक लंबा होता है। देवता की मूर्ति मंदिर के अग्र कक्ष में प्रतिष्ठापित की जाती है। प्रतीकात्मक रूप से नाट्य प्रस्तुति देवता को समर्पित की जाती है। कुटियट्टम, कथकलि और यक्षगान की भांति ही भागवतमेला की प्रस्तुति भी साढ़े नौ बजे रात्रि में आरंभ होती है और अगले दिन सवेरे तक चलती रहती है।

पास में ही बनाई गयी एक फूस की झोपड़ी नेपथ्य का काम देती है। सामान्य कर्मकांडगत प्रारंभिक कार्यकलाप यहीं संपन्न होते हैं। कुटियट्टम और यक्षगान के विपरीत प्रस्तुति का समारंभ निर्जन मंच पर कोणागी या विदूषक के प्रवेश से होता है। यहां तक कि उसके साथ संगीतकार भी नहीं होते। वह कुछ मिनट तक नृत्य करता है, दर्शकों को गद्य में संबोधित करता है और फिर चला जाता है। इसके पश्चात् संगीतकार एक टोली बनाकर मंच पर आते हैं और थोदयमंगलम् गाते हैं। आह्वान के लिए थोदयमंगलम् शब्द का प्रयोग कथकलि और भागवतमेला दोनों में समान रूप से किया जाता है। परंतु भागवतमेला का थोदयमंगलम् विशुद्ध रूप से एक संगीत रचना है जिसमें नृत्य का कोई अंश नहीं है। इसमें काव्यांशों अर्थात् सभाओं तथा बोलों अर्थात् सोल्लुकट्टुओं का समावेश रहता है। इसके पश्चात मंच पर गणेश का मुखौटा ओढ़े एक बालक आता

है। वह गणेश वंदना के गायन पर कुछ मिनट तक नृत्य करता है। गणेश वंदना में देवता से आशीर्वाद मांगा जाता है। इस प्रकार का पूर्वरंग हम कर्नाटक यक्षगान के संदर्भ में भी देख चुके हैं किंतु दोनों में एक महत्वपूर्ण अंतर है। कर्नाटक यक्षगान में यह प्रायः या तो नेपथ्य में होता है या यवनिका के पीछे। अनिवार्य रूप से यह दर्शकों के लिए पूर्णतः दृश्य नहीं होता।

पूर्वरंग समाप्त होने पर मुख्य पात्रों के प्रवेश के साथ प्रस्तुति प्रारंभ होती है। यह भाग पात्र प्रवेश कहलाता है। कर्नाटक यक्षगान का ओड्डोलग भागवतमेला के पात्र प्रवेश के समानुरूप है। भागवतमेला के पात्र भी परदे के पीछे प्रकट होते हैं जिसे मंच पर दो आदमी थामे रहते हैं। कुटियट्टम, कथकलि और यक्षगान की भांति यहां भी इस स्तर पर कुछ शुद्ध नृत्य होता है। मुद्राएं, विशेष गति तथा विशिष्ट नृत्य विन्यास चरित्र के स्वरूप को अमूर्त रूप से व्यक्त करते हैं। इस भाग में भी अभिनेता नर्तक को अपना नृत्य कौशल प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है जो वह मुख्य नाटक में निर्बाध रूप से नहीं कर सकता। गणेश वंदना और अमूर्त अंग संचालन द्वारा चरित्र परिचय भारत के सभी भागों अर्थात् दक्षिण, उत्तर, पश्चिम और पूर्व के अनेक नृत्य नाट्य रूपों में समान रूप से उपलब्ध प्रतीत होते हैं। परंतु तेलुगु यक्षगान की अनेक साहित्यिक कृतियों में गणेश वंदना का उल्लेख नहीं है। कदाचित तंजौर के शासक इसके प्रवर्तक रहे हों और आज इसकी स्थिति मात्र प्रयोग की है।

पूर्वरंग समाप्त होने पर नाटक आरंभ होता है। इसमें अभिनेता उसी रीति का अनुसरण करता है जिसका अनुसरण कुटियट्टम और कर्नाटक यक्षगान में किया जाता है। वह कभी अपनी पंक्तियां सामान्य रीति से बोलता है और कभी साहित्यिक रचना के विभिन्न छंदों के अनुरूप उनका सस्वर पाठ करता है, विशेषकर द्विपदी के छंदों में। बहुधा वह विशेष रागों में अपनी पंक्तियों को बांध कर गाता है। कुटियट्टम के अभिनेता नर्तक के अत्यधिक शैलीकृत आक्षरिक सस्वर पाठ का स्थान यक्षगान और भागवतमेला दोनों में सामान्य सस्वर पाठ की विधियां ले लेती हैं जिनकी परिणति अंततः शुद्ध गान में होती है। कर्नाटक के यक्षगान के विपरीत, अधिकांश गायन संगत करने वाले संगीतकारों या भागवतारों द्वारा नहीं अपितु स्वयं अभिनेताओं द्वारा किया जाता है। अभिनेता का बहुमुखी प्रतिभा का होना आवश्यक है, क्योंकि उसे संवाद बोलने पड़ते हैं, सस्वर पाठ करना पड़ता है और गाना तथा नृत्य करना पड़ता है। साहित्यिक तत्व के रूपांतरण में अनेक रूढ़ियों का अनुसरण किया जाता है। इनमें सस्वर पाठ से लेकर पर्याप्त अभिनय के साथ गायक तक की क्रियाएं सम्मिलित हैं और इन सबकी परिणति एक त्रिकयुक्त शुद्ध नृत्य क्रम में होती है जैसा कि भरतनाट्यम नृत्य रूप में भी दृष्टिगत होता है। कर्नाटक यक्षगान की अपेक्षा हस्ताभिनय द्वारा अभिव्यक्ति अधिक समृद्ध और व्यापक होती है और भरतनाट्यम के नृत्य तथा उसके बीच गहरा संबंध दिखाई देता है। शुद्ध नृत्य के अंशों में भी भरतनाट्यम के सोल्लुकट्टु और त्रिमाणम जैसा ही विन्यास दृष्टिगत होता है। शब्दम जैसे स्वर समूहों को छोड़कर त्रिमाणम गायन की परिपाटी अब भरतनाट्यम में नहीं रही किंतु भागवतमेला और कुचिपुडि दोनों ही इसका अनुसरण करते हैं।

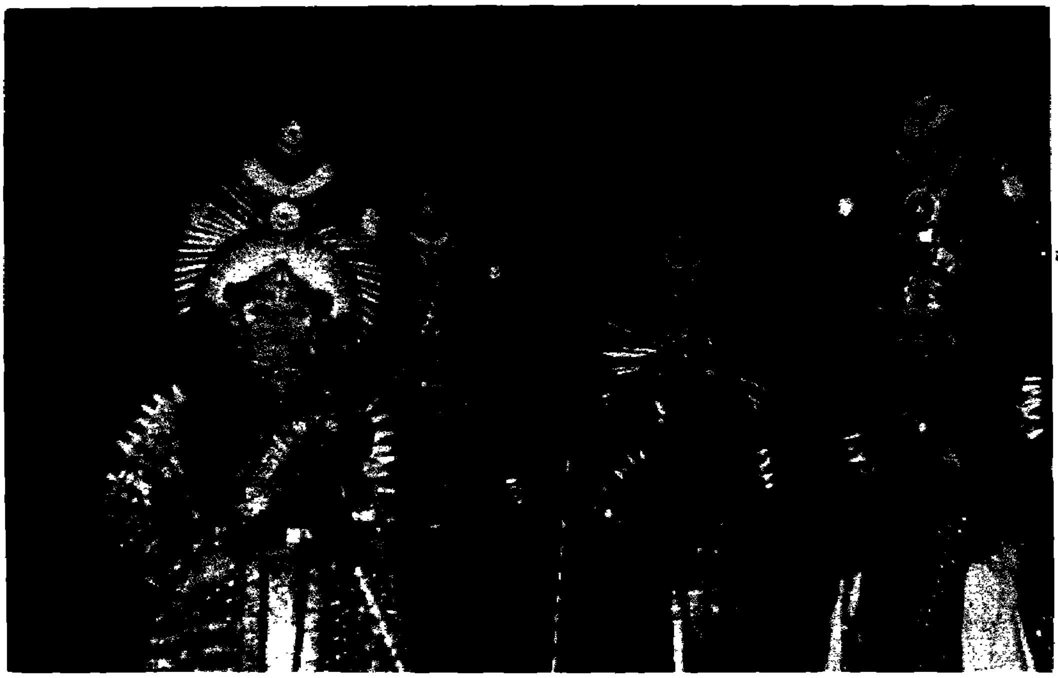
संगीत तत्व समृद्ध होता है। अभिनेताओं द्वारा गाये जाने वाले गीतों को 'दारु' कहते हैं और ये कर्नाटक संगीत की कृति की सामान्य संरचना का अनुसरण करते हैं। वेंकटरामन शास्त्री और उनके पिता गोपाल कृष्णशास्त्री ने विभिन्न चरित्रों के लिए विशिष्ट रागों का उपयोग किया है। हिरण्यकशिपु के प्रवेश का दारु देवगांधारी राग में गाया जाता है। इसके विपरीत प्रह्लाद के प्रवेश का दारु भैरवी राग में गाया जाता है। एक चरित्र के लिए एक ही राग का प्रयोग करके उसकी निरंतरता को बनाये रखा जाता है। कभी कभी तो पूरे नाटक में ही यह क्रम बना रहता है। इसके लिए अभिनेता गायकों और संगत करने वाले संगीतकारों दोनों में ताल-मेल की अद्भुत योग्यता आवश्यक है। चूर्णिका पद और पदवर्ण आदि विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग किया जाता है। भरतनाट्यम के वर्णन की भांति कभी कभी संगीत करने वाले संगीतकार पद्य पंक्ति के केवल स्वर अंशों का गायन करते हैं और अभिनेता अमूर्त नृत्य द्वारा उसकी व्याख्या करता है। इस पद्धति में यह सुविधा रहती है कि पहले पद्य पंक्ति की स्थापना कर दी जाती है और तब शुद्ध संगीत लय और अंग संचालन द्वारा उसके अर्थ की पुष्टि की जाती है। भागवतमेला के चरित्र गीतों के अंश लेकर और उनमें बहुत मामूली परिवर्तन करके एकल भरतनाट्यम प्रस्तुति की रचना की जा सकती है। जहां यह पद्धति नृत्य और संगीत तत्व को समृद्ध करती है वहीं इससे कथा प्रवाह बहुत लंबे समय तक रुका रह जाता है। कर्नाटक यक्षगान की गति अपेक्षाकृत अधिक द्रुत होती है। उसमें शुद्ध नृत्य का उपयोग समापन



1. कुटियट्टम में हनुमान



2. सेरायकला छऊ में एक शिकारी



3. यक्षगान के महान किरदार



4. पुरुलिया छऊ में राम



5. पुरुलिया छऊ में क़िरात

तत्व के रूप में किया जाता है और इसका प्रयोजन सदा ही नाटकीय प्रभाव में वृद्धि करना होता है, न कि अंतराल उत्पन्न करना।

कुछ समय पहले तक संगीतकार अभिनेताओं के साथ रहते थे और उनके साथ ही चलते थे। अब ऐसा नहीं किया जाता और भरतनाट्यम की भांति वे दो पंक्तियों में बैठते हैं। भरतनाट्यम की भांति ही वादक दल में एक नट्टुबनरे होता है जिसकी भूमिका महत्वपूर्ण तो होती है किंतु यक्षगान के भागवतार की तरह निर्णायक नहीं होती। फिर भी वह प्रस्तुति का मुख्य संचालक और निर्देशक होता है और संगीतकार तथा नर्तक दोनों का मार्गदर्शन करता है। वादकों में एक मृदंगवादक और एक बांसुरीवादक या एक वायलिनवादक भी होता है। गायन शैलियां कर्नाटक संगीत के रागों में होती हैं और अनेक रचनाएं वेंकटरामन् शास्त्री के समकालीन त्यागराज की कृतियों से बहुत मिलती-जुलती हैं। संगीत लयों का श्रेय बहुत कुछ प्रसिद्ध कर्नाटक संगीत-त्रयी त्यागराज, दीक्षितर और श्यामा शास्त्री को जाता है।

नृत्य तत्व भरतनाट्यम की अंग संचालन विधि के सदृश है। अर्धमंडली या उक्कर मंडली का दृढ़ता से पालन किया जाता है, यद्यपि यह उतनी सुनिश्चित और सुस्पष्ट नहीं है जितनी कि नर्तकियों द्वारा। अदवु विन्यासों का एक समूह है जिसमें सभी प्रकार के विन्यास सम्मिलित हैं। समस्त नृत्य प्रसंगों में ऊपरी धड़ की तनी हुई स्थिति और निम्न अंगों की त्रिभुजाकार स्थिति का ही निर्वाह किया जाता है। सिर का संचालन, विशेषतः सुंदरी (पार्श्विक गति) का प्रयोग प्रायः होता है और भरतनाट्यम की भांति ही बाहुओं को फैलाया जाता है और उनकी गति वक्र रूप में न होकर सदा ही सीधी रेखाओं में और त्रिभुज रूप में होती है। शुद्ध लयात्मक अंशों में तीनों कलाओं का प्रयोग किया जाता है और त्रिमाणम की समाप्ति भरतनाट्यम की भांति अरद्धियों में होती है। अभिनय शैली की ओर पहले ही ध्यान आकर्षित कराया जा चुका है जिसमें भरतनाट्यम की भांति ही शब्द और भंगिमा का पंक्तिशः और शब्दशः पूर्ण तालमेल रहता है। कर्नाटक यक्षगान में इस क्षेत्र में अधिक स्वतंत्र और कम शैलीकृत पद्धति का अनुसरण किया जाता है।

कर्नाटक यक्षगान के चरित्र अपनी वेशभूषा, रूप सज्जा और नाटकीय प्रवेश तथा शैलीकृत गति और चाल के कारण नाटक के पात्र प्रतीत होते हैं। इसकी तुलना में भागवतमेला में आख्यान का वातावरण होता है, यद्यपि उसका संगीत तत्व और नृत्य शैली कभी कभी अधिक समृद्ध और जटिल होती है।

भागवतमेला की वेशभूषा कर्नाटक यक्षगान से बहुत भिन्न है। यद्यपि पुरुष पात्र भव्य वस्त्र पहने रहते हैं जिन पर सलमे सितारे टंके होते हैं और जरी का काम किया रहता है, फिर भी उनमें एक स्वाभाविकता होती है और कथकलि या कर्नाटक यक्षगान की भांति उनको शैलीकृत रूप देने का प्रयत्न नहीं किया जाता। इन पोशाकों के सूत्र मराठा दरबारों में प्रचलित वेशभूषा शैलियों में ढूंढे जा सकते हैं। यह एक काल दोष है जो इस नाट्य विधा से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। यद्यपि विषय पौराणिक और एक दृष्टि से शाश्वत है तथापि वेशभूषा विशेष काल से बंधी हुई है। नारी पात्रों की भूमिका निभाने वाले लड़के भरतनाट्यम की रीति से ही स्त्री वेश धारण करते हैं, यद्यपि कुछ लड़के रोजमर्रा के ढंग से साड़ी बांध कर मंच पर आते हैं। राक्षस जैसे पात्रों के लिए बड़ी बड़ी मूंछें लगाने और नायकों के लिए मूंछें न होने के बावजूद रूप सज्जा साधारण और स्वाभाविक होती है। नरसिंहावतार, हिरण्यकशिपु आदि पौराणिक पात्रों को छोड़कर अन्य पात्रों के लिए रूपसज्जा न्यूनतम हैं। पौराणिक चरित्रों के लिए मुखौटों और रूपसज्जा दोनों का विधान है। हम देखते हैं कि जहां कर्नाटक यक्षगान और भागवतमेला के साहित्यिक दाय एक से हैं और उनमें विषयगत समानता भी है वहीं कर्नाटक का यक्षगान विशिष्ट शैलीकरण से संपन्न एक सशक्त नाट्य विधा के रूप में विकसित हुआ है और भागवतमेला का विकास शृंगार रस प्रधान गीति-नाटक के रूप में हुआ है। संगीत तत्व और नृत्य शैली ने भी दो स्पष्टतया भिन्न शैलियों को जन्म दिया है जिन पर क्षेत्रीयता और स्थानीयता की गहरी छाप भी देखी जा सकती है।

कुचिपुडि

आंध्र में नाट्य विधा के रूप में ब्राह्मण भागवतालु या कुचिपुडि का विकास भी समान रेखाओं पर ही चल कर हुआ। परंतु तमिलनाडु के भागवतमेला की नाट्य विधा और आंध्र के कुचिपुडि या भामकलापम के अंतर सुनिश्चित और सुस्पष्ट हैं और

एक से दूसरे का धोखा नहीं हो सकता। साहित्यिक दाय लगभग एक होते हुए भी नाट्य विधाएं परस्पर भिन्न हो गयी हैं। पहले कहा जा चुका है कि कुचिपुडि के लड़के सैलानी थे और भागवतमेला के भागवतारों की अपेक्षा अधिक गतिशील थे। वे सिद्धेंद्र योगी और उनके शिष्यों की रचनाओं से अधिक प्रभावित थे और तेलुगु के यक्षगान संगीत नाटकों के विशाल साहित्य से अधिक निकट थे। समानांतर में तेलुगु के यक्षगान संगीत नाटकों के विशाल संग्रह में से कुछ ही नाटक नाटक मंडलियों द्वारा अभिनीत किये जाने लगे। शेष नाट्य साहित्य केवल साहित्य जगत तक सीमित है और नाट्य परंपरा का अब अंश नहीं रहा। इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय था भामकलापम या सत्यभामा की कथा। आज यह कुचिपुडि संग्रह का सबसे अधिक महत्वपूर्ण नाटक है, यद्यपि गोल्लकलापम और कुछ अन्य नाटकों का अभिनय भी कभी कभार होता है।

नाट्य विधा और शैली की दृष्टि से भागवतमेला और कुचिपुडि में अनेक समानताएं हैं। नाटक गणेश वंदना से प्रारंभ होता है, किंतु यहां विदूषक नहीं होता। उसके स्थान पर भामकलापम में रंगमंच पर दो व्यक्तियों द्वारा पकड़े परदे के पीछे सत्यभामा प्रकट होती है और अपनी बंधी हुई चोटी परदे पर फैला देती है। दर्शकों के लिए यह नाचने की एक चुनौती भी है। भागवतार पंक्तियों का गायन करता है और स्त्री भूमिका में बालक अभिनेता मंच के पीछे कुछ पूर्वरंग का काम करता है। इसके पश्चात भागवतार जो सूत्रधार का काम भी करता है, मंच पर आता है और नाटक का परिचय देता है। भागवतमेला में अपने प्रतिरूप की अपेक्षा यहां सूत्रधार (जो भागवतार के साथ साथ नट्टुवनंर भी है) की भूमिका कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती है। वह कथानायक भी है और गायक भी, संचालक भी है और विभिन्न अंगों का संयोजक भी। इसके पश्चात् सत्यभामा, रुक्मिणी और कृष्ण की कथा द्रुत गति से आगे बढ़ती है। अभिनेता नर्तक द्वारा बोली गयी पंक्तियां न्यूनतम होती हैं। केवल गद्यांश ही बोले जाते हैं और बहुधा अभिनेता नर्तक का सूत्रधार के साथ कथोपकथन भी होता है। साहित्यिक पद्यों का गायन अधिकांशतया संगत करने वाले संगीतकारों द्वारा किया जाता है। परंतु दारु या ध्रुव गीतों की संरचना तथा विभिन्न चरित्रों के लिए विभिन्न रागों की योजना भागवतमेला जैसी ही है। अभिनेता अपनी पंक्तियां बोलता है जिसके पश्चात् गायक गाता है और नर्तक भागवतमेला के नर्तकों की ही शैली में अभिनय करता है। इसके बाद आंध्र की विशिष्ट नृत्य शैली में शुद्ध नृत्य (अमूर्त नृत्य) संपन्न होता है। बोलों (सोल्लुकट्टु) और तिरमाणम् में कर्नाटक की ताल योजना और पांच जातियों का अनुसरण किया जाता है।

परंतु नृत्य और अभिनय का विशिष्ट आंध्र स्वरूप होता है। अर्धमंडली हल्के नितंब बिक्षेपण से बनाई जाती है, जबकि भरतनाट्यम और भागवतमेला में ऐसा नहीं होता। धड़ का प्रयोग एक इकाई के रूप में किया जाता है, किंतु भरतनाट्मय की-सी कठोरता नहीं होती। कुछ वक्रताओं और वृत्तीय विन्यासों के साथ बाहुओं का प्रयोग कम सुगठित रूप से किया जाता है। परंतु अडवु की मूल योजना का निर्वाह भरतनाट्यम की भांति ही किया जाता है, भरतनाट्यम की भांति उनका समापन तिराइयों, अरद्धियों तथा सुपरिचित तइ-दि दि तइ तइ-तइ-दि दि तई आदि में होता है। सोल्लुकट्टु या बोल भागवतमेला की तरह गाये जाते हैं, यद्यपि हाल की प्रस्तुतियों में कुछ काव्य पाठ भरतनाट्यम की भांति किये गये हैं।

पूरे नाट्य परिदृश्य में ये नृत्य अंश यहां वहां बिखरे रहते हैं और गायन की लय पर किया गया शुद्ध अभिनय कथा को आगे बढ़ाता है। आंगिकाभिनय (हस्त-नेत्र-शरीर भंगिमाएं) में भागवतमेला की ही शैली का अनुसरण किया जाता है। हस्ताभिनय की प्रतीक योजना भरतनाट्यम के सदृश होती है, यद्यपि वह उतनी शैलीकृत नहीं होती। कभी कभी पंक्तिशः व्याख्या की जाती है किंतु अधिकांशतया गेय शब्द और अभिनय के मध्य शब्दशः समक्रमिकता रहती है। इस दृष्टि से भागवतमेला और भामकलापम दोनों ही यक्षगान और कथकलि की अपेक्षा अधिक वर्णनात्मक और वृत्तात्मक हैं। यक्षगान और कथकलि में अभिनेता को आशुरचना या मनोधर्म के लिए बहुत अधिक अवसर मिलता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि यहां इसकी कोई संभावना नहीं रहती, क्योंकि विशुद्ध गीतात्मक अंशों में यहां मुख्य पात्रा भगवान कृष्ण के लिए विकल होती है। आंगिक और सात्विक अभिनय के लिए वैसा ही अवसर मिलता है जैसा कि भरतनाट्यम में पदम में। निस्संदेह समकालीन कुचिपुडि इस बृहतर नाट्य परिदृश्य का ही एक पक्ष है और नृत्य स्वरसमूहों तथा पदों के समेत भामकलापम नृत्य नाटक का अभिन्न अंग है।

वेशभूषा भागवतमेला जैसी ही होती है, यद्यपि अपेक्षाकृत वह कुछ अधिक समृद्ध होती है। नारी पात्रों का अभिनय करने वाले आंध्र की विशिष्ट शैली में साड़ी बांधते हैं और आजकल एकल कुचिपुडि नर्तकों द्वारा इसका प्रयोग किया जा रहा है। पुरुष पात्रों की वेशभूषा पर सामान्यतया किसी काल विशेष की छाप नहीं होती। ऐसी वेशभूषा जो किसी काल विशेष की सूचक हो, कम प्रयोग में आती है। बहुधा चरित्र की प्रकृति के अनुसार नंगे धड़ को भी रंग दिया जाता है। अन्य नाट्य रूपों की भांति वेशभूषा की योजना और मंच पर प्रवेश की रीति दोनों ही चरित्र की पहचान निश्चित करती हैं।

इस तथ्य पर अवश्य ध्यान गया होगा कि आंध्र के भामकलापम में विदूषक का पात्र नहीं होता। प्रेम विषय और गहन वैष्णव प्रभाव इसका कारण हो सकते हैं। वह फिर वीथिनाटकम में प्रकट होता है जिसके विषय पौराणिक कथाओं और यक्षगान की साहित्यिक रचनाओं से लिये गये हैं। परंतु यहां वह सामाजिक व्यंग्य और स्थानीय समस्याओं पर टीका टिप्पणी के द्वारा उनमें समसामयिकता का बहुत अधिक समावेश कर देता है। पात्र शैलीकृत चाल में प्रवेश करते हैं, निंदात्मक भाषा बोलते हैं और भागवतमेला रूपों की अपेक्षा अधिक गद्य का प्रयोग करते हैं, किंतु नृत्य और शैलीकृत अभिनय का उतना प्रयोग नहीं करते। भागवतमेला के गीतात्मक रोमानी वातावरण का स्थान गंवारू हंसी मजाक से भरी अतिनाटकीयता ले लेती है जिसके द्वारा वीथिनाटकम विशाल जनसमुदाय तक पहुंच कर अपना सामाजिक संदेश संप्रेषित करता है।

तमिलनाडु के तेरुकूथु का भी यही स्वरूप है। ये दोनों ही नाट्य रूप यक्षगान से अपरिष्कृत रूप का आभास देते हैं, यद्यपि वेशभूषा और रूपसज्जा की दृष्टि से दोनों में कुछ भी समानता नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन क्षेत्रों के नाट्य रूपों में जहां अनेक समानताएं हैं वहीं सुस्पष्ट भिन्नताएं भी हैं। जहां कुछ विशेषताएं दो नाट्य रूपों में समान रूप से मिलती हैं वहीं कुछ अन्य विशेषताओं का साम्य किसी तीसरे रूप के साथ दृष्टिगत होता है। इस प्रकार यदि नये नाट्य रूपों पर इनकी आंतरिक संरचना, बनावट और शिल्प की दृष्टि से विचार किया जाये तो ये परस्पर घुले मिले वृत्तों की शृंखला दिखाई देंगे।

5

छऊ

दक्षिण के साहित्यिक नाटक, बंगाल और ओड़िसा के यात्रा नाटक, मणिपुर और असम के वैष्णव नृत्य नाटक तथा रामलीला और रासलीला के शृंखला नाटकों की तुलना में छऊ एकदम भिन्न कलारूप प्रतीत होगा। प्रथम दृष्टि में छऊ के विभिन्न रूप असामान्य नाट्य संरचना और प्रदर्शन विधियों के उदाहरण दिखाई देंगे। वस्तुतया जब सेराएकला के छऊ नर्तकों ने सन् 1938 में यूरोप की यात्रा की थी तो उन्हें ऐसे विविक्त प्राचीन कलारूप का प्रतिनिधि मानकर स्वागत किया गया था जिसका अन्य भारतीय परंपराओं से मानो कोई संबंध ही न हो।

गत 25 वर्षों में हमें अधिक जानकारी प्राप्त हुई है न केवल इन कलारूपों की शिल्प विधियों के विषय में अपितु उस परिस्थितिगत और सामाजिक वातावरण के विषय में भी जिसमें इन रूपों का उद्‌भव और विकास हुआ।

छऊ के विधागत नाम से जाने जानेवाले तीनों रूपों का पूर्वी भारत से संबंध है, विशेषकर मयूरभंज, पुरुलिया और सिंहभूम जिलों से कुछ समय पहले तक सिंहभूम जिले के मयूरभंज और सेराएकला के क्षेत्र ओड़िसा के ही भाग थे। पांचवें दशक में ही सेराएकला बिहार का एक जिला बना है। इसी प्रकार पुरुलिया पहले बिहार का भाग था और अब वह बंगाल का एक भाग है। इस देशगत फैलाव और पारस्परिक समीपता में ही उन समानताओं और भिन्नताओं के सूत्र निहित हैं जो इन रूपों की विशेषता है।

इस क्षेत्र में परिस्थितिगत, भौगोलिक और सामाजिक परिवेश तथा मानवजातीय रूप-बहुलता सुविदित है। वनस्पति क्षेत्र मयूरभंज और पुरुलिया के बीच दलदली भूमि से लेकर बंजर पर्वतमाला तक फैला हुआ है। प्रदेश को बीच से काटने वाले नदी तलों और पहाड़ों के कारण सभ्यता के छोटे छोटे विविक्त केंद्र बन गये हैं। यह प्रदेश आज भी मानव जातीय रूप-बहुलता के लिए प्रसिद्ध है। इनमें हो, मुंडा, उरांव, सौरा, जुआंगा तथा अनेक अन्य जनजातियां सम्मिलित हैं। इस प्रदेश की अपनी एक समृद्ध जनजातीय संस्कृति है जिसने ओड़िसा की कलाओं के विभिन्न प्रतिमानों के अध्ययन के लिए अच्छी सामग्री सुलभ करा दी है। जनजातीय वर्गों के अतिरिक्त इनमें आहार एकत्र करने वाले, यायावर, मछुआरे, स्थान बदलकर खेती करने वाले सम्मिलित हैं, कुछ अन्य प्रकार के वर्ग भी हैं जिन्हें सामान्यतया सवर्ण हिंदू कहा जाता है। इन दोनों वर्गों के बीच निरंतर संवाद बना रहा है, यद्यपि प्रदेश की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार पूर्वोक्त वर्ग ही रहा है। साथ ही क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि वर्ग भी हैं जो भारतीय समाज की एक सामान्य विशेषता है।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से इस प्रकार की स्तरबद्धता के होते हुए भी कलारूप किसी विविक्तता या पार्थक्य के सूचक नहीं हैं। भागवतमेला रूपों के संदर्भ में हम देख चुके हैं कि यद्यपि उनका प्रदर्शन

अधिकांशतया ब्राह्मणों द्वारा किया जाता था तथापि उनमें समाज के सभी वर्गों और संप्रदायों की सहभागिता के लिए व्यापक अवसर थे। कुटियट्टम जैसे परिष्कृत कलारूप में हम देख चुके हैं कि नाट्य प्रदर्शन के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्गों के बीच संवाद और गतिशीलता बनाये रखने की व्यवस्था उसमें किस प्रकार निहित थी। छऊ रूपों में इसी क्रिया का एक अन्य पक्ष हमें दृष्टिगत होता है। यहां अधिकांश अभिनेता और रंगकर्मी उन वर्गों से आते हैं जो सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग कहे जाते हैं या जिनकी गणना अनुसूचित जातियों में की गयी है। आर्थिक दृष्टि से विपन्न और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए ये वर्ग एक ऐसे नाट्य रूप के रचयिता और निर्माता हैं जिसने अपने भीतर अत्यधिक विकसित संरचनाबद्ध भारतीय रंगमंच के सभी तत्वों को समेट रखा है। कलाशास्त्र की शब्दावली में इसे 'देशी रंगमंच' कहा जायेगा जो 'मार्गी' कही जाने वाली कुटियट्टम परंपराओं की तुलना में दूसरे छोर पर है। परंतु अधिक सूक्ष्मता से छानबीन करने से प्रकट होगा कि यद्यपि दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं, तथापि उनकी स्थिति किसी वृत्त के भीतर अलग अलग खंडों की-सी है, इससे अधिक कुछ और नहीं। दोनों के बीच कोई ध्रुवीय दूरी नहीं है।

इस सामाजिक चित्र को ध्यान में रखना आवश्यक है। तभी इस तथ्य को समझा जा सकता है कि भारतीय संदर्भ में मार्गी और देशी शब्द कलात्मक दृष्टि से किसी मूल्यवान सोपान के सूचक नहीं हैं। उनकी स्थिति वृत्त के भीतर अलग अलग खंडों से अधिक भिन्न नहीं है। इसलिए हमने यहां जान बूझकर ही इस कला रूप का कोई साहित्यिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया है। इसके स्थान पर हमने सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए परिवेश में अत्यधिक परिष्कृत कलारूपों के पनपने और फलने फूलने के विरोधाभास पर विचार करने का प्रयत्न किया है।

फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि इन तीनों रूपों की एक-सी स्थिति है। और न ही यह कहा जा सकता है कि यह आर्थिक पिछड़ापन इतिहास के प्रत्येक युग में इनके साथ जुड़ा रहा है। इसे गत 100 वर्षों या इससे कुछ अधिक समय का परिणाम माना जा सकता है।

जहां तक आर्थिक विपन्नता का संबंध है, यह दक्षिण भारत के भागवतमेला के कलाकारों और पुरुलिया के रिक्शाचालकों में समान रूप से दिखाई देगी, चाहे दोनों की सामाजिक स्थिति में बहुत अधिक अंतर क्यों न हो।

अब छऊ रूपों और उनके कलाकारों पर विचार करें। यह प्रकट होगा कि इनमें सबसे अधिक निर्धन वर्ग पुरुलिया छऊ के कलाकारों का है। इन सबका ही संबंध अनूसूचित जातियों से है। दूसरा बड़ा वर्ग मयूरभंज समुदाय का है। सामाजिक दृष्टि से इन्हें निम्न स्तर का नहीं समझा जाता। इनका संबंध पाइक जाति से है और ये संभवतया मयूरभंज की राजसेना में थे। दूसरी ओर, सेराएकला के नर्तक क्षत्रिय जाति के हैं और यहां इस कलारूप को न केवल राजवंश का प्रश्रय प्राप्त था अपितु राजवंश के सदस्य स्वयं इस कलारूप के शिक्षक, कलाकार और मुखावरण के निर्माता भी रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समान प्रकृति की कलात्मक अभिव्यक्ति समाज के सभी वर्गों में समान रूप से ग्राह्य रही है और वह किसी विशेष सामाजिक या आर्थिक वर्ग तक सीमित नहीं है।

हम इनमें से प्रत्येक रूप की अलग अलग चर्चा करेंगे, परंतु यह आवश्यक है कि इन तीनों रूपों की पारस्परिक समानता और भिन्नता और अन्य नाट्य रूपों से उनके संबंध की ओर पहले संकेत कर दिया जाये। भारत के अन्य भागों में रंगमंच और नृत्य नाटक की भांति ही ये रूप भी दो धरातलों पर गतिशील रहते हैं। एक धरातल संस्कृत परंपरा का है जिसके अंतर्गत इनकी विषयवस्तु पुराणों और महाकाव्यों से ली जाती है, जबकि दूसरा धरातल विशुद्ध रूप से स्थानीय, क्षेत्रीय या देशी है और इसके अंतर्गत बहुत कुछ मौखिक परंपराओं से ग्रहण किया जाता है।

इनमें से प्रत्येक रूप का अपने क्षेत्र में अन्य रूपों से सजीव संबंध तो होता ही है और ये एक-दूसरे से भी स्वभावतया सजीव रूप से जुड़े होते हैं। मयूरभंज नृत्य की स्थिति जनजातीय नृत्यों के व्यापक वैविध्य विशेषकर गंजाम जिले के नृत्यों और पुरी के अत्यधिक परिष्कृत महारी नृत्यों के भीतर बीच की स्थिति है। ओड़िसा में ये सभी स्तर दृष्टिगत हो सकते हैं। परंतु बिहार या बंगाल, विशेषकर पुरुलिया छऊ और सेराएकला छऊ के संदर्भ में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यहां एक बहुत सशक्त और समृद्ध जनजातीय संस्कृति तथा कीर्तनियों की व्यापक परंपरा होते हुए भी उस प्रकार का प्रत्यक्ष कलात्मक आरोपण दिखाई नहीं देता जैसा ओड़िसा में दिखाई देता है।

अत: छऊ रूपों के संदर्भ में उनकी मुख्य अंतर्संबद्धता की खोज करना अधिक उपयोगी और मूल्यवान होगा। सेराएकला छऊ और मयूरभंज छऊ में अनेक पारस्परिक संपर्क बिंदु मिलेंगे, विशेषकर शिल्प संगीत और वेशभूषा के क्षेत्रों में। परंतु मयूरभंज छऊ में मुखौटे का उपयोग नहीं होता जब कि पुरुलिया और सेराएकला में समान रूप से उनका व्यवहार होता है। पुरुलिया और मयूरभंज छऊ में महाकाव्यात्मक वर्णन पद्धति मिलती है, किंतु सेराएकला छऊ में यह नहीं है। सेराएकला छऊ में एक रचना आठ-दस मिनट से अधिक नहीं होती। वेशभूषा भी इसी प्रकार समय के अनेक अंगों का एक आश्चर्यजनक और मोहक चित्र प्रस्तुत करती है तथा विभिन्न कालों के सम्मिश्रण का द्योतन करती है।

सेराएकला छऊ

सबसे पहले सेराएकला छऊ पर विचार करें। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सेराएकला सिंहभूम जिले में है जो पहले ओड़िसा का एक भाग था। अब यह बिहार का एक भाग है। यह एक छोटी- सी देसी रियासत थी जो सरंद और बंगरी पहाड़ों से घिरी हुई है। खटकेई नदी इससे होकर बहती है। इसके कारण इस क्षेत्र की भूमि उपजाऊ है और यहां पूरे वर्ष खेती हो सकती है। पुरुलिया की स्थिति इसके विपरीत है। यह एक बंजर और पथरीला प्रदेश है। सेराएकला का इतिहास अभी लिखा नहीं जा सका है। ऐतिहासिक अभिलेखों से केवल इतना पता चलता है कि यह देसी रियासत न तो मुगलों के आधिपत्य में आयी थी और न ही मराठा शासकों के। देश के अन्य भागों से कटे रहने की यह स्थिति भी उसकी अविच्छिन्न सांस्कृतिक परंपरा का कारण हो सकती है। इस सांस्कृतिक परंपरा का उद्‌गम ईसा पूर्व काल में माना जा सकता है। सन् 1820 में यहां के राजाओं ने ब्रिटिश सरकार के साथ एक संधिपत्र पर हस्ताक्षर किये। यह एक छोटा-सा प्रदेश है जिसकी जनसंख्या लगभग दस लाख है। यहां का समाज एक सुसंबद्ध समाज है जिसमें जनसाधारण से लेकर राजा तक सभी एक समुदाय के सदस्य हैं।

सेराएकला छऊ का कलात्मक इतिहास रहस्य में डूबा हुआ है। अब तक ऐसे कोई भी पाठ, पांडुलिपि या उत्कीर्ण लेख नहीं मिल सके हैं जो इस के इतिहास पर प्रकाश डाल सकें। केवल थोड़े से पुरावशेष और कुछ लघु चित्र हैं जिनसे इस क्षेत्र की कविता, नृत्य नाटक या स्थापत्य की परंपरा की जानकारी मिलती है। अत: वर्तमान नाट्य परिदृश्य ही हमारे लिए एकमात्र आधार बन सकता है। परंतु इस पर भी एक विशेष सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश के भीतर ही विचार किया जा सकता है जिसके कारण इस प्रस्तुति पर कतिपय साहित्यिक और काव्यात्मक विधाओं के विकास के रूप में विचार करने की अधिक संभावना नहीं रह जाती जैसा कि दक्षिण भारत, बंगाल, असम, उत्तर प्रदेश आदि के संदर्भ में संभव है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सेराएकला में छऊ महाकाव्यात्मक विषयवस्तु या मिथक, दंतकथा और कल्पनाशीलता का पूर्ण अभाव है। इसके विपरीत, सेराएकला छऊ का भंडार मिथकों और देव कथाओं, पौराणिक कथाओं, महाकाव्यात्मक विषयवस्तु और प्रतीकात्मकता से भरा हुआ है।

मयूरभंज, सेराएकला और पुरुलिया के तीनों रूपों के लिए प्रयुक्त 'छऊ' शब्द को लेकर कुछ वाद-विवाद भी होता रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'छऊ' शब्द की व्युत्पत्ति 'छाया' शब्द से है। अनेक कलाकारों की यही धारणा थी जिनमें सेराएकला के राजा भी सम्मिलित हैं। अन्य विद्वानों ने इससे घोर असहमति प्रकट की है और उन्होंने अन्य उपाख्याएं प्रस्तुत की हैं। एक व्याख्या के अनुसार 'छऊ' का संबंध संस्कृत शब्द 'छद्म' से जोड़ा गया है। एक और व्याख्या में बोलचाल की ओड़िआ भाषा के एक शब्द की ओर संकेत किया गया है जिसके अनुसार 'छऊ' शब्द का अर्थ कोई हथियार या छिपकर शिकार खेलना है। तीसरी व्याख्या के अनुसार 'छऊ' शब्द का संबंध 'छावनी' से जोड़ा गया है। यद्यपि इस एक शब्द को लेकर हुए वाद-विवाद का समाधान आवश्यक नहीं है तथापि यह एक महत्वपूर्ण बात है कि इन रूपों का नामकरण किसी जाति विशेष पर नहीं (जैसा कि भागवतमेला के साथ हुआ है) अपितु किसी क्रिया या व्यवसाय के आधार पर अथवा पूरे समुदाय के कार्यकलाप के आधार पर हुआ है (जैसा कि यात्रा नाटक या देश के अन्य भागों के अन्य जुलूस नाटकों के संबंध में हुआ है)। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि तीनों प्रकार के छऊ नृत्यों में समाज के अनेक वर्गों की सहभागिता होती है यह स्वीकार करना युक्तियुक्त होगा कि छिपकर शिकार खेलना या आक्रमण करना ही 'छऊ' शब्द का सबसे अधिक उपयुक्त

अर्थ है, यद्यपि 'छद्म' का अर्थ भी इसमें निहित है क्योंकि कम से कम दो छऊ रूपों में मुखौटे का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए, आशुतोष भट्टाचार्य का आग्रह है कि 'छऊ' शब्द की व्युत्पत्ति 'छद्म' से है। वह इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि तिब्बती शब्द 'चम' मुखौटे के लिए है और मुंडारी शब्द 'चक' का अर्थ है 'प्रेत'। असम में भी नेपथ्य के लिए 'चौप्पर' शब्द का प्रयोग होता है।

राजवंश के सदस्य सेराएकला छऊ के प्रश्रयदाता हैं और वे इसकी प्रस्तुति में भी भाग लेते हैं। जनजातीय वर्ग, कृषक वर्ग और सैनिक वर्ग ये सभी इसमें भाग लेते हैं। सैनिक वर्ग का विशेष महत्व है क्योंकि नर्तक इसी वर्ग के होते हैं। परंतु अन्य वर्गों की भूमिका भी समान रूप से अनिवार्य है। हम आगे देखेंगे कि किस प्रकार नृत्यपूर्व कर्मकांड में भाग लेने का अवसर सभी वर्गों को मिलता है और किस प्रकार प्रत्येक समुदाय के सदस्यों की एक विशेष भूमिका रहती है।

भागवतमेला और यक्षगान के संबंध में हम देख चुके हैं कि कर्मकांड यवनिका के पीछे या नेपथ्य में संपन्न होता है। छऊ में कर्मकांड की स्थिति नृत्य के पूर्वरंग की नहीं है, अपितु यह स्वयं में एक संपूर्ण उत्सव है। जिसे नृत्य कहा जाता है वह चैत्र मास में आयोजित 26 दिवसीय उत्सव के अंतिम तीन दिनों तक ही सीमित रहता है। मयूरभंज और सेराएकला दोनों में पूरा समाज चैत्र पर्व के 26 दिन पूर्व इस उत्सव के आयोजन के लिए एकत्र होता है। इसका समापन वैशाखी के दिन होता है जिसका आयोजन 13 अप्रैल को किया जाता है। सेराएकला छऊ में तेली तमिली, खंद्र, कंसारी, पात्र, गुदिया, बनिया और बादिया आदि जातियां प्रारंभिक कर्मकांड में भाग लेती हैं।

खंभा गाड़ने और जुलूस निकालने के चलन से किसी जनजातीय संस्कार विधि की विस्तृति का पता चलता है। किसान के लिए इस विधि संस्कार के कार्यात्मक पहलू का कृषि चंद्र से एक संबंध है। अन्यथा चैत्र मास में इस उत्सव का आयोजन क्यों किया जाता ? खंभा शिव अर्थात् शिवलिंग का प्रतीक बन जाता है। मयूरभंज और सेराएकला दोनों में कर्मकांड संबंधी मुख्य घटनाएं स्नानघाटों के इर्दगिर्द घूमती हैं। पहले दिन एक जुलूस शिव मंदिर की ओर जाता है जहां एक प्रारंभिक आकृति का लिंगम होता है। जुलूस में उपर्युक्त सभी संप्रदायों के लोग सम्मिलित होते हैं। उत्सव काल के लिए उन्हें दीक्षित किया जाता है जिसमें परिणामस्वरूप वे ब्राह्मण या भगत (भक्त) हो जाते हैं। कुछ समय के लिए उनके जातिगत नाम भी बदल जाते हैं और वे शिव गोत्र के सदस्य बन जाते हैं। भगतों का जुलूस राजकीय स्नानघाट, यज्ञघाट से आरंभ होता है। जुलूस का नेतृत्व करने वाले व्यक्ति के हाथ में एक खंभा होता है जिसे 'जर्जरा' कहते हैं। मंदिर के बाद जुलूस महल में पहुंचता है और अंत में जुलूस एक पवित्रीकृत नृत्य स्थल पर पहुंचता है जिसे 'आखडा' कहते हैं। अगली रात्रि को 'यात्राघट' का पहला कृत्य संपन्न किया जाता है। सर्वप्रथम भरा गया घड़ा जिसे मंगल या मंगलघट भी कहते हैं, शुभ घड़ा होता है जो उर्वरता और निरंतरता का प्रतीक होता है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जो व्यक्ति इस शुभ घड़े को लेकर चलता है वह जाति से तेली होता है। घड़े की पूजा की जाती है और तब तेली घड़े को इस अवसर के लिए विशेष रूप से चुने गये एक अन्य व्यक्ति के सिर पर रख देता है। इसे 'घटवालि' कहते हैं। इसका शरीर पूरी तरह से सिंदूर में रंगा होता है। यह शरीर के निचले आधे भाग में धोती पहने होता है। यह भी एक ऐसा अंतरण और ऐसी प्रतीकात्मक क्रिया है जिसमें अनेक अर्थ छिपे हुए हैं। उर्वरता और पूर्णता का प्रतीक 'मंगल-घट' ऐसे व्यक्ति के सिर पर रखा जाता है जो उस निश्चित समय में शक्ति का और इस नाते गति और क्रिया का प्रतीक होता है। 'यात्राघट' में भरे जल को शक्ति ही कहा जाता है। इस घड़े का वाहक स्वभावतया पवित्रीकृत हो जाता है और उसे शिव की आकृति में लीन हो जाना चाहिए।

धीरे धीरे, ढोल और गति की आवाजों के बीच 'घटवालि' समाधि अवस्था में चला जाता है। प्रतीकात्मक रूप से यह संयुक्ति का द्योतक है। 'घटवालि' इसी अवस्था में घड़े को मंदिर में शिवलिंग के ठीक पार्श्व में रख देता है। यह शिव और शक्ति का प्रतीकात्मक सम्मिलन है। इसके बाद जुलूस महल में लौटने लगता है। इस समय तक भगतगण प्रत्याशा से भर जाते हैं और वे नाचने या जमीन पर लोटने लगते हैं। विधि संस्कार का यह अंश मयूरभंज के विधि संस्कार से बहुत भिन्न है जिसमें खंभे वाला विधि संस्कार बहुत व्यापक होता है और जिसमें पवित्रीकृत व्यक्ति खंभे पर लटका रहता है और नीचे आग जलती रहती है। सेराएकला का विधि संस्कार सीधा सादा है।

दूसरा संस्कार अगले दिनों में संपन्न किया जाता है और यह कृष्ण के चारों ओर घूमता है जिसे 'वृंदावनी' कहते हैं।

लगता है कि यह संस्कार पहले ही अनेक प्रकार के सम्मिश्रण और संश्लेषण से गुजर चुका है क्योंकि वृंदावनी के अंतर्गत जो कुछ प्रदर्शित किया जाता है उसका वृंदावन से कदाचित ही कुछ संबंध है। वास्तव में इसमें हनुमान की लंका विनाश की कहानी कही जाती है। परंतु प्रतीकात्मक अर्थवत्ता स्पष्ट है, क्योंकि प्रत्येक प्रसंग विष्णु की रक्षात्मकता का ही द्योतन करता है। यह दूसरा संस्कार महल में संपन्न किया जाता है।

एक और संस्कार जिसे 'कालिकाघट' कहते हैं, चौथे दिन संपन्न होता है। इसे 'कामनाघट' भी कहा जाता है और इसका संबंध सृष्टि के तीसरे पक्ष अर्थात् कामना और उसके अंततः विनाश से है। इस बार शिवलिंग के पास घड़ा ले जाने वाला व्यक्ति लाल वस्त्र के स्थान पर काले वस्त्र पहने रहता है। घड़ा भी यात्राघट या मंगलघट की तरह अलंकृत नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस घड़े को शिवलिंग के पास ही गाड़ देने की रीति भी है और इसे अगले वर्ष ही इसी समय पर निकाला जा सकता है। प्रतीकात्मक रूप से यह घटना एक और चक्र के समापन की सूचक है क्योंकि बाहर एक भगत प्रकटतया मरा पड़ा दिखाई देता है जो राजा या किसी अन्य व्यक्ति के स्पर्श करने से ही पुनः जीवित हो सकता है।

उस रात्रि को और 'कामनाघट' की रात्रि को कोई प्रस्तुति नहीं होती। इन सब संस्कारों के संपन्न हो जाने और प्रस्तुति के लिए नृत्य स्थल का पवित्रीकरण होने के पश्चात् ही नृत्य आरंभ होता है।

एक बार नृत्य स्थल पर पहुंच जाने के पश्चात् केवल कलात्मक मूल्यों को ही महत्व दिया जाता है जिन पर विचार तो संस्कार की पृष्ठभूमि में ही किया जाना चाहिए, किंतु इनका मूल्यांकन उनके शिल्प और संरचना की परिधि से हटकर नहीं होना चाहिए।

अन्य छऊ रूपों की भांति सेराएकला छऊ की प्रस्तुति भी व्यायाम की एक समुन्नत और सुविकसित पद्धति पर आधारित है। इसे 'परिखंडा' कहा जाता है और इसका अभ्यास योद्धा वर्गों द्वारा नदी तल पर इस कार्य के लिए नियत स्थल पर तड़के ही किया जाता है। संपूर्ण गति स्वरूप तलवार और ढाल के खेल (परिखंडा) से उद्‌भूत हुआ है। इसके फलस्वरूप अंग चालन की ऐसी पद्धति विकसित हुई है जिसमें अन्य नृत्य शैलियों की भांति मुख और हाथ अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बनते, अपितु शरीर के निम्न अंग अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं।

अन्य दो छऊ की भांति सेराएकला छऊ में भी ऐसी शारीरिक स्थितियों और भंगिमाओं, चाल और नृत्य गति की निश्चित पद्धति का अनुसरण किया जाता है जो अनेक मूल क्रियाओं और भंगिमाओं के योग से उत्पन्न होती हैं। यद्यपि प्रथम दृष्टि में गति स्वरूप का नियंत्रण करने वाली आधारभूत भंगिमाओं को देख पाना कठिन है, किंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रकट होगा कि नर्तक त्रिभंग के हेरफेर से गति का निर्माण कर रहा है। सिर का विक्षेपण (ग्रीवा संधि से) भी होता है और कूल्हे का विक्षेपण (श्रोणि संधि से) भी। केवल घुटनों को अधिक मोड़ा नहीं जाता जब कि मयूरभंज छऊ में इसे अत्यावश्यक माना जाता है। मयूरभंज छऊ और पुरुलिया छऊ दोनों में 'चौक' अर्थात् मंडल स्थान की स्थिति का अनेक प्रकार से उपयोग किया जाता है। सेराएकला छऊ में इसका अस्तित्व नहीं है। कूल्हों और निम्न अंगों की गति की तुलना में धड़ की गति प्रायः सर्पिल होती है। अग्र चित्र का स्थान तीन चौथाई भाग या पार्श्व भाग ग्रहण कर लेता है। यह एक विकर्ण गति द्वारा संभव होता है जिसमें शरीर बल-सा खा जाता है। अतः कंधे सदा ही एक तिरछी रेखा बनाते हैं, बहुधा विकर्णतः आगे पीछे या ऊपर नीचे। ये मूलभूत मुद्राएं और बाहुओं की एक निश्चित स्थिति, जिसमें एक हाथ तलवार पकड़ने के अंदाज में ऊपर उठा होता है और दूसरा हाथ ढाल पकड़ने के अंदाज में कमर पर टिका होता है, नृत्य शैली को उसकी गत्यात्मक अभिव्यंजकता प्रदान करती है।

भरतनाट्यम के 'अडवु' और ओडिसी के 'अर्सास' की भांति प्रथम अंग संचालन प्रारंभिक कोटि का होता है। इन दोनों नृत्य शैलियों में और साथ ही मणिपुरी का कथक में भी प्राथमिक गति में भार एक पांव पर होता है और दूसरा पांव सभी दिशाओं में घुमाने के लिए स्वच्छंद रहता है। सेराएकला छऊ में भी प्राथमिक अंग संचालन इसी प्रकार का होता है। संबद्ध शब्दावली अभिव्यंजक है और इन प्रारंभिक क्रियाओं के समूह को 'चालि' कहा जाता है। 'चालि' या 'चलि' शब्द संस्कृत के नृत्यशास्त्र के ग्रंथों में प्राचीन काल से ही प्रयुक्त होता आया है और अखिल भारतीय स्तर पर इस शब्द का व्यवहार होता है। परंतु विभिन्न क्षेत्रों में इसके अलग अलग अर्थ हैं। सेराएकला में यह गति की दिशा और स्वरूप दोनों का सूचक है।

प्रथम तीन चालियों के लिए आगे, पीछे, आरही या अदली (विकर्ण) जैसे सरल शब्द हैं। इसके बाद की तीन चालियां अंग संचालन के स्वरूप और पद्धति की द्योतक हैं अर्थात् अंग संचालन सीधा है या वक्र है अथवा सर्पिल है। इस प्रकार गोमूत्र चालि वक्र गति की द्योतक है, जो एक पुष्प विन्यास है। इसी प्रकार सुर चालि तरंग भृंग और समुद्र की तरंगों के स्थूल विन्यास की सूचक है।

ये प्राथमिक चालियां तब इकाइयों में विकसित हो जाती हैं जिन्हें 'टोपका' कहा जाता है। इनकी तुलना भारतनाट्यम और अन्य शास्त्रीय नृत्य शैलियों की प्राथमिक लय इकाइयों से की जा सकती है। टोपका वर्णनात्मक या अनुकरणात्मक होने के साथ साथ गतिपथ या गतिस्वरूप का भी सूचक है। बहुत अंशों में सेराएकला छऊ के टोपका को नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण की 'गति' के समतुल्य माना जा सकता है। नौ टोपकों में से पांच पशुओं और पक्षियों की चाल या गति के सूचक हैं – (क) बाघ घुमका (बाघ की छलांग); (ख) बाघ गति (बाघ की चाल); (ग) हस्ति गति; (घ) मयूर गति; (ङ) हंस गति। दो टोपकों का संबंध सुर, असुर से है -- (च) सुर गति; (छ) कंस गति। अंतिम दो टोपकों का संबंध गति की प्रकृति से है। ये हैं सागर गति और झूमक (झूलने की गति)।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि ये टोपका मनुष्य, प्रकृति और पशुओं के बीच घनिष्ठ संबंध के सूचक हैं और ये कलाकारों की ऐसी गति का संकेत देने की इच्छा के भी द्योतक हैं जो प्रकृति जगत और प्राणि जगत के बिंबों का उद्बोधन करा सके। प्रत्येक टोपका की निष्पादन गति तीन प्रकार की होती है – विलंबित, मध्य या द्रुत।

टोपका की इन प्राथमिक गतियों से दूसरी आधारभूत इकाई विकसित हुई है जिसे 'उफली' कहते हैं और जो संस्कृत के उपलय का पर्याय है। मयूरभंज छऊ की भांति उफली का उद्भव दैनिक जीवन की क्रियाओं से हुआ है। यह एक रोचक तथ्य है कि दोनों शैलियों में गोबर सानने और फैलाने तथा उससे मिट्टी का फर्श तैयार करने की क्रियाओं पर अधिक ध्यान दिया गया है। इन दैनिक क्रियाओं का संकेत देने तथा जटिल विन्यास निष्पन्न करने के लिए पूरी टांग का उपयोग किया जाता है। इस श्रेणी के उफली समूह हैं गोबरगोला, गुटिकुड, चदचिआं और झूंटी दिआ। अन्य श्रेणी की उफलियां कृषि संबंधी क्रियाओं और अनाज इकट्ठा करने की क्रिया से संबंधित हैं। इनमें से धान के इर्दगिर्द घूमने वाली गतियां सबसे, अधिक महत्वपूर्ण हैं। दो उफलियों का नामकरण और गति विन्यास इन पर ही आधारित है। ये हैं – धानकटु तथा कुला पाछुडा (फटकना)। अन्य का संबंध झाड़ी काटने और बांस को चीरकर दो भाग करने की क्रियाओं का संकेत देने से है। घरेलू कामकाज और अपना साज संवार अन्य श्रेणी की उफलियों का विषय है। ये हैं – पिथउ बटा इडिमजा तथा स्नान सिंदूर-टीका। अंतिम श्रेणी उन चालों का स्मरण कराती हैं जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। ये हैं – चेलि दिआं, हरिण दिआं, बाघ टोपका, बाघ पाणिखिआ। अंतिम उफली एक है – अंटामोडा जो एक प्रत्यक्ष नाटकीय क्रिया है और जिसमें मार डालने या पैरों तले कुचलने का संकेत दिया जाता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि ये विन्यास निचले अंगों के संचालन से विकसित होते हैं और पूरी टांग या केवल पिंडली की सहायता से इन्हें आगे बढ़ाया जाता है। इन क्रियाओं या विचारों का संकेत देने के लिए हस्ताभिनय से काम नहीं लिया जाता जब कि हस्ताभिनय अन्य नृत्य शैलियों की प्रमुख विशेषता है। गोबर, उसे सानने आदि से संबंधित उफलियों में पंजे को सदा ही आगे विस्तृत किया जाता है और घुटनों को कमर तक उठाया जाता है। यह स्थिति नाट्यशास्त्र की 'चारि' गति का स्मरण कराती है, विशेषकर अपक्रांत, अतिक्रांत और स्वास्तिक का। टांग की विस्तृति भी सुस्पष्ट है और इनमें से अनेक उफलियों की अंतिम परिणति जिस स्थिति में होती है उसे 'आलिढ' या 'प्रत्यालिढ' के रूप में पहचाना जा सकता है। ये दोनों मुद्राएं रंगमंच पर लड़ाई या तलवार-ढाल के खेल का अभिनय करने वालों के लिए सुझाई गयी हैं। इनके अतिरिक्त टांग का विस्तारण भी होता है और विस्तारित टांग को ऊपर भी उठाया जाता है जैसा कि 'हरिण दिआं' में या बाघ को पानी पीते दिखाते समय (बाघ पाणिखिआ) किया जाता है। सेराएकला और मयूरभंज छऊ में टांग का यह विस्तारण नाट्यशास्त्र के वृश्चिककरण का परिवर्तित रूप है।

टोपका, उफली तथा मूल चालि परस्पर मिलकर गति की लय की सृष्टि करते हैं जिसे 'भंगी' कहते हैं। छऊ के संदर्भ में भंगी का जो अर्थ है यह ओडिसी में प्रयुक्त भंगी शब्द के अर्थ से भिन्न है। इस अंतर को हमें ध्यानपूर्वक समझ लेना

चाहिए। छऊ में भंगी एक गति की लय है जबकि शास्त्रीय नृत्य में, विशेषकर ओडिसी में यह एक आधारभूत मुद्रा है। ऐसा लगता है कि किसी बिंदु पर चालि और भंगी शब्दों के अर्थ एक-दूसरे से बदल गये हैं।

नृत्य की शिल्पविधि इन तीन अवयवों के योग से बनती है, यद्यपि अंग संचालन विन्यास का जैसा गुच्छ शास्त्रीय नृत्य में मिलता है – जैसे कत्थक के टुकड़े में या भरतनाट्यम के तिरमाणम में – वैसा यहां नहीं होता। परंतु यह सत्य है कि अनेक लयों की परिणति तालबद्ध त्रय या चतुष्क में होती है। भंगी में अभिनय का प्रयास किया जाता है, यद्यपि केवल टांगों की सहायता से और हाथों की कतिपय स्थिति के द्वारा न कि मुख की भंगिमा के द्वारा। भंगियों के नाम सांकेतिक हैं। इनके नाम हैं – स्नेह, लज्जा, चांद देखा, विषाद, चंद्रमुख। धड़ और फैले हुए बाहुओं के संचालन द्वारा इन सबका संकेत दिया जाता है और इसके लिए संगीत या हस्त संचालन में शब्द का सहारा नहीं लिया जाता।

अंग संचालन की यह व्यवस्था तब एक निश्चित लय या तालक्रम या संगीत के साथ जोड़ दी जाती है। सेराएकला छऊ में जिन तालों का व्यवहार होता है वे सामान्य तीन ताल से लेकर मात्राओं वाली धमार पद्धति तक के हो सकते हैं। ढोल पर बोल वादन होता है और प्रत्येक चोट तक विशेष बोल की सूचक होती है। एक साथ चार प्रकार के ढोल बजाये जाते हैं जिन्हें ढोल, धुम्सा और टिक्रा या नगाड़ा कहा जाता है। मयूरभंज छऊ की भांति ही यहां भी एक प्रकार की शहनाई का व्यवहार होता है। जिसे 'महुरि' कहते हैं। अब कभी कभी हारमोनियम का उपयोग भी किया जाता है। वृंद वाद्य को बढ़ाया भी जा सकता है और घंटा तथा करताल उसमें सम्मिलित किये जा सकते हैं। रणसिंह और नरसिंह जैसे सुषिर वाद्य भी बहुधा इसमें जोड़ लिये जाते हैं।

छऊ में गेय अंश न्यूनतम रहता है। सेराएकला छऊ में यह अंश और भी कम है। वाद्य संगीत की ही प्रधानता रहती है। परंतु यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाये कि संगीत रचनाएं उपेंद्रभंज, कवि सूर्य, उदितनारायण जैसे प्रमुख ओड़िआ कवियों की हैं तो प्रकट होगा कि किसी न किसी बिंदु पर गेय अंश भी आवश्यक रहा होगा। आवृत्तीय रागात्मक टेकों ने समृद्ध साहित्य का स्थान ले लिया है। व्यवहृत रागों में देशाख्य असद शुक्ल जैसे देशी रागों से लेकर मालकौंस, केदार और भैरवी जैसे अत्यधिक परिष्कृत और समुन्नत राग सम्मिलित हैं। ताल अनेक हैं, जिनमें तीन ताल धमार आदि सम्मिलित हैं। इनका प्रयोग बहुत कौशल और जटिलता के साथ किया जाता है।

सेराएकला छऊ के विषय भंडार में महाकाव्यात्मक विषयों से लेकर विशुद्ध गीतात्मक स्वर समूह तक सम्मिलित हैं। इन स्वर समूहों में किसी न किसी स्तर पर काव्य वस्तु भी रही होगी। पुरुलिया और मयूरभंज दोनों छऊ नाटकीय तत्व के लिए महाकाव्यों पर आश्रित हैं। सेराएकला छऊ भी इन स्रोतों का उपयोग करता है, किंतु उसने अपने विषय क्षेत्र का विस्तार कर लिया है और प्रकृति तथा पशु पक्षियों से संबंधित विषय तथा भारतीय मिथकों और किंवदंतियों पर आधारित विशुद्ध निर्वचनात्मक और प्रतीकात्मक विषय उसमें आ गये हैं। महाकाव्यों और पुराणों से लिये गये विषयों से संबंधित स्वर समूहों में महिषमर्दिनी, दुर्योधन उरु भंग, हर पार्वती, ऋष्य शृंग, चंद्रभागा आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रत्येक यथार्थ चित्रण से अधिक सांकेतिक अभिव्यक्ति का द्योतक है। निष्पादन में जिस संयम का परिचय दिया जाता है और विषय विकास जिस मंद और क्रमिक गति से होता है वह पुरुलिया छऊ की नाटकीय शक्ति के एकदम विपरीत है। प्रकृति और पशु पक्षियों से संबंधित स्वर समूहों में मयूर नृत्य, सर्प नृत्य, प्रजापति नृत्य, सागर नृत्य आदि उल्लेखनीय हैं। कार्यसूचक स्वर समूहों में धीवर, नाविक आदि के जीवन से संबंधित मर्मस्पर्शी विषय सम्मिलित हैं। इनमें प्रत्येक का निर्वाह प्रतीकात्मक रीति से किया जाता है। प्रजापति नृत्य और मयूर नृत्य क्रमशः तितली और मोर से संबंधित हैं तथा विभिन्न जीवन दर्शनों के सूचक हैं। धाविक नृत्य जिसमें जोखिम से भरे समुद्री जीवन का चित्रण होता है बहुत ही सुंदर नृत्य है जो चीनी संगीत नाटक (ओपेरा) का स्मरण कराता है। विश्व रचना जैसे आकाशमंडल और रात्रि तथा आगामी दिन के परस्पर संबंध के विषयों पर भी स्वर समूह हैं। ऐसा ही एक स्वर समूह चंद्रभागा है जिसका संबंध सूर्यदेव के लिए चंद्रभागा के प्रेम की कथा से है। धीरे धीरे और क्रमिक रूप से इन दोनों के संबंध की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण किया जाता है। इस कथा का दुखद अंत तब होता है जब चंद्रभागा समुद्र में कूद कर जान दे देती है। इन स्वर समूहों में जिस शैलीकरण का परिचय मिलता है वह अमूर्तन शक्ति का द्योतक है। सेराएकला छऊ की यह विशिष्टता उसे अत्यधिक परिष्कृत नृत्य रूप के स्तर पर ले आती है जिसका

लोक नृत्य की परंपराओं से कोई साम्य नहीं है या यदि है भी तो बहुत कम।

इन मर्मस्पर्शी विषयों का निर्वाह अद्‌भुत गीतात्मक सौंदर्य से किया जाता है जो कभी भी अति नाटकीय नहीं होता। समग्र निर्वाह की इस प्रभावशीलता का श्रेय बहुत अंशों में सेराएकला के प्रसिद्ध मुखौटों को जाता है। ये मुखौटे अपने आप में एक अनुपम निधि हैं। प्रारंभ में ये शायद मिट्टी से बनाये जाते थे। बाद में लकड़ी के बनाये जाने लगे। इस समय खरकई नदी के पास मिलने वाली काली मिट्टी से ही बनाये जाते है। जिस चरित्र का मुखौटा तैयार करना हो उसका मिट्टी का माडल एक लकड़ी के तख्ते पर जड़ दिया जाता है। तब उस पर मलमल का एक कपड़ा चिपका दिया जाता है और कागज की कई तहें चढ़ाकर इसे और पुख्ता कर दिया जाता है। पुरुलिया छऊ के मुखौटों की भांति ये मुखौटे यथार्थ आकृति का आभास नहीं देते। अद्‌भुत अभिव्यंजक शक्ति द्वारा ये एक विशिष्ट शैलीकरण से संपन्न हो जाते हैं। भौंह, आंख, नाक, मुंह, होंठ प्रत्येक का अंकन बहुत परिश्रम से किया जाता है और रंगीन खड़िया से खींची गयी रेखाओं का उद्देश्य गीतात्मक भाव को बनाये रखना होता है। इन मुखौटों की अभिव्यंजक शक्ति का रहस्य भृकुटि, आंख, माथा आदि का अंकनविधि में निहित है। इनमें निष्प्राणता या भावहीनता लेश मात्र को भी नहीं है और भांति भांति के चरित्र प्रस्तुत करने की जैसी क्षमता इनमें है वैसी क्षमता दक्षिण-पूर्व एशियाई परंपरा के इंडोनेशियाई वयंग टोपेंग को छोड़कर अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होती। भारत में कहीं और हमें ऐसी समुन्नत परंपरा दिखाई नहीं देती। अभिनय और साथ ही वेशभूषा तथा केश विन्यास की शैलियों में भी इनका केंद्रीय महत्व है। वेशभूषा और केश विन्यास के क्षेत्रों में अन्य छऊ, विशेषकर मयूरभंज छऊ और सेराएकला छऊ के बीच अनेक समानताएं हैं। मयूरभंज छऊ और सेराएकला छऊ दोनों में समान रूप से धोती पहनी जाती है। परंतु कमर के ऊपर का वस्त्र भिन्न होता है, क्योंकि सेराएकला छऊ में अधिकांशतया पूरी बांह का और अत्यधिक अलंकृत वस्त्र पहना जाता है। यद्यपि शिरोभूषण या मुकुट पुरुलिया छऊ की भांति बहुत भड़कीले या भारी नहीं होते, फिर भी ये प्रभावशाली होते हैं।

6

मयूरभंज छऊ

सेराएकला छऊ के समानांतर ही मयूरभंज छऊ का विकास हुआ है। नृत्य नाटक की किस श्रेणी में इसकी गणना की जाये, इस प्रश्न को लेकर यहां भी अनेक समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। निस्संदेह इससे भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं की जटिल स्थिति का पता चलता है। एक स्तर पर तो नृत्य नाटक को ग्राम्य, यहां तक कि जनजातीय कलारूप कहा जाता है। दूसरे स्तर पर, हमें इसके भीतर भारत की महाकाव्यात्मक परंपरा के अनेक तत्व मिल जाते हैं और इस प्रकार यह विधा ऐसे अनेक तत्वों से संपन्न दिखाई देती है जो भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा का अंग हैं और जहां तक नृत्य शिल्प का संबंध है इसमें अंग संचालन की ऐसी शैलीकृत योजना है जो परिष्कृत और अमूर्त है।

मयूरभंज छऊ का विवरण प्रस्तुत करने और उस पर विचार करने के दौरान हमारा अधिक प्रयत्न यह रहा है कि इस नृत्य रूप के बाह्य तथा आंतरिक आकार-प्रकार का सर्वेक्षण किया जाये जिससे कि उसके घटक तत्वों का पता लगाया जा सके। इस नृत्य रूप के इतिहास में जाने का प्रयास हमने नहीं किया है। यह इतिहास न तो विदित है और न ही मूल अथवा गौण साक्ष्य के आधार पर इसका पुनर्निर्माण किया जा सका है।

मयूरभंज छऊ ओड़िसा के दक्षिण-पूर्वी भाग का नृत्य है। मयूरभंज राज्य से मिले हुए सेराएकला और पुरुलिया के राज्य हैं जो अब क्रमशः बिहार और बंगाल का भाग हैं। इस क्षेत्र में भिन्न भिन्न प्रकार की जनजातियां हैं। बिहार और मध्यप्रदेश की अनेक जनजातियों और इनके बीच अनेक समानताएं हैं। इन जनजातियों में मुंडा वर्ग से लेकर आस्ट्रिक और इंडिड वर्ग तक की जनजातियां हैं, यद्यपि उनके वर्गीकरण के विषय में नृविज्ञानियों में मतभेद हैं।

इस क्षेत्र की अनेक जनजातियां स्थान बदल बदल कर खेती करती हैं और कुछ जनजातियां खेती में कृषि उपकरणों का उपयोग करती हैं। अनेक अनुनय संस्कार इन जनजातियों में समान रूप से दृष्टिगत होते हैं और विशेषतः कृषकों में ऐसे संस्कार प्रचलित हैं जो उर्वरता के प्रतीक के रूप में एक खंभे के प्रतिष्ठापन के इर्दगिर्द घूमते हैं। हो और उरांव जनजातियों के अनेक नृत्य उनके वास्तविक आवास क्षेत्र से दूर के किसी स्थल पर होते हैं। यहां 'झूम' (स्थान बदलकर खेती करना) के संस्कार आरंभ करने से पहले ही खंभा प्रतिष्ठापित कर दिया जाता है।

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ये जनजातियां मुंडा भाषायी वर्ग की हैं और भारतीय-आर्य धारा से भिन्न परंपरा से इनका संबंध है।

मयूरभंज छऊ का नृत्य जो जनसमुदाय करता है उस पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से प्रकट होगा कि यद्यपि यह नृत्य एक ग्राम संस्कृति की अभिव्यक्ति है, तथापि इसमें ऐसे अनेक तत्व आ गये हैं जो विशुद्ध रूप से जनजातीय हैं। हम ऐसे एक दो तत्वों

को पहचान सकते हैं ।

जिन वर्गों के लोग यह नृत्य करते हैं वे प्रायः वे वर्ग हैं जिन्हें भारत में पिछड़ा वर्ग कहा जाता है । संविधान में ऐसे जिन वर्गों की सूची दी गयी है उनमें नट, भांड, भूमिया, पाइक आदि वर्ग सम्मिलित हैं । मयूरभंज छऊ की प्रस्तुति उपर्युक्त वर्गों से आने वाले पुरोहितों द्वारा की जाती है । इस तथ्य से भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों की पारस्परिक क्रिया और प्रभाव का संकेत मिल जाता है । इन स्तरों में जनजातियों से लेकर ग्रामीण जातियों और उच्च जातियों तक सम्मिलित हैं । मयूरभंज छऊ के अनुनय संस्कारों में एक संस्कार का संबंध गांव से कुछ मील की दूरी पर खंभे के प्रतिष्ठापन से है ।

नृत्य के लिए दो अवसर उपयुक्त माने जाते हैं – एक दशहरा के आसपास का समय (इसका प्रचलन पिछले कुछ वर्षों में ही हुआ है) और दूसरा चैत्र पर्व -- हमारे प्रयोजन के लिए यह दूसरा अवसर ही महत्वपूर्ण है । हम जानते हैं कि फसल की कटाई के उत्सव के रूप में चैत्र पर्व भारत भर में मनाया जाता है । यहां क्रिया के दो स्तर हमें दिखाई देते हैं जो साथ साथ चलते हैं । एक जनजातीय वर्गों के अनुनय संस्कारों से संबद्ध हैं जो स्थान बदलकर की जाने वाली खेती के अवसर पर संपन्न किये जाते हैं और दूसरा खेत की फसल की कटाई के अवसर पर संपन्न किये जाने वाले संस्कारों और उत्सवों से जुड़ा हुआ है । इन दो स्तरों के साथ साथ एक तीसरा स्तर ऊपर से जुड़ गया है, क्योंकि संप्रति संस्कार में शिव पूजा सम्मिलित हो गयी है । यह बात ध्यान देने योग्य है कि उत्सव काल में किसी भी प्रकार का प्रतिमा पूजन नहीं होता । खंभे को ही शिव मान लिया जाता है । शिव के उपासक भक्त कहे जाते हैं । इन्हें भगत भी कह दिया जाता है जो 'भक्त' शब्द का ही विकृत रूप है ।

सेराएकला की तरह ही यहां भी भगत के रूप में नामित व्यक्ति उत्सव काल के लिए अपना गोत्र बदल लेते हैं । वे शिव-गोत्र में आ जाते हैं ।

चैत्र पर्व के उत्सव से 15 दिन पूर्व संस्कार संबंधी तपश्चर्या के अभ्यास के लिए उपयुक्त व्यक्ति चुन लिये जाते हैं । वे व्रत रखते हैं, संस्कार विहित स्नान करते हैं, अंबिका देवी के मंदिर जाते हैं और तब पवित्रीकृत स्थान पर शिव पूजा के लिए जाते हैं । क्या ये सब दक्षिण भारत के कावादी और कर्गम नृत्यों का स्मरण नहीं कराते हैं ? संस्कार का समापन 'पट' रीतियों में होता है जो चैत्र संक्राति से पूर्व के अंतिम चार दिनों में आयोजित की जाती हैं । भक्त कोई साधारण व्यक्ति नहीं होते । दीक्षा के उपरांत उन्हें आग पर चलने के कृत्य का प्रदर्शन करना पड़ता है । जिसे 'निआं पट' कहते हैं ।

वे एक और कृत्य का प्रदर्शन भी करते हैं जिसमें भक्त का पैर खंभे से बांध कर उसे उलटा लटका देते हैं और उसके नीचे दहकती हुई आग जलती रहती है । इसे 'झूला पट' कहते हैं । अंत में वह बाहुओं के सहारे लटका रहता है जबकि खंभा अंग्रेजी अक्षर 'टी' के आकार की एक संरचना पर घूमकर एक चक्कर पूरा कर लेता है । कांटों पर चलने का भी प्रदर्शन किया जाता है । ये तथा अन्य आयोजन चैत्र मास के 26वें दिन ही होते हैं जब जल का घड़ा लाया जाता है और उत्सव के समारंभ की घोषणा कर दी जाती है ।

मिट्टी का घड़ा सिंदूर से रंगा हुआ और मंत्रों द्वारा पवित्रीकृत होता है । घट या घड़ा महाशक्ति का प्रतीक होता है और उसे 'जात्रा घट' कहते हैं ।

नृत्य उत्सव से पहले संपन्न किये जाने वाले इन संस्कारों के महत्व और अर्थवत्ता के विषय में चर्चा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता । यहां प्राचीन संस्कारों, उर्वरता संस्कार और देवी देवताओं की पूजा का सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है । जिस नृत्य रूप के उद्भव की यह पृष्ठभूमि हो उसे शास्त्रीय नहीं कहा जा सकता । परंतु क्या इस पृष्ठभूमि के आधार पर उसे लोक नृत्य की संज्ञा दी जा सकती है ?

इस स्तर पर इस प्रश्न का उत्तर देना शायद संभव नहीं है । पहले हम स्वयं नृत्य पर ही विचार करें । स्थूल रूप से चैत्र मास के अंतिम तीन दिनों (11, 12, 13 अप्रैल) में आयोजित उत्सव के प्रथम दिन छऊ नर्तक उस क्षेत्र की ओर नहीं जाते जहां संस्कार संपन्न किया जाता है अपितु वे भैरव के मंदिर में पहुंचते हैं । नर्तकों के शिक्षक गुरु नहीं कहे जाते, अपितु उन्हें 'उस्ताद' कहा जाता है । स्पष्ट है कि यहां कुछ समन्वय हुआ है । उस्ताद और संगीतकार भैरव के उपासक हैं और उस तिथि को वे नये नर्तकों की दीक्षा भी आरंभ करते हैं ।

प्रत्येक नर्तक की दाहिनी कलाई में एक लाल धागा बांध कर दीक्षा आरंभ की जाती है । उस्तादों और संगीतकारों को

पहनने के लिए नयी धोतियां दी जाती हैं। प्रारंभिक कार्यवाही के समाप्त होने पर एकत्रित सभी लोग प्रणाम नृत्य करते हैं। इस नृत्य का एक विशेष पहलू यह है कि इस अवसर पर जंगली सेब की पत्तियां और फूल नर्तकों के अभ्यास स्थल की मिट्टी के साथ मिलाकर अर्पित किये जाते हैं। ये सब वस्तुएं एक लाल कपड़े में बांधकर 19वीं शताब्दी के बने हुए एक रंगपीठ के भीतर रख दी जाती हैं। प्रत्येक नर्तक इन वस्तुओं को जो सबसे पहले भगवान भैरव को अर्पित की गयी थीं, प्रणाम करता है।

मयूरभंज छऊ की प्रस्तुति की चर्चा आरंभ करने से पहले हम इस प्रस्तुति से संबंधित अन्य संस्कारों की भी चर्चा कर लें। उत्सव के अंत में आधी रात के समय एक और घड़ा लाकर रखा जाता है जिसे 'निशा घट' या कभी कभी 'कामना घट' भी कहते हैं। अनेक रूप से यह घड़ा भी शक्ति का प्रतीक है। नृत्य से संबद्ध एक और संस्कार सूर्य देव को समर्पित एक नृत्य है जिसका आयोजन विशेष रूप से इस उद्देश्य से किया जाता है। इसकी प्रस्तुति उत्सव काल में ही किसी समय होती है। यहां यह ध्यान दिलाना उपयुक्त होगा कि इस प्रकार की पूजा का प्रचलन अनेक जनजातियों और गांवों में और साथ ही ओड़िसा के ऊंची जाति के सुसंस्कृत ब्राह्मणों में भी समान रूप से है। इस संबंध में सूर्यदेव को समर्पित भव्य कोणार्क मंदिर की ओर भी ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। सभ्यता और संस्कृति के अनेक स्तरों का सहअस्तित्व तथा अर्थ और प्रतीक की बहुलता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। सेराएकला छऊ के संदर्भ में हमने जो कुछ लिखा है उसका इन संस्कारों से बहुत साम्य है, किंतु साथ ही बहुत अंतर भी है।

अब स्वयं नृत्य को लें। उपर्युक्त संस्कारों के पूर्व और उपरांत जिस कलारूप की प्रस्तुति की जाती है उसका विश्लेषण हम अनेक प्रकार से कर सकते हैं। यह पता लगाने के लिए कि इस कलारूप का क्षेत्र के अन्य कलारूपों से या ओड़िसा के बाहर के क्षेत्रों के कलारूपों से कोई संबंध है या नहीं, हम इसे बाहर से देख सकते हैं। केवल अभिव्यक्ति के माध्यम अर्थात् मानव शरीर के संचालन की दृष्टि से हम इसे भीतर से भी देख सकते हैं और यहां भी हमारा प्रयोजन इन संबंधों की ही खोज करना होगा।

मयूरभंज छऊ का लिखित इतिहास अल्प मात्रा में उपलब्ध है। इसका कोई ग्रंथ भी नहीं है। बाहर से देखने पर प्रतीत होगा कि यह कलारूप विशुद्ध रूप से देशी है जो कथित परंपराओं पर आश्रित है। परंतु कलिंग राज्य और उसके अधीन अन्य प्रदेशों के इतिहास पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से पता लगेगा कि इस क्षेत्र में एक विकसित सैनिक परंपरा थी और यहां बहुत बड़ी संख्या में पाइक कहे जाने वाले योद्धा रखे जाते थे। हमें ऐसे नृत्य प्रदर्शनों की जानकारी है जिनका आयोजन इस क्षेत्र में होता था और इन्हें ही संभवतया मानसिंह की बंगाल और ओड़िसा की यात्रा के समय छऊ कहा जाता था। मूर्तिकला की परंपरा से भी इसकी पुष्टि होती है। क्योंकि कलाकृतियों में युद्ध, ढाल और तलवार के खेल तथा करतब के असंख्य दृश्य अंकित हुए हैं। इनमें खंडगिरि और उदयगिरि की गुफाओं के उभारदार चित्रों से लेकर भुवनेश्वर और कोणार्क तक के मध्ययुगीन स्मारक सम्मिलित हैं। बहुत आगे चलकर 17वीं, 18वीं और 19वीं शताब्दी में हमें ओड़िसा की मरगोल या पटचित्र परंपरा विकसित होती दिखाई देती है। इन चित्रों का मुख्य विषय कृष्ण से संबंधित है, किंतु रामायण और महाभारत के प्रसंग भी दृष्टिगत होते हैं। मयूरभंज छऊ की अनेक विशिष्ट भंगिमाओं और मुद्राओं का इन उभारदार चित्रों तथा पटचित्रों में प्रदर्शित मुद्राओं और भंगिमाओं से बहुत अधिक साम्य है। मूर्तिकला और चित्रकला के इस साक्ष्य से प्रकट होगा कि मयूरभंज के छऊ नर्तक मानव आकृति को कला के सांचे में ढालने के उन सिद्धांतों से अनभिज्ञ नहीं थे जिनकी जानकारी इस महान परंपरा के मूर्तिकारों को थी। विषयवस्तु की दृष्टि से भी मयूरभंज में महाभारत और रामायण के प्रसंग तथा शिव और कृष्ण से संबंधित नृत्य सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे नृत्य भी हैं जिनका संबंध केवल सैनिक अभ्यास से है। इनमें अखदंड जैसे स्वर समूह सम्मिलित हैं। उक्त विषयों के अतिरिक्त अन्य विषय भी हैं जो दैनंदिन जीवन से संबंधित हैं जैसे शिकारी के नृत्य और खंभे, रस्सी तथा हंडिया की सहायता से किये जाने वाले करतब नृत्य।

नृत्य के अवसर, विषय और उसकी भंगिमाएं और मुद्राएं यह सिद्ध करती हैं कि मयूरभंज छऊ का सेराएकला और पुरुलिया के क्षेत्रों में प्रचलित नृत्यों से अवश्य संबंध रहा है। इनसे यह भी प्रकट होता है कि मयूरभंज छऊ पर विकास के अनेक क्षणों की छाप है। इनसे भारत के अन्य नृत्य नाटक रूपों, विशेषकर ओड़िसा और बंगाल के यात्रा से भी मयूरभंज

छऊ का संबंध प्रमाणित हो जाता है। वर्णनात्मक और नाटकीय संरचना की दृष्टि से आंध्रप्रदेश और कर्नाटक क्षेत्रों के कुछ रूपों के साथ भी उसका थोड़ा साम्य दृष्टिगत होता है।

वास्तविक नृत्य विधियों से इस बाह्य साक्ष्य का सहसंबंध स्थापित करना आवश्यक है। नृत्य शैली के क्षेत्र में प्रवेश करते ही हम देखते हैं कि इसने जनजातीय, लोक और ग्राम नृत्य की प्रायः समस्त विशेषताओं को त्याग दिया है और एक ऐसा विशिष्ट शैलीकरण प्राप्त कर लिया है जो सामान्यतः शास्त्रीय कहे जाने वाले नृत्य रूपों की विशेषता है। किसी नृत्य रूप को शास्त्रीय मानने के लिए सामान्य मानदंड ये माने गये हैं कि उसमें रचित काव्य अर्थात् साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है या नहीं। दूसरा मानदंड यह है कि उसमें ऐसी संगीत रचना है या नहीं, जो इस साहित्य पर आधारित और एक निश्चित राग योजना के अनुरूप हो। तीसरा मानदंड यह है कि उसमें विशेष छंद योजना अर्थात् ताल में बंधा कोई जटिल स्मृति सहायक तंत्र है या नहीं। चौथा मानदंड यह है कि उसमें अंग संचालन की स्वगृहीत परिसीमा है या नहीं। अंतिम मानदंड यह है कि उसमें शब्द का स्वर के साथ, शब्द और स्वर का लय के साथ तथा शब्द, स्वर और लय का भंगिमा के साथ संबंध है या नहीं। मयूरभंज छऊ का विश्लेषण इन सभी दृष्टियों से, और उसके विशिष्ट अंग संचालन सिद्धांतों की दृष्टि से भी किया जा सकता है। साथ ही, यह विश्लेषण इस प्रश्न के संदर्भ में भी किया जा सकता है कि यह छऊ रूप उक्त किसी मानदंड आशु रचना के सिद्धांतों और परिपाटियों से संबद्ध मानदंड की अपेक्षाओं के अनुरूप है या नहीं।

नृत्य का समारंभ 'रंगबाजा' के साथ होता है। यह परदे के पीछे होता है। यह मूलतः संगीत के माध्यम से संपन्न की जाने वाली आह्वान क्रिया है जो कथकलि के पूर्वपाद तथा पूर्वरंग का स्मरण कराता है। इसके पश्चात वाद्य वृंद द्वारा एक धुन बजायी जाती है जिसके उपरांत विभिन्न पात्र रंगमंच पर प्रकट होते हैं। इस अवस्था को 'चालि' कहा जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ है चलना। पात्र अपने विभिन्न चरणों अर्थात् मुद्राओं में प्रकट होते हैं। सेराएकला और पुरुलिया छऊ के विपरीत यहां मुखौटों के बिना ही पात्र अपनी विशेष मुद्राओं और चालों से पहचान लिये जाते हैं। रंगबाजा के बाद और नाटक के आरंभ से पूर्व दो पात्र प्रवेश करते हैं जिन्हें 'काजि-पाजि' कहते हैं। दोनों के बीच होने वाला संवाद जो कथोपकथन, स्वांग और अंग चालन का सम्मिश्रण होता है 'विदूषक प्रणालिका' कहा जाता है। यह प्रसंग भी हमें संस्कृत रंगमंच के नट-नटी, सूत्रधार और नटी तथा अन्य नाट्य रूपों के विदूषक का स्मरण कराता है।

अपने विशिष्ट चरणों में पात्रों के प्रवेश करने के बाद 'नाच' आरंभ होता है। 'नाच' शब्द नृत्त से बना है। इस अंश में विषय प्रवेश होता है, किंतु अधिक नाटकीय व्यापार नहीं होता और न ही कथा का अधिक विकास होता है। नृत्य शैली की नृत्य वस्तु अधिकांशतः नृत्य के इसी खंड में मिलती है। 'नाटकी' चरम अवस्था है, जिसकी प्रस्तुति त्वरित गति से की जाती हैं और इसी स्तर पर नाटकीय व्यापार उच्च बिंदु पर पहुंचता है। यद्यपि कुछ शाब्दिक अंश भी रहता है, तथापि साहित्य का अंश अत्यल्प और न्यूनतम है। नृत्य नाटक की प्रस्तुति मुख्यतः 'महूरि' (एक प्रकार की शहनाई) और तेउल (तांत वाला एक वाद्य) तथा अनेक प्रकार के वाद्यों जैसे ढोल, चाडितिअडि (एक छोटा गोल ढोल जो दो पतली छड़ियों से बजाया जाता है), नगाड़े और घुमसा (कटोरे के आकार का एक छोटा ढोल जो दो भोतरी और भारी छड़ियों से बजाया जाता है) की संगति के सहारे की जाती है। ढोल अन्य आघात-वाद्यों का नेतृत्व करता है। स्वर माधुर्य की सृष्टि महूरि और तेउल द्वारा तथा कभी कभी बांसुरी द्वारा भी की जाती है। इन वाद्यों द्वारा बजायी गयी धुनों का लोक गीतों और ओडिसी गीतों की धुनों के साथ बहुत साम्य है। हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की कुछ राग रागिनियां भी इनमें मिल जायेंगी। मयूरभंज कलाकारों के अनुसार इनमें 36 रागिनियां हैं। परंतु इनमें शब्द, स्वर या मूल ताल के साथ समकालिक होने की बात नहीं है जैसा कि शास्त्रीय संगीत में होता है। यहां गाई या बजायी गयी धुनों, ताल और नर्तक की चेष्टाओं के बीच एक सामान्य प्रकार का संबंध ही होता है। फिर भी आघात वाद्यों के वादन में बहुत जटिलता दृष्टिगत होती है। तालों और बोलों की एक निश्चित योजना रहती है जिनकी व्याख्या और प्रस्तुति नर्तक द्वारा की जाती है। ढोल और चडचडि की लययुक्त ध्वनियों के बीच सुर संगति भी होती है।

सेराएकला छऊ की भांति ही स्वयं नृत्य को तोड़कर टोपका, उफली और भंगी में अलग अलग किया जा सकता है। भारतीय नृत्य की अन्य शास्त्रीय शैलियों की भांति ही मयूरभंज छऊ का आरंभ दो मूलभूत मुद्राओं या भंगिमाओं से होता

है। इन भंगिमाओं का अत्यधिक विशिष्ट स्वरूप है, किंतु परिष्कृत ओडिसी नृत्य की मुद्राओं से बहुत साम्य है। भरतनाट्यम की कल्पना एक समचतुर्भुज या त्रिभुज के रूप में, कथकलि की वर्ग या आयत के रूप में, मणिपुरी की आठ की आकृति के रूप में, कथक की एक सम रेखा के रूप में और ओडिसी की त्रिभंग के रूप में की जा सकती है। इनके विपरीत मूलभूत तत्व (मोटिफ) के रूप में खुला त्रिभंग तथा चौक मयूरभंज छऊ की विशेषता है। जब कि चौक में शरीर भार एक मध्य सूत्र पर समान रूप से विभाजित रहता है, त्रिभंग में यह विभाजन विषम होता है और मध्य सूत्र से तीन विशेष विचलन दृष्टिगत होते हैं। समस्त टोपका, उफली और भंगी इन दो मूलभूत मुद्राओं से ही उद्भूत होते हैं। यहां ओडिसी और मयूरभंज छऊ का साम्य सर्वाधिक है। अंग संचालन की रचनाविधि में बहुत अंतर रहता है। क्रिया की समस्त इकाइयों को पुनः क्रियास्वरूप की दृष्टि से सम्यक, द्रुत, सुगठित, तीखी और प्रवाही, अस्थिर और लचीली क्रियाओं में वर्गीकृत किया जाता है। इनके लिए सार्थक शब्द हैं जैसे – हथियार धरा (हथियार पकड़ना), कलिकटा (हथियार से टहनी का सबसे कोमल छोर काटना), और कलिभांगा (कलि– टहनी का सबसे कोमल छोर; भंग– झुकाना)। पहला मुद्राओं और खुली स्थितियों का द्योतक है, दूसरा सहसा रुककर चलने वाला एक सुगठित या तीखी क्रिया के स्वरूप का और तीसरा प्रवाही धड़-क्रियाओं का। दो क्रिया-वर्गों में भेद किया जा सकता है, भले ही वे भिन्न क्रम में स्थिर हों। यद्यपि तांडव और लास्य की समांतरता यहां दृष्टिगत नहीं होती, फिर भी 'हथियार धरा' और 'कलिकटा' में तांडव क्रियाओं के और 'कलिभांगा' में लास्य क्रियाओं के संकेत देखना संभवतया बहुत दूर की कौड़ी लाना नहीं होगा।

इस प्रकार नृत्त, नृत्य और नाट्य तथा तांडव और लास्य हैं। धड़ का उपयोग निम्न अंगों के संचालन के संदर्भ में समकालिक और प्रतिविरोधात्मक है। टांग संचालन अधिक निश्चित हैं और अपने नामों के आधार पर अलग-अलग सुस्पष्ट श्रेणियों में बंटे हुए हैं। कुछ अंग संचालन गति पथ के सूचक हैं और अन्य निम्न अंगों के विशेष भाग के, जैसे चरण, टखने और पंजे। अनेक उफलियों के नाम ओड़िआ गृहिणी के कार्यों पर आधारित हैं – वह किस प्रकार मिट्टी के घर के फर्श को लीपती और अलंकृत करती है। इसमें 'गोबर-कूड़ा' (फर्श से गोबर उठाना), 'गोबलगोला' (पानी में गोबर मिलाना), 'चददिय' (गोबर के मिश्रण को आंगन में फैलाना), 'चिंचरा' (जमीन को खुरचना), 'खर्का' (फर्श को बुहारना) और 'झंटिदिआ' (चावल की लेई से फर्श को अलंकृत करना जैसे अल्पना से) शामिल हैं।

अन्य उफलियों के नाम घर के कामकाज पर आधारित हैं, जैसे – 'बासन माजा' (बरतन साफ करना), 'हलदि बटा' (पत्थर की सिल पर हल्दी पीसना), 'धान कुटन' (धान कूटना) और 'धान पाछुडा' (भूसी-मिले चावल को फटकना)। कुछ का संबंध शृंगार से है जैसे – 'गाधुआ' (शरीर पर पानी डालना), 'माथाझडा' (स्नान के बाद तौलिए से झटके दे देकर लंबे केश सुखाना), 'मुंहपोंछा' (तौलिए से मुंह पोंछना), 'सिंताफदा' (कंघी से मांग निकालना), 'सिंदूर पिंधा' (माथे पर सिंदूर की बिंदी लगाना), 'भूंतिया मजा' (अंगूठा साफ करना), 'उधुनी छता' (ओढ़नी या दुपट्टे के दोनों छोरों को कंधों पर रखना), 'चल्क' (मुग्ध होकर चलना) और 'थमका' (मस्ती में चलना)। कुछ 'कंटक' (कांटेदार झाड़ियों को साफ करना) और 'बाउंसचिरा' (बांस के दो भाग करना) जैसी क्रियाओं से संबद्ध हैं। कुछ सैनिक क्रिया के भी सूचक हैं, जैसे – 'अंतेमोदा' (पेट को रौंदकर हत्या करना), 'खंडाहण' (इसे कभी कभी जिताहण भी कहते हैं; अर्थ है तलवार से हत्या करना), 'हाब्स' (किसी भारी औजार से मार डालना) और 'उसकाजंका' (ऊपर उठाना और फिर कठोरता से दबाना)।

उफलियां का एक वर्ग पशुओं की गति से संबद्ध है, जैसे – 'हरिण दिआं' (हिरण की छलांग भरी चाल), 'शौल दिआं' (मछली का पानी में से उछलना), 'बग टोपका' (बगुले का लुक छिप कर पीछा करना), 'बग माछ खोजा' (बगुले का मछली की तलाश करना), 'मंकड चिति' (बंदर का कलाबाजी खाना), 'हनुमान पाणि खिआ' (बंदर का पानी पीना), 'बाघ पाणि खिआ' (बाघ का पानी पीना), 'चिंगडि चितिक' (पानी के बाहर निकाले जाने पर झींगा मछली का फड़कना) तथा 'छेलि दिआं' (बकरी का उछलना)।

इन उफलियों के वर्गीकरण से स्पष्ट होगा कि इनमें कृषि संबंधी क्रियाओं, नित्य चर्या, सैनिक अभ्यास और पशुओं की गति आदि का समावेश किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त एक वर्ग का संबंध मनुष्य की चाल और कुछ भावों से भी है। कलात्मकता की दृष्टि से इनमें मात्र चित्रण से लेकर अमूर्तन तक के विभिन्न स्तर दिखाई देते हैं। अंग संचालन की दृष्टि से

इनका विश्लेषण किया जाये तो पता चलेगा कि ये उफलियां नाट्यशास्त्र में वर्णित चारि, बौमि और अकाषकि, कुछ स्थानों (जैसे, मंडल स्थान) और करणों की शुंडाकार श्रेणी (जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्र में वृश्चिककरण के रूप में हुआ है) का स्मरण कराती है। अंतिम दो बहुत महत्वपूर्ण और मयूरभंज छऊ की विशिष्टता हैं।

नाट्यशास्त्र में वृश्चिककरणों की श्रेणी का उल्लेख है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है ये बिच्छू की टांग का संकेत देते हैं। ये भिन्न भिन्न प्रकार के हैं, जैसे – वृश्चिक लता, वृश्चिक ऊर्ध्वलता और बहुत-से अन्य। अनेक मंदिरों की दीवारों पर ये देखे जा सकते हैं। खंडगिरि विद्याधर से आरंभ होकर ये प्राचीन काल से ही पत्थरों पर अंकित होते रहे हैं। इसके पश्चात सांची, अमरावती, नागार्जुन कोंड, देवगढ़, एलोरा और अजंता के स्तूपों में, वीरूपकस, खजुराहो, भुवनेश्वर, कोणार्क के मध्यकालीन स्मारकों तथा दक्षिण भारत के मम्मल्लपुरम, हलेबिड, तंजौर, कुंभकोपम और चिदंबरम के स्मारकों में आकाशचारी गंधर्वों का चित्रांकन हुआ है। इन नृत्य मुद्राओं में आगे को बढ़ाई हुई टांग और निम्न अंग को ऊपर उठाने के संकेत मिलते हैं। यह एक ऐसी विशेषता है जो आज की अनेक शास्त्रीय नृत्य शैलियों में प्रायः लुप्त हो चुकी है।

मयूरभंज छऊ में भारत की किसी भी अन्य नृत्य शैली की अपेक्षा अंग संचालन के इस स्वरूप को अधिक महत्व दिया गया है और इसमें उसने एक ऐसी शास्त्रीय निपुणता प्राप्त कर ली है जो उसकी अपनी ही विशिष्टता है। शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग किये बिना ही इस नृत्य शैली ने उच्च स्तर की शास्त्रीयता के अनेक तत्व आत्मसात कर लिये हैं।

इस नृत्य शैली का विषय भंडार भी अद्भुत है। इसमें शिकार खेलने और मछली पकड़ने के साधारण विषयों – जैसे 'शबर टोका' (शिकारी) नृत्यों में – से लेकर पशु संबंधी नृत्य जैसे जम्बुवन नृत्य या प्रकृति संबंधी नृत्य जैसे 'मलिफुल' या देवता संबंधी नृत्य जैसे पवनपुत्र हनुमान, नटराज और परशुराम सम्मिलित हैं। हिंदू मिथक और पौराणिक प्रसंग भी नृत्य नाटकों में समान रूप से अभिव्यक्त हुए हैं, जैसे – 'तामुडिय कृष्ण', 'गरुड़ वाहन', 'कैलाश', 'समुद्रमंथन', 'अहल्या उद्धार' और 'गीता उपदेश'। प्रस्तुति सदा ही दो वर्गों द्वारा की जाती है, अर्थात् उत्तर साही और दक्षिण साही द्वारा।

इस परंपरा को उस्तादों ने जीवित रखा है। उस्तादों की वंश परंपरा 200 वर्ष या और अधिक पुरानी मानी जा सकती है। कलाओं के प्रश्रयदाता राजाओं की वंश परंपरा का भी कई पीढ़ियों तक निर्देश किया जा सकता है।

इस प्रकार मयूरभंज छऊ में हमें एक जटिल प्रक्रिया के दर्शन होते हैं जिसमें जनजातीय, ग्रामीण और नगरीय संस्कृति, मार्गी और देशी, नाट्यधर्मी और लोकधर्मी सबने मिलकर एक नयी विधा का निर्माण किया है। बीते हुए इतिहास के कितने ही क्षण और संस्कृति के संक्रमण तथा स्वांगीकरण के कितने ही उदाहरण इसमें मिल जायेंगे। इस संक्षिप्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि यद्यपि सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से यह एक शास्त्रीय रूप है। साहित्य को छोड़कर शास्त्रीयता के सभी मानदंडों की अपेक्षाएं यह पूरी करता है।

यहां हमारे सामने यह समस्या है कि यदि साहित्य स्वर या भंग या ताल के केवल एक ही मानदंड का उपयोग किया जाये तो कतिपय कलारूपों को विशुद्ध मार्गी या देश या शास्त्रीय अथवा प्रयोगात्मक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। भारत के सांस्कृतिक प्रतिमान को सार्थक रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि जातिगत, भाषागत और संस्कृतिगत समस्त पक्षों तथा साथ ही किसी विशेष शैली के विषयगत और विधागत सभी तत्वों पर एक साथ समग्र रूप से विचार किया जाये।

हमने आरंभ में कहा था कि यह नृत्य शैली हमारे लिए वर्गीकरण की कठिनाइयां उत्पन्न करती है। आशा है कि हमारे विश्लेषण से इस नृत्य शैली और पड़ोसी क्षेत्रों की अन्य नृत्य शैलियों जैसे सेराएकला छऊ और पुरुलिया छऊ के पारस्परिक संबंधों की रूपरेखाएं स्पष्ट हो जायेंगी। आंतरिक शिल्प की दृष्टि से ओडिसी की अनेक प्रविधिगत विशेषताएं इसमें भी समान रूप से दृष्टिगत होती हैं। इस प्रकार जीवन की भांति ही नृत्य रूप भी एक ऐसा विशिष्ट रूप है जिसका क्षेत्रीय विधाओं के साथ भी गहरा संबंध होता है।

7

पुरुलिया छऊ

गति और नृत्यविधि की दृष्टि से ओड़िसा का मयूरभंज छऊ और बिहार का सेराएकला छऊ परस्पर संबद्ध हैं। परंतु बंगाल का पुरुलिया छऊ एक संबद्ध परंपरा का एक अन्य पक्ष हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। पुरुलिया छऊ में जहां मयूरभंज छऊ की भांति सैनिक वैभव और महाकाव्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं, वहीं वह सेराएकला छऊ की भांति एक ऐसा नृत्य नाटक भी है जिसमें मुखौटों का उपयोग किया जाता है।

मयूरभंज और सेराएकला छऊ की भांति यहां भी उस साहित्यिक संदर्भ सामग्री का अभाव है जो भारत की नाट्य विधाओं और नृत्य नाटक के रूपों को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। इस दृष्टि से ये तीनों रूप एक ही वर्ग के अंतर्गत आते हैं। ये इस बात का संकेत देते हैं कि किस प्रकार साहित्यिक शब्द और संरचनाबद्ध काव्य-विधा के न्यूनतम अंश के साथ महाकाव्यात्मक तत्व ग्रामीण और जनजातीय समुदायों में पहुंचे हैं। इनके विषय महाकाव्यों और पुराणों से लिये गये हैं और कुछ विषय काव्यों से भी लिये गये हैं, किंतु सस्वर पाठ और पद्य गायन इनके अभिन्न अंग नहीं हैं तथा ये गौण महत्व के हैं।

सेराएकला छऊ के विपरीत पुरुलिया छऊ की प्रस्तुति राजपरिवारों के सदस्यों द्वारा नहीं की जाती। इसकी प्रस्तुति ऐसे लोगों द्वारा की जाती है जिसे सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा वर्ग कहा जाता है। आज इस वर्ग में ग्रामवासी, किसान, मजदूर और रिक्शाचालक शामिल हैं।

परंतु इन्हें पिछड़ा वर्ग और रिक्शा चलाने वाले मजदूर कहने भर से बात पूरी नहीं हो जाती है। ये नृत्य और नाटक की एक समृद्ध और विकसित परंपरा से संपन्न हैं। अतः हमें एक बार फिर उन देशगत और कालगत परिस्थितियों पर विचार करना है जिन्होंने इस परिष्कृत रूप के विकास में योग दिया है। साथ ही, उन ऐतिहासिक शक्तियों पर भी विचार करना आवश्यक है जिनके कारण इस विधा का निर्माण संभव हुआ है। मयूरभंज छऊ की भांति ही इसका बाह्य ढांचा लोक नाट्य रूप का है, किंतु भीतर से यह बहुत परिष्कृत और संरचनाबद्ध है।

जो क्षेत्र पुरुलिया के नाम से जाना जाता है उसकी भौतिक, भौगोलिक तथा परिस्थितिगत विशेषताओं में ही संलग्न क्षेत्रों और इसके बीच की समानताओं तथा भिन्नताओं की पहचान के सूत्र मिल जायेंगे। राजनीतिक इकाई पुरुलिया को 1956 ई. में ही एक जिले का रूप दिया जा सका। कोई 2,000 वर्ग मील का यह क्षेत्र उत्तर, पश्चिम और दक्षिण में बिहार से और पूर्व में बंगाल से घिरा हुआ है। पुरुलिया पहले बंगाल के मानभूम सब-डिविज़न का भाग था जिसे आगे चलकर बिहार और ओड़िसा में मिला दिया गया। मानभूम के विभाजन के परिणामस्वरूप बंगाल में पुरुलिया और बिहार में धनबाद बना।

यहां की भूमि अधिकांशतया बंजर और पथरीली है। वर्षा बहुत कम होती है और जिन क्षेत्रों में खेती संभव है उनमें मुख्यतः धान की खेती होती है।

भारत के पूर्वी क्षेत्र की अनेक अनुसूचित जातियां और जनजातियां यहां रहती हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं भूमिज, मुरा, संथाल और कुरमी। आसपास के क्षेत्रों से हिंदू जातियां यहां आकर बस गयी है, किंतु वे अल्पसंख्यक हैं। इस क्षेत्र में दो हजार से अधिक गांव हैं और नगरों की संख्या बहुत कम है।

आस्ट्रिक-भाषी वर्ग के भूमिज यहां की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग हैं। वे इस क्षेत्र के मूल निवासी होने का दावा करते हैं। उनका यह दावा सही है या गलत, इसके विषय में कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता, किंतु यह अवश्य सही है कि भूमिजों में से ही सामंती शासकों का वह वर्ग उभरा जिसने अंततः स्वयं को राजा और क्षत्रिय कहा। इनमें से कुछ हिंदू धर्म की मुख्य प्रवृत्तियों से प्रभावित थे और मंदिरों के निर्माता भी थे। फिर भी, इस वर्ग ने कृषक वर्ग से अपना संपर्क बनाये रखा और अपने पूर्वजों की धार्मिक मान्यताओं में भी उसकी आस्था बनी रही। एक परत के ऊपर दूसरी परत के पड़ने की यह प्रक्रिया हम भारत के अन्य भागों में भी देख चुके हैं, विशेषतया मणिपुर में जहां समाज के वैष्णव संस्कृति के अत्यधिक प्रभाव में आने के बाद भी मेतियों में वैष्णव संस्कृति के साथ साथ पुरानी वैष्णव-पूर्व संस्कृति का अस्तित्व भी बना रहता है। पुरुलिया छऊ भूमिजों में विशेष रूप से लोकप्रिय है और छऊ मंडली की स्थापना में सारे गांव और समाज के सभी वर्गों का योगदान रहता है।

मुरों को कभी कभी मुंडा भी कहते हैं। यह वर्ग इस क्षेत्र का एक और महत्वपूर्ण जन समुदाय है। ये भी इस क्षेत्र के बहुत पुराने निवासी हैं। समुदाय के पुरोहित होने के कारण इन्हें अधिक प्रतिष्ठा मिली हुई है। मुरा सूर्य के पूजक हैं और मयूरभंज के निवासियों की रीति से ही वे सूर्यपूजा करते हैं। मयूरभंज के संदर्भ में हम देख चुके हैं कि जनजातियों की सूर्यपूजा को क्षेत्र के शासकों की स्वीकृति प्राप्त थी जिसने आगे चलकर कोणार्क के सूर्य मंदिर के विशाल कर्मकांड का रूप ग्रहण किया। मुरा जाति में सूर्य को 'सिंग बोंग' कहते हैं और भूमिजों में इसके लिए 'धरम' शब्द का प्रयोग होता है। इसके साथ साथ रामायण और महाभारत की कथाएं भी प्रचलित हैं। ये कथाएं सुनाई जाती हैं और ये गायन तथा नृत्य का आधार भी बनती हैं। नृत्य की प्रस्तुति भूमिजों द्वारा की जाती है। नृत्य के शिक्षक मुरा जाति के व्यक्ति होते हैं जिन्हें 'उस्ताद' कहा जाता है। यह शब्द पिछले कुछ समय में ही उन्होंने ग्रहण किया होगा। यह असंभव नहीं है कि ये मंदिरों के नर्तकों के आदि गुरु रहे होंगे और समयांतर में जब मंदिरों से उनका संपर्क टूट गया होगा तो बालकों और वयस्कों को पुरुलिया छऊ की शिक्षा देने लगे होंगे।

एक और वर्ग कुर्मियों का है। इन्होंने भी हिंदू धर्म की रीतियां और कर्मकांड स्वीकार कर लिये हैं, किंतु हिंदू धर्म की क्षीण परत के नीचे ऐसे अनेक मिथक, जनश्रुतियां और विश्वास मिलते हैं जिन्हें मानवशास्त्रियों ने प्रायः 'जड़ात्मवादी' कहा है।

चौथा और अंतिम वर्ग डोमों का है जो बंगाली डोम और बिहारी डोम दो उपवर्गों में विभाजित हैं। बंगाली डोम पुरुलिया छऊ के पुश्तैनी संगीतकार हैं। डोमों का इतिहास 9वीं शताब्दी तक जाता है। नौवीं शताब्दी से लेकर 11वीं शताब्दी तक के संबंध में ऐतिहासिक प्रलेखों से कम जानकारी मिलती है, किंतु 12वीं शताब्दी से लेकर बाद के काल तक के संबंध में निरंतर इस बात का प्रमाण मिलता है कि डोम सैनिक और योद्धा थे। ढोल बजाना कदाचित एक सैनिक व्यवसाय था जो बदल कर नाट्य क्षेत्र से संबद्ध हो गया। मयूरभंज छऊ के संदर्भ में हम इसी प्रकार की प्रक्रिया के दर्शन कर चुके हैं और स्थानीय सैन्य वर्ग अर्थात् पाइकों के साथ नर्तकों के संबंध की जानकारी हमें है।

जहां भूमिज और मुरा जाति के लोग आंशिक रूप से खेती करते हैं, वहीं डोम भूमिहीन मजदूर हैं और संगीत के द्वारा या टोकरी बनाकर जीविका कमाते हैं। इस प्रकार वे बजनिया डोम और अंकुरिया डोम कहलाते हैं। जातिगत बहुलता और नृत्य के संदर्भ में प्रत्येक वर्ग के लिए नियत की गयी भूमिका से स्पष्ट हो जायेगा कि अनुसूचित जाति-जनजाति समाज में भी प्रत्येक वर्ग से कोई न कोई विशेष कार्य संबद्ध है। नाट्य अनुभूति इन उपवर्गों के बीच संवाद और संप्रेषण का अवसर प्रदान करती है।

इस क्षेत्र के इतिहास या भारतीय संस्कृति की अन्य धाराओं से इसके संबंध के इतिहास की पुनर्रचना बहुत कठिन है, किंतु इस संबंध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख आवश्यक है। कुछ इतिहास वेत्ताओं का विश्वास है कि जैन तीर्थंकर महावीर ने ईसा-पूर्व 5वीं और चौथी शताब्दी में यहां धर्मोपदेश दिया था। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म से यह क्षेत्र परिचित था, तथापि इसका कोई निर्णायक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दूसरी शताब्दी से लेकर 12वीं शताब्दी तक के काल में यह क्षेत्र बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म से भी परिचित था। स्थापत्यकला और मूर्तिकला की अनेक कृतियों से यह प्रमाणित हो जाता है। पंद्रहवीं शताब्दी के पश्चात और विशेषत: 17वीं शताब्दी में वैष्णववाद ने भी इस क्षेत्र पर अपना प्रभाव छोड़ा। इसी समय में बंगाल में बीरभूम राज्य में जो इस क्षेत्र से लगा हुआ था, वैष्णव धर्म के प्रति जनसमुदाय में बहुत उत्साह था।

संभव है कि क्षेत्र की पुरानी संस्कृति और वैष्णव धर्म के पारस्परिक संपर्क के परिणामस्वरूप पुरुलिया छऊ का आविर्भाव हुआ हो। जहां तक विषय का संबंध है महाकाव्यों की कथाएं ले ली गयीं, किंतु गायन रूप झूमर ही रहा जो जनजातीय और ग्रामीण समुदाय में कर्मकांडीय गायन के लिए प्रचलित रूप था। यह भी ग्राम संस्कृतियों की एक सामान्य प्रवृत्ति है कि विधा तो पुरानी रहती है किंतु नयी विषयवस्तु उसमें समाविष्ट कर ली जाती है। विशुद्ध क्षेत्रीय या जनजातीय नृत्य और गायन का क्रम पूर्ववत बना रहता है। इस दृष्टि से भी जनसमुदाय उसी पद्धति का अनुसरण करते हैं जो देश के अन्य भागों में भी देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, 'नाचनि' या 'खेमटि' जैसे कर्मकांडीय गीत और नृत्य हैं जिनकी आंतरिक संरचना में फसल बोने और काटने आदि की क्रियाएं समाविष्ट हैं। 'टुसु' की प्रस्तुति फसल काटने के समय की जाती है। यही स्थिति 'सर्कुल' की भी है। 'जोया' की प्रस्तुति वर्षा काल में फसल रोपने के समय की जाती है। कुछ अन्य गीत और नृत्य हैं जो व्यवसायों से जुड़े हुए हैं, जैसे – ग्वालों का 'अहीर' गीत और योद्धाओं का 'कट्टि' गीत। 'कृष्ण जात्रा' कहा जाने वाला एक लोक नाट्य रूप भी है। इस प्रकार यहां भी हम चार स्तर देखते हैं – कर्मकांडीय, कृषिगत, क्रियासूचक और शुद्ध व्यावसायिक।

इस प्रकार पुरुलिया छऊ को इस क्षेत्र में रहने वाले विभिन्न जनसमुदायों के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि में समझने की आवश्यकता है।

मयूरभंज, सेराएकला और पुरुलिया के भी सामंती मुखिए एक-दो शताब्दियों के दौरान इन नाट्य रूपों का पोषण करते रहे हैं। परंतु पुरुलिया में सामंतों का प्रभुत्व बहुत थोड़े समय तक ही रहा। अत: वहां आज इस नाट्य विधा का प्रचलन तथाकथित पिछड़े वर्गों में ही है। कई दृष्टियों से यह विधा ब्राह्मणों के कुटियट्टम, भागवतमेला और यक्षगान के साहित्यिक नाटकों से बहुत भिन्न दिखाई देगी। अन्य दृष्टियों से पुरुलिया छऊ और मयूरभंज छऊ उनके समतुल्य हैं।

समकालीन देशगत स्थिति को देखते हुए और जो थोड़ा ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध है उसके आधार पर यह कहना शायद गलत नहीं होगा कि संस्कृत परंपरा के अनेक तत्व ग्रामीण क्षेत्रों के साथ साथ जनजातीय क्षेत्रों में भी पहुंच चुके थे और समुदाय द्वारा इन तत्वों का पोषण भी किया गया था। आज जो कुछ अशिक्षित जनता की परंपरा का अंश दिखाई देता है वह कभी शास्त्रीय परंपरा का अंश रहा होगा।

मयूरभंज छऊ और सेराएकला छऊ की भांति तथा यक्षगान जैसे नृत्य नाटक की भांति पुरुलिया छऊ की प्रस्तुति भी आकाश तले खुले वातावरण में होती है। इसके लिए कोई ऊंचा मंच नहीं बनाया जाता और केवल 20 फुट लंबा तथा 20 फुट चौड़ा खुला क्षेत्र घेर लिया जाता है जिसमें प्रवेश करने और निकलने के लिए 5 फुट चौड़ा रास्ता बना दिया जाता है। इस रास्ते की लंबाई 15 फुट से 20 फुट तक हो सकती है। 20 फुट चौड़ा खुला क्षेत्र अभिनय क्षेत्र का काम देता है।

नृत्य क्षेत्र गोलाकार होता है जिसका व्यास लगभग 20 फुट होता है। संगीतकार एक साथ एक ओर बैठते हैं। यदि एक से अधिक मंडलियों द्वारा प्रस्तुति होती है तो प्रत्येक मंडली के अपने संगीतकार होते हैं जो प्रस्तुति करने वालों के निकट बैठते हैं। मयूरभंज छऊ और यक्षगान में हम देख चुके हैं कि अनेक मछलियां या तो एक साथ प्रस्तुति करती हैं या बारी बारी क्रम से।

दर्शक अभिनय क्षेत्र के तीनों ओर जमीन पर बैठते हैं। केवल महिला दर्शकों के लिए पार्श्व में ऊंचे मंच बना दिये जाते हैं।

भारत के अन्य भागों की भांति प्रस्तुति नौ-दस बजे रात में आरंभ होती है। सबसे पहले संगीतकारों का प्रवेश होता है,

मुख्यतया ढोल बजाने वालों का, जो ढोल बजाकर और बोलों के लयात्मक उच्चारण द्वारा अपने कौशल का प्रदर्शन करते हैं। इसके पश्चात गणेश का मुखौटा पहने एक अभिनेता संकरे मार्ग के छोर पर प्रकट होता है। जैसे ही ढोल बजाने वाला थोड़े समय के लिए रुकता है और गायक गाने लगता है, दर्शकों का ध्यान इस पात्र की ओर आकृष्ट हो जाता है। गायक गणेश वंदना गाता है। गणेश की भूमिका निभाने वाला अभिनेता मुखौटे के साथ साथ अपनी पीठ पर लकड़ी के दो बाहु भी बांधे रहता है जिससे कि दर्शकों को चतुर्भुज गणेश का आभास हो सके। लकड़ी के बाहु कुछ फूहड़ ढंग से पीठ पर बंधे होते हैं और इन कृत्रिम भुजाओं में जोड़ नहीं होते हैं। गणेश वंदना के दौरान अभिनेता लंबा मौन धारण किये रहता है मानो वह ऐसा अपनी पहचान बताने और दर्शकों की उत्सुकता बढ़ाने के लिए कर रहा हो। इसके पश्चात वह बिजली की-सी तेजी से दौड़ कर अभिनय क्षेत्र में आ जाता है और द्रुत गति से नाचने लगता है। गणेश वंदना का गायन झूमर की शैली में होता है।

गणेश के प्रवेश से नाटकीय घटना आरंभ हो जाती है। फिर अन्य पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान के साथ कथा तेजी से आगे बढ़ने लगती है। अभिनय क्षेत्र तक पहुंचने में प्रत्येक पात्र को एक दो मिनट लगते हैं। अन्य दो छऊ में जैसी मुद्राएं, चलने की विशेष रीति और गति दृष्टिगत होती है वैसी ही यहां भी दिखाई देती हैं। प्रकटतः अपरिष्कृत होते हुए भी प्रस्तावना का यह रूप दक्षिण भारत की नाट्य विधाओं और संस्कृत परंपरा के निर्वाहण की ही कोटि में आता है, यद्यपि दोनों में बहुत दूर का सादृश्य है। भागवत की भांति ही यहां भी गायक एक या दो द्विपदी गाकर प्रत्येक पात्र का परिचय देता है, किंतु यह क्रम शीघ्र ही टूट जाता है क्योंकि सुषिर वाद्यों और ढोल की प्रचंड ध्वनियों में उसका स्वर डूब जाता है। फिर भी, पात्र का परिचय देने, दृश्य का वर्णन करने और दो घटनाओं को जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य वह करता रहता है। वाद्य संगीत, जिसका स्वरूप अधिकांशतः आवृत्तिपूरक होता है, नाटकीय कार्य व्यापार के साथ साथ चलता रहता है। कथ्य के विकास के साथ नाटकीय कार्य व्यापार में गति आती है और दर्शक रोमांच और कुतूहल की अनुभूति से मंत्रमुग्ध-से हो जाते हैं। 'छऊ! छऊ!' के नारे लगाकर वे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं।

पहले प्रकाश की व्यवस्था चलते-फिरते प्रकाशवाहकों द्वारा की जाती थी जो अपने सिरों पर जलती हुई मशाल लेकर नर्तकों के साथ साथ चलते थे। अब पेट्रोमैक्स की व्यवस्था रहती है। समरस प्रकाश के कारण नाटक का कतिपय जादुई प्रभाव उत्पन्न नहीं हो पाता जो मद्धिम प्रकाश में मुकुटों की चमक और तलवार चलाने आदि के दृश्य से उत्पन्न हो सकता था। नाटक भोर तक चलता रहता है। अंत में नायक और राक्षस के बीच युद्ध होता है और सत्य के असत्य पर विजयी होने के साथ साथ नाटक समाप्त हो जाता है। यदि पूरी कथा एक रात में समाप्त नहीं होती तो उसका क्रम अगली रात भी चलता रहता है।

कभी एक ही मंडली द्वारा प्रस्तुति की जाती है और कभी कभी दो या तीन मंडलियां भी साथ साथ प्रस्तुति करती हैं, मानों परस्पर होड़ कर रही हों। और, कभी एक मंडली की प्रस्तुति के समाप्त होने पर दूसरी मंडली अपनी प्रस्तुति आरंभ करती है।

यद्यपि एक सुस्पष्ट विधा के रूप में पुरुलिया छऊ का एक ही रूप है, फिर भी उसकी कुछ उप-शाखाएं हैं जैसा कि कथकलि और यक्षगान आदि की विभिन्न शैलियों में भी हम देखते हैं। स्थूल रूप से 'बंद्योयन', 'बागमुंडी' और 'झलदा' पुरुलिया छऊ की शैलियां हैं। अपने अपने क्षेत्र के नाम के अनुसार इनका नामकरण हुआ है। 'बंद्योयन' ने अपने पुराने स्वरूप को सर्वाधिक सुरक्षित रखा है जबकि 'झलदा' शैली नगरीय फिल्म संस्कृति से सबसे अधिक प्रभावित हुई है। 'बागमुंडी' मंडली ने डा. आशुतोष भट्टाचार्य और मिलन सालविनी जैसे कला-इतिहासविदों का ध्यान आकृष्ट किया है। यह मंडली दिल्ली में नाट्य प्रदर्शन कर चुकी है और इसने विदेश यात्रा भी की है। पेरिस में आयोजित विभिन्न देशों के नाटक उत्सव में यह नाट्य प्रस्तुति कर चुकी है।

पुरुलिया छऊ ने अपने विषय अधिकांशतः रामायण और महाभारत से लिये हैं। साथ ही, कुछ पौराणिक प्रसंग भी लिये हैं। पुरुलिया छऊ में वाल्मीकि रामायण का नहीं अपितु 16वीं और 17वीं शताब्दी में लिखित कत्तिवास रामायण का अनुसरण किया जाता है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि भारत के कुछ भागों में तुलसी कृत रामायण या विचित्र रामायण का

अधिक अनुसरण किया जाता है। वाल्मीकि रामायण केवल एक आधार का काम देती है। आंध्र, तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल की भांति यहां भी वाल्मीकि रामायण से भिन्न अनेक प्रसंग मिलेंगे। बहुत थोड़े नाटक ही होंगे जो राजा दशरथ द्वारा ऋषि सिंधु के वध की घटना से आरंभ होते हों। पुरुलिया छऊ में इस प्रसंग को भी बहुत महत्व दिया गया है। (साथ ही, उन प्रसंगों को भी बहुत महत्व दिया गया है जिनमें राम गुहक और अन्य निम्न वर्ग के व्यक्तियों से मिलते हैं।) महाकाव्य की प्रस्तुति कभी तो एक रात्रि में ही समाप्त हो जाती है और कभी कई कई रातों तक निरंतर चलती रहती हैं। विषय, प्रसंग और निर्वाह पद्धति के चुनाव में क्षेत्रीय संस्कृति के मूल्यों की छाप स्पष्ट दिखाई देगी। इसी प्रकार लगभग संपूर्ण महाभारत की भी प्रस्तुति की जाती है, किंतु स्वभावतः इसके लिए कुछ प्रसंगों का ही चुनाव किया जाता है। आरंभ की अपेक्षा 'वन पर्व' का अधिक महत्व होता है। अंतिम युद्ध की प्रस्तुति नाटकीय रीति से की जाती है। अभिमन्यु प्रसंग उत्तम अंश होता है जिसमें युवक अभिमन्यु अपने शक्तिशाली शत्रुओं से वीरता से लड़ता है। चक्रव्यूह, दक्षिणावर्त और वामावर्त अंगविक्षेप, गर्दन और धड़ को तेजी से झटके देना और मोड़ना – ये सब मिलकर एक उच्च कोटि के नाटकीय दृश्य की सृष्टि करते हैं।

महाकाव्यों के अतिरिक्त पौराणिक कथाएं और अनेक संक्षिप्त प्रसंग पुरुलिया छऊ के विषय संग्रह में सम्मिलित हैं। जहां विजय की दृष्टि से इसकी मयूरभंज छऊ के साथ बहुत समानता है वहीं सेराएकला छऊ के साथ भी इसकी कुछ समानताएं हैं। नृत्य नाटक के अन्य रूपों की भांति पुरुलिया छऊ में भी कोई भूमिका नहीं रहती। यद्यपि जैसा कि डा. आशुतोष भट्टाचार्य ने लिखा है, कुछ समय से झलदा शैली में मंदिर नर्तकियों की खेमटि परंपरा के आधार पर उचित मानकर स्त्रियां अभिनय करने लगी हैं, फिर भी इनकी स्थिति 'फिल्म नायिकाओं के भोंडे रूप जैसी ही लगती है।' संस्कृति संक्रमण की ऐसी विवेकहीन प्रक्रिया एक आधुनिक घटना है जिसने अभी तक कोई सार्थक कलात्मक नवीनता उत्पन्न नहीं की है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन शैलियों में साहित्यिक शब्द की भूमिका अपेक्षाकृत बहुत कम महत्वपूर्ण होती है। झूमर के रूप में गायी जाने वाली द्विपदियां मात्र संयोजक अंश होती हैं। शब्द, स्वर और भंगिमा का वह संबंध यहां प्रायः नहीं होता जो दक्षिण भारत के नाट्य रूपों की विशेषता है। इस दृष्टि से पुरुलिया छऊ का आधार बहुत अंशों में ग्रामीण है और कदाचित इसी कारण से इसे लोक नाटक की संज्ञा दी गयी है। फिर भी, जहां तक इस नृत्य नाटक की संरचना का संबंध है इसमें दक्षिण भारत की नाट्य विधाओं की समस्त विशेषताएं मिल जायेंगी।

पुरुलिया छऊ की राग योजना सीमित है। सामान्यतः पांच स्वरों के रागों का प्रयोग होता है। कभी कभार ही सात स्वरों के रागों का प्रयोग किया जाता है। हिंदुस्तानी संगीत से इसका संबंध बहुत थोड़ा है। वाद्य वृंद में एक धुन वाद्य और दो संघात वाद्य हैं। धुन शहनाई (हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की शहनाई से एकदम भिन्न प्रकार की) और दो ढोलों पर बजायी जाती है। एक पीपे के आकार का होता है जो दोनों ओर से बजाया जा सकता है और इसे ढोल कहते हैं। दूसरा है धुमसा, जो ताशे की तरह होता है। यह लकड़ी के एक समूचे टुकड़े से या धातु की चादर से तैयार किया जाता है। कभी कभी प्रत्येक वाद्य के एक से अधिक वादक होते हैं। धुमसा वादक जमीन पर बैठता है जबकि शहनाई वादक खड़ा रहता है। ढोल वादक की श्रेणी अलग होती है, क्योंकि वह प्रस्तुति का संचालन करता है और उसकी वही भूमिका होती है जो यक्षगान में भागवतर की होती है। वह जाकर पात्र से मिलता है, उसके साथ साथ चलता है, उसका मार्गदर्शन करता है, उसे रोकता है और उसे यह तक बताता है कि उसका नृत्य क्षेत्र कहां तक है। अंतिम व्यवस्था बहुत उत्तम युक्ति है, विशेषकर उन नर्तकों के लिए जो मुखौटा पहनकर नाचते हैं और मुखौटा पहनने के कारण जिनकी दृष्टि सीमित हो जाती है। यदि ढोल वादक अपने स्वरों और लयात्मक ध्वनियों से उनकी सहायता और मार्गदर्शन न करे तो वे आसानी से गिर सकते हैं। गायक की भूमिका के विषय में हम बता चुके हैं। लय संरचना जटिल होती है, यद्यपि हिंदुस्तानी कर्नाटक संगीत के तालों के समानांतर कोई योजना यहां दिखाई नहीं देती। फिर भी अनेक जटिल सममित/ असममित विन्यास निष्पन्न किये जाते हैं। कभी कभी तो एक ताल के पूरे आवर्तन में 43 मात्राएं तक होती हैं। अन्य में एक ताल के पूरे आवर्तन में 15 या 8 मात्राएं होती हैं। यद्यपि कुछ युक्तियां होती हैं, किंतु खाली मात्राएं, चौथाई मात्राएं, सममात्राएं और आड़ी मात्राएं अनेक होती हैं।

वास्तव में ढोल वादन की अन्य शैलियों से संबद्ध अनेक व्यक्तियों के लिए पुरुलिया छऊ के ताल वाद्यों की लय संरचना की तह तक पहुंचना बहुत कठिन हो जाता है। धुमसा और ढोल द्वारा निष्पन्न लयों के टकराव के कारण स्थिति और भी जटिल

हो जाती है। जहां एक से अनेक नियमित लयों की निष्पत्ति होती है वहां दूसरे में स्पष्टतः एक अनियमित स्वरूप होता है। सममित और असममित दोनों प्रकार के विन्यास दृष्टिगत होते हैं।

पुरुलिया छऊ की नृत्य शैली और अन्य छऊ नृत्य शैलियों में कुछ समानताएं अवश्य हैं, किंतु समग्र रूप से पुरुलिया छऊ की अपनी विशिष्ट अंग संचालन पद्धति है जो अत्यधिक संरचनाबद्ध और कठिन है।

स्थिर स्थिति में अर्धमंडली मयूरभंज छऊ और पुरुलिया छऊ दोनों में समान रूप से मिलती है। अनेक प्रवेश मुद्राएं या शस्त्र ग्रहण की रीतियां भी एक-सी हैं। परंतु समानताएं यहीं समाप्त हो जाती हैं। वस्तुतः इतना ही कहा जा सकता है कि दोनों में सामरिक स्वरूप की समानता है। विभिन्न पात्रों की चाल में वैसी ही विशिष्टता आवश्यक है जैसी कि यक्षगान में आवश्यक समझी जाती है। नायक, भगवान, आदिवासी, राक्षस, पशु और पक्षी – ये सभी रंगमंच पर आते हैं। प्रत्येक के लिए विशिष्ट मुद्रा और चाल है जो नाट्यशास्त्र के स्थान, मंडल और गति हैं। पशुओं का चारों पांव से चलना अन्य नृत्य शैलियों की अपेक्षा अधिक यथार्थ रीति से दिखाया जाता है। पक्षी फुदकते और कूदते हैं। शरीर के सभी अंगों से काम लिया जाता है। जहां महान व्यक्ति और भगवान तनकर खड़े होते हैं और लंबे तिरछे डग भर कर चलते हैं, वहीं राक्षस अक्खड़ और घमंडी होते हैं। शिकारी शिकार पकड़ने के लिए तिरछे और दबे पांव चलते हैं। परंतु अंग संचालन की विभिन्न इकाइयां पहचानी जा सकती हैं जो अन्य दो छउओं की उफली और टोपका से मिलती हैं। घुटनों के बल चलना, घुटनों के बल घिरनी खाना – यह क्रिया अन्य छउओं में नहीं दिखाई देती किंतु यक्षगान की मुंडी गति में मिलती है। इसके अतिरिक्त अन्य क्रियाएं हैं – मछली का लहराना, हंस का तैरना, कछुए का रेंगना, लहराना और गोता मारना जो मयूरभंज छऊ के 'उस्का' और 'दुबा' के अनुरूप हैं। हस्ताभिनय का प्रयोग कम से कम किया जाता है। संपूर्ण शरीर या टांगों के संचालन द्वारा भाषाभिव्यक्ति की जाती है। यह विशेषता तीनों छउओं में समान रूप से दृष्टिगत होती है। गति या चाल से ही विशेष चरित्रों से संबद्ध अंगविक्षेप की इकाइयां विकसित होती हैं। इनमें गणेश, दुर्गा, शिव, परशुराम, हनुमान, अर्जुन आदि के विशिष्ट अंगविक्षेप सम्मिलित हैं। क्रिया के द्योतक अंगविक्षेपों का एक अलग वर्ग है। आक्रमण और प्रतिरक्षा का द्योतन करने वाले अंगविक्षेप अनेक हैं। इनका सर्वाधिक प्रभावशाली प्रयोग नाटक के चरमोत्कर्ष की स्थितियों में होता है, जैसे – राम और रावण के अंतिम युद्ध में या अभिमन्यु के अंतिम युद्ध में। घिरनी खाने और घूमने की अनेक क्रियाएं निष्पन्न की जाती हैं और कूद तथा छलांग इस शैली की सर्वोत्कृष्ट विशेषताएं हैं। विस्मयकारी अभिनेता का छलांग लगाना और जमीन पर घुटनों के बल टिकना इस नृत्य नाटक की एक अनोखी विशेषता है। ऊपरी धड़ और धड़ के नीचे के अंगों का विक्षेप यहां मयूरभंज छऊ से एकदम भिन्न है। जहां मयूरभंज छऊ में गत्यात्मक संप्रेषण के लिए टांग बढ़ाने और प्रभावशाली ढंग से घुटने मोड़ने का आश्रय लिया जाता है, वहीं पुरुलिया छऊ में गत्यात्मकता का आभास देने के लिए घुटने फैलाने, 'चौक' और ऊंची छलांग तथा कूद का आश्रय लिया जाता है। अर्ध-प्रकाश के वातावरण में ये सब मुकुटों की पत्रियों की चमक के साथ मिलकर एक पारलौकिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। चमकते दमकते मुखौटे और मुकुट उन पोशाकों के एकदम विपरीत दिखाई देते हैं जो प्रायः बेल बूटों में खो जाते हैं। बहुधा दर्शक को केवल एक मुखौटे का आभास होता है जैसे वह आकाश से टपक पड़ा हो।

हाथ या मुख या गर्दन निष्पन्न किये जाने वाले कुछ लघु अंगविक्षेप भी हैं। इनमें से दो बहुत लालित्यपूर्ण हैं और छलांग तथा कूद से उत्पन्न प्रभावों को उतारने में सहायक हैं। उदाहरण के लिए, सिर की एक गति का उल्लेख किया जा सकता है जो बहुत नियंत्रित और नाजुक होती है। यह गर्दन और सिर की एक पार्श्विक गति है जिसमें शरीर के अन्य अंग जानबूझ कर स्थिर और लगभग तने हुए रखे जाते हैं। नर्तक-अभिनेता के शरीर का शेष भाग जैसे एकदम अकड़ कर गतिहीन हो जाता है और केवल गर्दन और सिर की विशेष गति से विषाद और निःशब्दता के क्षणों की सृष्टि की जाती है। विद्वानों और कला आलोचकों ने इस गति के कारण ही पुरुलिया छऊ और बाली के नर्तकों के बीच समानताएं देखने का प्रयास किया है। परंतु यह कुछ दूर की कौड़ी लाने जैसी बात है, क्योंकि इन दो नृत्य परंपराओं में कोई अन्य समानता नहीं है। कोई भी अन्य अंग संचालन उस प्रकार से महत्वपूर्ण नहीं है जिस प्रकार सिर का और कंधों की गति में भी कंधे को गोलक और उल्खल संधि की गति द्वारा एक अत्यधिक नियंत्रित स्पंदन का निष्पादन किया जाता है। वक्ष से भी कभी कभी काम लिया जाता है और इसमें धड़ को सधा तना हुआ रखने की बजाय जल्दी जल्दी और बार बार आगे पीछे किया जाता है जिससे

उत्तेजना भाव की अभिव्यक्ति होती है। यह गति पर्शुका पेटी के निम्न भाग से आरंभ होती है और ऊपर वक्ष तक जाती है। इस प्रकार के अंग संचालन पुरुलिया छऊ के विशिष्ट अंग संचालन हैं जो भारत के अन्य नृत्य रूपों की अभिव्यंजना पद्धति में दिखाई नहीं देते। मयूरभंज छऊ और सेराएकला छऊ में सांस को गहरे भीतर खींच कर और धड़ को एक पेंच की तरह इस्तेमाल करके धड़ और वृक्ष की एक गति निष्पन्न की जाती है। यह प्रभाव आधुनिक नृत्य की मारथा ग्राह्य शैली के संकुचन और मोचन से बहुत मिलता है। पुरुलिया छऊ में इसका अस्तित्व नहीं है। इसके विपरीत उसके समस्त अंग संचालन तेज झटकों, कंपनों और विकर्ण गति के रूप में होते हैं।

मुखौटों की विशिष्टता का उल्लेख किये बिना इस शैली का सर्वांगपूर्ण विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। हम पहले कह चुके हैं कि सेराएकला और पुरुलिया छऊ दोनों में मुखौटों का उपयोग किया जाता है जबकि मयूरभंज छऊ में मुखौटों का उपयोग नहीं किया जाता। नृत्य नाटक की इन विभिन्न शैलियों में मुखौटे तैयार करने और उन्हें पहनने की विधियां तथा चरित्र के प्रकार भिन्न भिन्न हैं। सेराएकला छऊ के मुखौटे निष्कोण तथा चिकने, शैलीकृत और भव्य होते हैं। इनमें एक प्रकार की परिष्कृति होती है जो संभवतः इस नृत्य शैली के विकास से संबद्ध सामाजिक-आर्थिक परिवेश की द्योतक है। चेहरे पर कोई झुर्रियां नहीं होतीं। खींची गयी रूपरेखाएं चिकनी और निष्कोण होती हैं। आंखों में अभिव्यंजकता होती है, यद्यपि उनका चित्रांकन यथावत् नहीं होता। नाक-नक्शे के अन्य पहलुओं के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। रंगों के प्रयोग में प्रतीकात्मकता होती है।

पुरुलिया छऊ में एक ही तरह के चरित्रों के लिए सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। इनके मुखौटे सजीव प्राणियों के नाक-नक्शे का आभास देते हैं। कभी कभी इनमें ऐसा अनगढ़ पुरुषत्व दिखाई देता है जिसमें कोई कोमलता या लालित्य नहीं होता। मुखौटे चुस्त और चेहरे पर कसे हुए होते हैं। वे आकार में बड़े नहीं होते। वस्तुतः देखने में वे चेहरे से कुछ छोटे ही दिखाई देते हैं। परंतु मूंछों, दांतों, बालों और ठुड्डी, माथे तथा अन्य भागों की रेखाओं के साथ अपनी भयावहता में वे विचित्र रूप से वास्तविक प्रतीत होते हैं। रावण का मुखौटा क्षैतिज क्रम से रखे दस सिरों से तैयार किया जाता है। इस प्रकार का मुखौटा पहनकर और इससे भी कुछ भारी मुकुट धारण करके छलांग लगाने और कूदने के लिए अभिनेता का निस्संदेह बहुत शक्तिशाली और संतुलन बनाये रखने की अद्भुत क्षमता से संपन्न होना आवश्यक है। इसी प्रकार कुम्भकर्ण के मुखौटे में गंदे और घने बाल, गुर्राहट-भरा मुंह और दाढ़ी आदि होते हैं जिनके कारण वह सचमुच एक राक्षस का चेहरा प्रतीत होता है। यद्यपि यक्षगान के राक्षस या मैसूर शैली के भूत का मुखौटा भी उतना ही डरावना होता है, तथापि दक्षिण भारत की नृत्य शैलियों की रूप-सज्जा की विधियों की तुलना में पुरुलिया छऊ के मुखौटों में कुछ ऐसा तत्व है जो आदिम-सा प्रतीत होता है। स्वभावतः राम, अर्जुन और कृष्ण के मुखौटे सौम्य और शांत चेहरे का आभास देते हैं। यहां भी पेस्टल की हल्की, शांत आभा का प्रयोग नहीं किया जाता। राम, अर्जुन और कृष्ण के मुखौटे गहरे नीले रंग के होते हैं। जहां तक रंग की प्रतीकात्मकता का संबंध है दक्षिण भारत और पूर्वी भारत, विशेषकर पुरुलिया छऊ के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर है। हमें पता है कि दक्षिण भारत के लगभग सभी नृत्य-रूपों में उदात्त व्यक्तियों का धीरोदात्त नायकों के लिए हरे रंग का विधान है। यहां नीला ही आधारभूत रंग है। संभवतः इसका कारण यह मान्यता है कि विष्णु का रंग नीला था। शिव के लिए सफेद मुखौटे का प्रयोग किया जाता है। उनकी केश कुंडली वास्तविक प्रतीत होती है और सर्प कुंडली उससे भी अधिक वास्तविक। परिधान के रूप में यह केवल हिरण की खाल ओढ़े रहते हैं। यह एक रोचक तथ्य है कि यद्यपि भारत के विभिन्न भागों में एक-से ही देवी देवता, राक्षस और उदात्त नायक तथा योद्धा हैं तथापि प्रत्येक क्षेत्र ने अपने अपने ढंग से उनकी व्याख्या और विश्लेषण किया है। इस प्रकार वे एक ऐसे विश्व दर्शन के द्योतक हैं जो समोद्भव तो हैं किंतु जिसमें समरूपता नहीं है। अन्य नृत्य नाटकों की भांति पुरुलिया छऊ में भी नारी पात्रों की प्रस्तुति सहज रूप से ही की जाती है और कभी कभी रूप सज्जा तो होती है, किंतु किसी मुखौटे का उपयोग नहीं किया जाता। कथकलि की भांति ही यहां भी साधारण चरित्रों से संबद्ध परिपाटियों का निर्वाह किया जाता है।

मुखौटों का एक और वर्ग है जो पुरुलिया छऊ की ही विशेषता है। ये हैं पक्षियों और पशुओं के मुखौटे या आवरण। भारत के अधिकांश अन्य नृत्य नाटकों में पशु पक्षियों या मानवाकार देवी-देवताओं के लिए केवल चेहरे या सिर के ही मुखौटे

होते हैं । पुरुलिया छऊ में पशु, पक्षियों के पूरे शरीर के लिए मुखौटा या आवरण होता है । उदाहरण के लिए, वराह को लें । उसकी भूमिका करने वाले अभिनेता के चेहरे पर केवल सूअर का मुखौटा ही नहीं होता, वह पशु की भांति चारों पांव से चलता भी है और उसकी पीठ पर सूअर की खाल पड़ी रहती है । अन्य मिथकीय पशुओं, विशेषकर सांप और कछुए की भूमिका करने वाले अभिनेता केवल पशुओं की तरह चारों पांव से ही नहीं चलते । वे पेट के बल रेंग भी सकते हैं । पक्षियों की भूमिका करने वाले भी पंख, सिर और चेहरे के मुखौटे तथा ऐसी वेशभूषा धारण किये रहते हैं जिससे कि पक्षी के शरीर का आभास हो सके । इस दृष्टि से पुरुलिया छऊ में एक ऐसी परंपरा मिलती है जो भारत के अन्य भागों से लुप्त हो चुकी है । नाट्यशास्त्र में एक पूरा अध्याय है जिसमें बताया गया है कि लोकधर्मी परंपरा में किस प्रकार मुखौटे और खाल ओढ़ कर पशु, पक्षियों का अभिनय किया जाता है । पुरुलिया छऊ में हम जो कुछ देखते हैं वह संभवतः इसी परंपरा की निरंतरता है ।

मुद्राओं, प्रवेश और चालों की भांति ही अभिनेताओं के मुखौटों और मुकुटों में भी शैलीकरण और वैचित्र्य देखा जा सकता है । सेराएकला छऊ में विविध प्रकार के मुखौटे और अनेक चरित्र वर्ग हैं किंतु बड़े आकार के मुकुट या शिरोभूषण नहीं हैं । पुरुलिया छऊ में विभिन्न पात्र अलग अलग प्रकार के मुकुट पहनते हैं । यद्यपि ये मुकुट बनावट में यक्षगान या कथकलि के मुड्डियों की भांति जटिल नहीं होते, फिर भी इनकी अपनी विशिष्टता और जटिल बनावट होती है । एक आधारभूत ढांचे में कृत्रिम पत्री के टुकड़े, मोती, रिबन आदि टांक दिये जाते हैं जो विभिन्न चरित्रों के लिए अलग अलग डिजाइन के होते हैं । अर्ध-प्रकाश के वातावरण में इन मुकुटों को धारण किये जब अभिनेता कंपन गति (जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है) का प्रदर्शन करता है तो प्रकाश और छाया का एक अद्भुत प्रभाव उत्पन्न होता है । अभिनेता सदा ही इसका प्रयोग नाटकीय प्रयोजन से करता है ।

वर्ग संरचना की चर्चा पहले की जा चुकी है और हम बता चुके हैं कि भूमिज और मुरा पुरुलिया छऊ की प्रस्तुति करते हैं और डोम वंश परंपरा से इसके संगीतकार हैं । पुरुलिया छऊ के मुखौटे बनाने वाले भी बागमुडी गांव के समीप रहने वाले एक अत्यंत विशेष समुदाय के सदस्य हैं । ये जिस गांव में रहते हैं उसे चोरदिया या चोरदा कहते हैं । यों तो इस गांव में अनेक संप्रदाय रहते हैं, किंतु इनमें से केवल एक ही समुदाय ने मुखौटे बनाने में निपुणता प्राप्त की है और ये पुरुलिया छऊ के मुखौटों के एकमात्र निर्माता हैं । कुछ व्यक्तियों ने इस समुदाय को मुरा जाति (जिससे नृत्य के उस्तादों का संबंध है) से जोड़ने का प्रयास किया है । परंतु गहराई में जाकर देखने से प्रकट होगा कि मुखौटे बनाने वालों का समुदाय गंभीर मुरा जाति (जिसके सदस्य परंपरागत उस्ताद होते हैं) से स्पष्ट रूप से भिन्न हैं । चोरदिया के मुखौटा निर्माता ग्राम देवताओं की मूर्तियों के निर्माता भी हैं और इस समय वे या तो पुरुलिया छऊ के दिनों में अर्थात् वैशाख में व्यस्त रहते हैं या दुर्गा पूजा के समय में जिसे इस क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया है । यहां मुखौटे लकड़ी से नहीं बनाये जाते जैसा कि सेराएकला छऊ में होता है । ये स्थानीय झरनों से ली गयी मिट्टी और चीथड़ों तथा कागज से तैयार किये जाते हैं । कभी कभार ही लकड़ी का प्रयोग किया जाता है । बनाने की विधि साधारण होती है । मिट्टी का स्थूल डिजाइन या माडल बना लिया जाता है । जिसे 'माटीगदा' कहते हैं । इस स्थूल माडल पर बहुत सारा कागज चिपका दिया जाता है । कागज चिपकाने की इस प्रक्रिया के लिए कागज छीथना शब्द का प्रयोग किया जाता है । कागज लगी मिट्टी को फिर रंग दिया जाता है । आवश्यकतानुसार कपड़े के टुकड़े भी चिपका दिये जाते हैं । इस प्रक्रिया को स्थानीय भाषा में कापर सेतानो कहते हैं । माडल तैयार हो जाने पर पूरे मुखौटे पर पालिश की जाती है और लकड़ी की बसूली से उसे काट छांट कर ठीक कर लिया जाता है । सजावट, आंखों और नथुनों के छेद बनाने जैसे काम अंत में किये जाते हैं । मुखौटे बनाने वाले ही मुकुट भी बनाते हैं । यह काम पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं द्वारा अधिक किया जाता है ।

पुरुलिया छऊ की पोशाकें एक और ही कहानी कहती हैं । यह है अनेक काल खंडों के सहअस्तित्व की कथा । जहां मुखौटे और मुकुट समयहीन आदिम तत्वों का आभास देते हैं, वहीं पोशाकें और वस्त्र निश्चित रूप से समय सापेक्ष हैं । छऊ पात्रों के ऊपरी वस्त्र बहुत अलंकृत होते हैं और 16वीं तथा 17वीं शताब्दी के वस्त्रों का आभास देते हैं । दक्षिण भारत के कुछ नाट्य-रूपों के साथ भी ऐसा ही है, विशेषकर यक्षगान और मेलत्तुर भागवतमेला के आधुनिक रूपों में । ऐसा प्रतीत होता है कि 17वीं शताब्दी या 18वीं शताब्दी के प्रारंभिक चरणों में, नवाब और राजा जो वस्त्र धारण करते थे उनका पुरुलिया छऊ

पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है और उसने इनको ही अपने प्रयोजन के अनुकूल कर लिया है। देवता और राक्षस राजाओं या नवाबों जैसे वस्त्र धारण किये रंगमंच पर आते हैं। यह केवल ऊपरी वस्त्रों अर्थात् धड़ पर पहने गये वस्त्रों तक ही सीमित है। धड़ के नीचे पहने जाने वाले वस्त्र की कहानी कुछ और ही है। अधिकांशतः यह एक चुस्त पायजामा होता है। किंतु यह चुस्त भर नहीं होता है। उस पर अनेक रंगबिरंगी गोल पट्टियां बंधी रहती हैं। अपनी धारीदार पिंडलियों और जांघों के कारण अभिनेता सैनिक या सिपाही होने का आभास देता है। धड़ पर पहने जाने वाले अलंकृत वस्त्रों से एकदम विपरीत स्थिति यहां दिखाई देती है। पट्टियों की धारियों का एक निश्चित स्वरूप होता है और उनमें प्रीताकात्मकता भी होती है। देवताओं और नायकों के वस्त्रों की धारियां हरी और पीली होती हैं, राक्षसों की काली और लाल और विश्वामित्र तथा हनुमान जैसे चरित्रों की सफेद। प्रकटतः अत्यधिक बेमेल तत्वों का विचित्र मिश्रण दिखाई देता है। फिर भी, एक स्वतंत्र शैली विकसित होती है। पुरुलिया छऊ की यह विशेषता रंगमंच पर पहले पात्र के आते ही दर्शक को आकर्षित करती है। भारत के अन्य नृत्य रूपों तथा नृत्य नाटकों में भी इसी प्रकार के बेमेल तत्वों का मिश्रण हुआ है।

इस प्रकार पुरुलिया छऊ भारत के सांस्कृतिक ढांचे में पारस्परिक सांस्कृतिक प्रभाव की एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण प्रक्रिया का सूचक है। यह नृत्य शैली पिछड़े वर्गों से संबद्ध है। इसके मूल में कार्य और व्यवसाय पर आधारित एक वर्ग संरचना है। प्राचीन मूर्तिविहीन पूजा का अस्तित्व बना हुआ है। उस पर भारतीय साहित्य की परंपराओं अर्थात् रामायण, महाभारत और कुछ पुराणों की परतें चढ़ गयी हैं। समयांतर में पुरानी परतों के साथ साथ ये परतें भी इन समुदायों के जीवन का अभिन्न अंग बन गयी हैं। इस अंतर्संबंध की सर्वाधिक मुखर अभिव्यक्ति नृत्य और संगीत के माध्यम से हुई है। पुरानी परिपाटियों का निर्वाह किया जाता है, किंतु विषय सामग्री अधिकांशतः महाकाव्यों और पुराणों से ली गयी है। परंतु चरित्र चित्रण और उसके निर्वाह की रीति पर पुराने विश्वासों तथा मान्यताओं और विशुद्ध स्थानीय समस्याओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। राम और रावण, दुर्गा और लक्ष्मी, अभिमन्यु और अर्जुन के चरित्रों में ग्राम देवता और उनकी विशेषताएं प्रवेश कर गयी हैं। जहां तक शिल्पगत तत्वों का संबंध है ढोलवादक और गायक की तुलना संस्कृत परंपरा के सूत्रधार से की जा सकती है, किंतु संस्कृत नाटक की कठोर संरचनाबद्धता जो दक्षिण भारत के नाट्य रूपों में इतने सुस्पष्ट और ठोस रूप में मिलती है यहां एकदम दिखाई नहीं देती या यदि मिलती भी है तो बहुत थोड़ी। अभिनय क्षेत्र का विभिन्न भागों में विभाजन भी यहां दिखाई नहीं देता जो अनेक अन्य नृत्य रूपों में मिलता है और जो संस्कृत रंगमंच की कक्ष-विभाग-परंपरा से लिया गया है। यहां रंगमंच क्षेत्र का निर्बाध रूप से प्रयोग किया जाता है और विभिन्न दृश्यों या परिवेश की दृष्टि से रंगमंच के क्षेत्र को विभिन्न भागों में बांटने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। इसी प्रकार पुरुलिया और सेराएकला छऊ में विदूषक का भी कोई अस्तित्व नहीं है जो कुटियट्टम, यक्षगान और भागवतमेला की परंपराओं में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अतः यह प्रकट होगा कि पूर्वी भारत के इन नृत्य रूपों अर्थात् तीनों छउओं का विकास ऐसे जनसमुदायों की धरती पर हुआ जो संभवतः संस्कृत परंपरा के उस प्रकार से सीधे उत्तराधिकारी नहीं थे जिस प्रकार दक्षिण भारत के नृत्य रूप थे। इन कलाओं का संबंध जिन समुदायों से है उनको देखते हुए यह धारणा सही प्रतीत होती है। साथ ही, इस कारण से भी यह बात सही लगती है कि ये तीनों रूप आज साहित्यिक शब्द पर आश्रित नहीं हैं और ओड़िसा, बिहार तथा बंगाल में 15वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक के समय में विकसित साहित्यिक परंपराओं से अभिन्न रूप से जुड़े हुए नहीं हैं। पूर्वी भारत के वे विशिष्ट रूप जो विशुद्ध नाट्य विधा बनने से पूर्व साहित्यिक कृतियों से प्रेरणा ले रहे थे जात्रा नाटक थे। जात्रा जो ओड़िसा, बिहार, बंगाल, मणिपुर और असम में समान रूप से उपलब्ध नाट्य विधा है एक और समानांतर धारा है जिसकी चर्चा हम अलग से करेंगे।

फिर भी, तीनों छउओं के नृत्य की अभिव्यंजना पद्धति में मार्गी तत्व स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं। अतः जहां ये नृत्य रूप अपनी सामाजिक स्थिति के आधार पर और काव्य के अभाव के कारण निश्चित रूप से देशी हैं, वहीं अपने व्यापक कर्मकांडीय स्वरूप, पौराणिक अंतर्वस्तु, नृत्य की परिष्कृत अभिव्यंजना प्रणाली और मुखौटों के शैलीकरण के कारण ये मार्गी हैं। तीनों मिलकर एक वृहत् वर्ग की रचना करते हैं।

8

अंकिआ-नाट और भाओना

उत्तर और पूर्वी भारत की मध्यकालीन साहित्यिक और नाट्यगत परंपराओं में असम का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। असमिया, अवधी, गुजराती, मराठी, ओड़िआ और बांग्ला जब भाषाओं का रूप ग्रहण कर रही थीं तो न केवल भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अपितु साहित्यिक विषय और नाट्य विधा तथा नाट्य के विषयवस्तु की दृष्टि से भी इन सबमें बहुत कुछ समान था।

रामलीला और रासलीला के संदर्भ में हमें ऐसी ही विशेषता दिखाई देगी। यद्यपि इन रूपों का विकास उस क्षेत्र में हुआ जो अब उत्तरप्रदेश कहलाता है तथापि इनके उद्‌भव में उन प्रभावों का भी महत्वपूर्ण योगदान था जो अवध, वृन्दावन और मथुरा के बाहर के क्षेत्रों से इस क्षेत्र में आये। साथ ही, यद्यपि एक स्तर पर ये रूप मध्ययुगीन हैं अर्थात इनका विकास 16वीं और 17वीं शताब्दी में हुआ है तथापि उनकी प्रेरणा और विषय सामग्री के स्रोत मुख्यतः साहित्य, संस्कृत विशेषतः महाकाव्य और पुराण रहे हैं।

असम की नाट्य कलाओं का इतिहास, विशेषकर सत्र (मठ) की संस्था से संबद्ध वैष्णव रंगमंच का इतिहास एक समानांतर विकास की घटना है जो देश और काल दोनों स्तरों पर काम करने वाली ऐसी ही सांस्कृतिक प्रक्रिया की सूचक है। यद्यपि समकालीन असमिया संगीत, नृत्य, नृत्य नाटक और रंगमंच की परंपरा का मुख्य स्रोत, शंकरदेव के अद्‌भुत व्यक्तित्व में ढूंढ़ा जा सकता है तथापि उनके पूर्व की कई शताब्दियों के साहित्यिक और कलात्मक विकास से इस परंपरा का सजीव संबंध रहा है। साथ ही, जहां अंकिआ-नाट या भाओना असम का विशिष्ट नाट्य रूप है वहीं न केवल बंगाल और ओड़िसा जैसे पड़ोसी क्षेत्रों के नाट्य रूपों और इसके बीच अपितु वृंदावन, मथुरा और आंध्र जैसे दूरस्थ क्षेत्रों की नाट्य विधाओं और इसके बीच भी कुछ समानताएं हैं।

दक्षिण भारत में मलयालम, कन्नड़, तेलुगु और तमिल के विकास और परिणामस्वरूप उस क्षेत्र में नाट्य विधाओं के उदय की भांति ही असमिया का विकास भी बाह्य तथा क्षेत्रीय और देशी प्रभावों के समावेश की प्रक्रिया का उदाहरण प्रस्तुत करता है। अन्य स्थानों की भांति यहां भी संस्कृत नाट्य परंपरा और शुद्ध क्षेत्रीय रूप का सम्मिश्रण हुआ है। बहुविध समय गति के साथ दो समानांतर धाराएं साथ साथ प्रवाहित होती प्रतीत होती हैं।

असम के वैष्णव रंगमंच की जानकारी के लिए असम की समृद्ध और रंग बिरंगी संस्कृति के इतिहास, असमिया भाषा के विकास और भारत के अन्य भागों की सदृश गतिविधियों और आंदोलनों से असम के संबंधों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

असम का इतिहास जटिल और रोचक है। शताब्दियों तक विभिन्न क्षेत्रों से आए सांस्कृतिक प्रभावों की जाने कितनी

परतें उस पर चढ़ गयी हैं। कुछ क्षेत्र अवश्य इन प्रभावों से अछूते रह गये हैं, और इनके संबंध में ठीक ठाक काल निर्देश किया जा सकता है। अन्य क्षेत्रों पर अनेक परतें चढ़ी हैं जिनके कारण नयी गतिविधियों का जन्म हुआ है।

पड़ोसी क्षेत्र मणिपुर की भांति ही असम की जनसंख्या में जनजातीय समुदाय, और नगरवासी सम्मिलित हैं। घाटी में रहने वालों से पर्वतीय जनजातियों का जो पार्थक्य ऊपर से दिखाई देता है उसके बावजूद सभी समुदाय एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। साथ ही, पूर्व वैष्णव संस्कृति और वैष्णव संस्कृति के बीच स्पष्ट अंतर होते हुए भी दोनों में समान तत्व भी रहे हैं और विच्छिन्नता की बजाय अविच्छिन्नता की रेखाएं ही दिखाई देती हैं।

प्राचीन काल से ही असम न केवल भारत की अपितु एशिया की अनेक जातियों, भाषायी वर्गों और संस्कृतियों का मिलन केंद्र रहा है। इस क्षेत्र के प्राचीनतम निवासी निषाद और किरात माने गये हैं जिनका उल्लेख महाकाव्यों और पुराणों में हुआ है। कहीं कहीं उन्हें मलेच्छ और असुर भी कहा गया है। कामरूप का सर्वप्रथम उल्लेख जिन शिलालेखों में हुआ है वे 5वीं शताब्दी के हैं (समुद्रगुप्त का इलाहाबाद शिलालेख)। प्राग्ज्योतिषपुर या कामरूप का विशद विवरण 10वीं शताब्दी के कालिका पुराण में मिलता है। भाषा वैज्ञानिक और मानव जाति वैज्ञानिक साक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया गया है कि इस क्षेत्र के प्राचीनतम निवासी मोन खमेर वर्ग की एक हिंद-चीनी भाषा बोलते थे। कुछ विद्वानों के मतानुसार खासी और सिनेतग जाति के लोग संभवतः उक्त प्राचीन निवासियों के ही वंशज हैं। फिर इस क्षेत्र पर ब्रह्मपुत्र, चिंदविन और इरावती के रास्ते से हिंद-चीनी आक्रमण निरंतर होते रहे। इनमें से अनेक जनजातियों ने गारो और तिप्पेरा पर्वतमाला को अपने अधिकार में ले लिया। कुछ अन्य जनजातियां बहुत दूर तक उत्तरी कछार की उच्च भूमि तक पहुंच गयीं, किंतु वे इस क्षेत्र को अपने अधिकार में नहीं ले सकीं जो अब खासी और जैंतियां पर्वतमाला कहलाता है। वे नागा पर्वतमाला पर चारों ओर और मणिपुर के कुछ भागों में फैल गयीं। इन तिब्बत-बर्मी जातियों में, जिन्होंने असम को अपनी निवास भूमि बनाया, बोडो जनजाति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आज इस जनजाति के अनेक उप-वर्ग हैं। इनमें कछरी और दिमछ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। बोडो जाति ने असम की संस्कृति को बहुत अधिक प्रभावित किया है और अनेक नदियां तथा स्थानों के नाम बोडो मूल के हैं। तेरहवीं शताब्दी में तई या गान जाति के अहोम युनन से बर्मा के रास्ते से असम पहुंचे।

आर्यों का भी इस क्षेत्र में साथ साथ प्रवेश होने लगा था। रामायण और महाभारत के लेखकों को असम की जानकारी जैसा कि ऊपर दिये गये संदर्भों से स्पष्ट है। पांचवीं और 6ठी शताब्दी के शिलालेखों से यह जानकारी मिलती है कि वेदों की शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए भूसंपत्ति प्रदान की जाती थी।

असम और विशेषकर ब्रह्मपुत्र नदी की भौगोलिक स्थिति के कारण न केवल व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में, अपितु संस्कृति के क्षेत्र में भी इस गतिशीलता के लिए बहुत सुविधा हो गयी थी। प्रत्येक तरंग अपने साथ कोई न कोई नया तत्व लाती जो समयांतर में क्षेत्रीय जीवन का अभिन्न अंग बन जाता था।

इन गतिविधियों के परिणामस्वरूप 7वीं शताब्दी में असमिया भाषा का आविर्भाव हुआ। यद्यपि संस्कृत ही असमिया की जननी है, फिर भी उसमें ऐसी अनेक स्वर-वैज्ञानिक और रूप-वैज्ञानिक प्रवृत्तियां आ गयी हैं जो मोन-खमेर, चीनी-तिब्बती और तई या मोन जनजातियों की विशेषता है। जिस बहुजातीय परिवेश में असमिया भाषा का विकास हुआ उसके कारण ही उसमें यह स्वरात्मक वैचित्र्य उत्पन्न हो गया है। जो कुछ असम की भाषा के बारे में सही है वह सब उसके साहित्य और कलाओं, विशेषकर प्रदर्शनकारी कलाओं के संदर्भ में भी सही है।

कुछ भाषाविदों ने यह मानकर कि असमिया का जन्म सीधे मागधी से हुआ है उसका संबंध प्राकृत से जोड़ने का प्रयत्न किया है। इसमें संदेह नहीं कि प्राच्य अपभ्रंश ओड़िआ, बंगला और असमिया तीनों भाषाओं की जननी है। इसने एक और भाषा को जन्म दिया जिसे दश भाषा या केवल भाषा कहते हैं और जो कुछ विद्वानों के विचार में अवधी, ब्रज, राजस्थानी, गुजराती और अन्य भाषाओं की पुरोगामिनी है। भारत के विभिन्न भागों में नाट्य विधाओं के विकास के अध्ययन की दृष्टि से भाषा वैज्ञानिक तथ्य महत्वपूर्ण भी है और प्रासंगिक भी। भाषागत साम्य से विभिन्न क्षेत्रों के बीच गतिशीलता का कारण समझ में आ जाता है और इसी कारण रंगमंच इस अंतःक्षेत्रीय संप्रेषण का सशक्त माध्यम बना है।

इस प्रकार अपनी विशिष्ट पहचान को खोये बिना असमिया 8वीं शताब्दी में भाषा और साहित्य के एक बृहतर परिवार

की सदस्या बन गयी। परिवार के अन्य सदस्यों से उसका सादृश्य असंदिग्ध है। इसी कारण से यह स्थिति उत्पन्न हुई है कि विशेष क्षेत्रों के साहित्य इतिहासवेत्ता और साहित्य आलोचक कुछ रचनाविधाओं को केवल अपनी ही भाषा की रचनाविधाएं मानने लगे हैं। इस संबंध में इस विवाद का उल्लेख किया जा सकता है जो इस प्रश्न को लेकर उठा है कि चर्या और दोहा कहे जाने वाले गीत और सूक्तियां जिनकी रचना 8वीं शताब्दी से लेकर 12वीं शताब्दी तक के काल में बौद्ध सिद्धाचार्यों द्वारा की गयी प्राचीन बांग्ला की रचनाएं हैं या प्राचीन असमिया की। इसी प्रकार मीराबाई को भी हिंदी के समर्थक हिंदी के रचनाकार मानते हैं और गुजराती के समर्थक गुजराती के। प्रदर्शनकारी कलाओं के संबंध में भी यही स्थिति है, विशेषकर उनके संबंध में जो साहित्यिक शब्द पर आधारित हैं। क्षेत्रीय भाषाओं के उद्भव काल में लिख गये कुछ नाटकों के बारे में विशेष भाषाओं के समर्थकों द्वारा किये जाने वाले ऐसे दावों को मानने में कठिनाई हो सकती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, असमिया, बांग्ला, ओड़िआ, मराठी और राजस्थानी भाषाओं में अनेक विशेषताएं समान रूप से मिलती हैं। वैष्णव आंदोलन के परिणामस्वरूप भी इन घटनाओं का एक अखिल भारतीय स्वरूप उभरा। ब्रज बोली कही जाने वाली काव्य भाषा वैष्णववाद की अभिव्यक्ति का माध्यम थी और असम, बंगाल, मिथिला तथा ब्रज – इन सब क्षेत्रों के वैष्णव कवियों ने इस भाषा में लिखा है।

यद्यपि असम का अंकिआ-नाट बहुत बाद के काल की घटना है, तथापि वह उन रचनाओं की श्रेणी में ही आता है जिनका इसी प्रकार का क्षेत्रातीत आयाम था। यह बात चाहे कितनी भी आश्चर्यजनक क्यों न लगे, किंतु आधुनिक अनुसंधान के अनुसार अंकिआ-नाट और असम की अन्य अनाट्य विधाओं से ही हिंदी की शुरुआत हुई है।

तेरहवीं और 16वीं शताब्दी के बीच का समय बहुत उथल-पुथल का समय था। निरंतर आक्रमण और युद्ध हो रहे थे जिनके कारण स्थापित राज्य मिट रहे थे और क्षेत्र छोटी छोटी रियासतों में बंट गया था। इन राजनीतिक घटनाओं और इनके कारण हुए विनाश के बावजूद असमिया साहित्य की शुरुआत इसी काल में हुई। दुर्लभ नारायण के दरबार के कवि हरिवर विप्र ने असमिया में 'अश्वमेध पर्व' शीर्षक से महाभारत की पुनर्रचना की। इसके पश्चात उसने 'वभ्रुवाहन युद्ध' और 'लवकुशेर युद्ध' की रचना की। संस्कृत से लिये गये विषय मात्र आधार थे जिनके द्वारा कवि अत्यधिक नाटकीय शैली में अनेक नवीनताएं उत्पन्न करता था और नये तत्वों का समावेश करता था। तेरहवीं शताब्दी के और हरिवर विप्र के समकालीन हेम सरस्वती ने 'वामन पुराण' से प्रेरणा और सामग्री लेकर 'प्रह्लाद चरित' की रचना की थी। उसने इसके लिए न केवल पुराण से अपितु स्थानीय जनश्रुतियों और लोक साहित्य से भी बहुत-सी सामग्री ली थी। उनकी अगली कृति 'हर गौरी संवाद' में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। अन्य कवि और लेखक भी हुए जिनकी रचनाओं का मुख्य स्रोत महाभारत था।

कछारी महाराजा महामाणिक्य ने पूर्व वैष्णव काल के अनेक कवियों को प्रोत्साहन दिया। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय माधव कंदलि जिसने असमिया में रामायण का अनुवाद किया था। यद्यपि उसने भी कथित भाषा के अनेक शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग किया था, तथापि पूर्ववर्ती लेखकों की अपेक्षा उसकी रचना विषय की दृष्टि से मूल रामायण के अधिक निकट थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 14वीं शताब्दी में किया गया रामायण का यह अनुवाद हिंदी, बांग्ला और ओड़िआ में किये गये रामायण के अनुवादों से कोई 150 वर्ष पूर्व किया गया था।

इन कृतियों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश लेखक संस्कृत महाकाव्यों से बहुत अधिक प्रभावित थे, किंतु साथ ही यह भी पता चलता है कि एक विशिष्ट क्षेत्रीय शैली विकसित हो रही थी जिस पर स्थानीयता की गहरी छाप थी। माधव कंदलि संभवतः 'देवजि' का भी लेखक था जो कृष्ण और विष्णु के अन्य अवतारों पर लिखी गयी एक काव्य रचना है। जब बहुत आगे चलकर साहित्य क्षितिज पर शंकरदेव का उदय हुआ तो माधव कंदलि के लेखन से वह बहुत प्रभावित हुए और उनके नाटकों में माधव कंदलि की कृतियों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। पंद्रहवीं और 16वीं शताब्दी में अन्य कवि, लेखक और नाटककार हुए जिन्होंने रामायण से विषय ग्रहण करने के साथ साथ क्षेत्रीय संस्कृति में रंगी हुई सशक्त सामग्री का भी उपयोग किया। इस प्रकार का एक महत्वपूर्ण विषय मनसा देवी से संबद्ध था जिसके परिणामस्वरूप आख्यान काव्य की एक विशेष विधा का जन्म हुआ। रामायण से जो लेखक प्रेरणा ग्रहण करते रहे उनमें एक दुर्गावर था जिसने गीति रामायण की रचना की। गीति रामायण से ही पद्य गायन की परिपाटी का प्रारंभ हुआ। उसी समय भारत के

अन्य भागों में भी पद्य गायन की परंपरा की नींव पड़ी।

सोलहवीं शताब्दी में शंकर देव के अद्‌भुत उदय और समाज सुधारक, कवि, संगीतकार, नाटककार तथा नाटक निर्देशक के रूप में उनके महत्वपूर्ण योगदान को समझने के लिए ऐतिहासिक और साहित्यिक विकास की इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है। उनका आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब छोटी छोटी रियासतों ने मिलकर स्वयं को दो राज्यों – कछ और अहोम राज्यों में पुनः संगठित कर लिया था। विश्वसिंह कछार का महान शासक था। उसका यशस्वी पुत्र नरनारायण जो उसके बाद राज सिंहासन पर बैठा, अकबर का समकालीन था। अहोमों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन होते दिखाई दे रहे थे। उदाहरण के लिए, अहोम शासक सुहुम्मुंग ने हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया था। और अपना नाम बदल कर स्वर्गनारायण रख लिया।

एक भुइया परिवार में जन्मे शंकरदेव को असमिया समाज को अनेक प्रकार से बदलने का श्रेय जाता है। उन्होंने संसार को त्याग कर दूर देशों की यात्रा की, अन्य प्रदेशों के धर्मों और संस्कृतियों की जानकारी ग्रहण की और स्वदेश लौटकर वैष्णव धर्म का नया संदेश दिया। इससे तांत्रिक पद्धति और शक्ति पूजा के अनेक रूपों से बंधे दलों और संप्रदायों की शक्ति स्वभावतः क्षीण होने लगी। उनका संदेश निस्संदेह हठधर्मी, अंधविश्वास और कर्मकांडीय कुरीतियों के विरुद्ध स्पष्ट प्रतिवाद था। ये अंध विश्वास और कुरीतियां कामाख्या मंदिर में और उसके चारों ओर व्याप्त थीं।

अपने समय के जीवन और समाज से पूरा सरोकार रखने के कारण शंकरदेव असम में सांस्कृतिक पुनर्जागरण लाने में सफल हुए। संस्था के रूप में सत्र उनके आंदोलन का माध्यम था। धार्मिक, सामाजिक और कलात्मक कार्यकलापों के लिए यहां एक उपयुक्त केंद्र और वातावरण उपलब्ध हो जाता था। 'सत्र' में नामघर, मणिकूट और हाति होते थे। नामघर सामूहिक प्रार्थना कक्ष है और मणिकूट 'सत्र' का सिंहासन है जो नामघर के अंतिम छोर पर होता है। हाति मठवासियों के रहने के लिए घर होते हैं।

नामघर में नाट्‌य प्रस्तुति की जाती थी और अभी भी की जाती है। इसे बहुधा भाओना घर कहा जाता है। यद्यपि नामघर, मणिकूट और हाति में असम की अपनी वास्तुकलागत विशेषताएं मिलती हैं, तथापि उनकी भवन निर्माण योजना केरल में कुटियट्टम के कुट्टंबलम की भांति ही सुनिश्चित और कठोर है और छत का प्रकार तथा त्रिअंकी और भित्ति रखने की प्रणाली भी उसके सदृश है। कभी कभी खंभों पर केवल एक छतदार मंच बना दिया जाता है जिसमें कोई दीवार नहीं होती। इसे 'रभा' कहते हैं। यद्यपि पूरे विश्वास से नहीं कहा जा सकता कि सत्र की वास्तुकलागत योजना शंकरदेव की दी हुई थी, फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि इस संस्था का निर्माण उन्होंने ही किया था और उनके नाटक इस विशेष संरचना को ध्यान में रखकर लिये गये जो दो उद्देश्यों की पूर्ति करती थी। उसका प्रयोग सामूहिक प्रार्थना कक्ष के रूप में होता था और साथ ही रंगमंच और दर्शक कक्ष के रूप में भी।

शंकरदेव के पूर्ववर्ती असमिया लेखकों की चर्चा पहले की जा चुकी है। वह उनके भी ऋणी थे और मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के भी। डा. महेश्वर नियोग जैसे असमिया विद्वानों का मत है कि 11वीं, 12वीं शताब्दी के संस्कृत नाटक ने उन पर गहरा प्रभाव डाला था। उनके नाटकों से विशेषकर 'भक्ति रत्नाकर' और 'श्री राम विजय' से स्पष्ट है कि वह कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चंद्रोदय' और 'हनुमत' के 'महानाटक' से परिचित थे। विषय और नाट्‌य संरचना की दृष्टि से इन नाटकों और शंकरदेव के नाटकों के बीच अनेक समानताएं हैं। 'प्रबोध चंद्रोदय' और 'महानाटक' दोनों ही पूर्वकालीन संस्कृत नाटक के विपरीत अंकों और दृश्यों में विभाजित नहीं हैं। उनका वर्णन क्रम अविच्छिन है और इसी रूप में प्रस्तुत किये जाने के उद्देश्य से उनकी रचना की गयी है। 'नांदो' और प्रस्तावना अंश भी इनमें नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकरदेव के नाटकों की संरचना का भी यही आधार रहा है और अभिव्यक्ति के मुख्य माध्यम के रूप में गेय शब्द का प्रयोग करके उन्होंने 'रामायण गीति' का अनुसरण किया है। उन्होंने भारत के अन्य भागों और स्वयं असम में प्रचलित सामूहिक गान की परंपरा का भी समावेश किया होगा। इस धारणा के सही होने में बहुत संदेह प्रकट किया गया है कि उन्होंने ओजा पल्लि की परंपरा से बहुत लाभ उठाया होगा जिसमें ढोल वादन, गायन और नृत्य का सम्मिलित रूप मिलता है। परंतु यह सोचना कदाचित गलत नहीं होगा कि व्यापक दृष्टि और खुले मस्तिष्क से संपन्न शंकरदेव ने अपने अंकिआ-नाट तथा उनकी नाट्‌य प्रस्तुति भाओना में

नये तत्वों का समावेश करने के प्रयोजन से समस्त समकालीन विधाओं और रूपों पर एक दृष्टि अवश्य डाली होगी । 'धूलिया' असम की एक विशिष्ट गायन शैली थी जिसमें ढोलों का प्रयोग भी किया जाता था । 'भोरिया गाथा' गीतों की देशी विधा थी जो एक गायक या अनेक गायकों द्वारा सामूहिक रूप से गाये जाते थे । ओजा पल्लि के अतिरिक्त यात्रा नाटक और पुतुल नाच (पुतलियों का नाच) की परंपरा थी । नाटकीय क्रिया के अविच्छिन्न प्रवाह की परंपरा यात्रा नाटकों से मिली होगी और शंकरदेव को इस विधा की जानकारी थी, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि उन्होंने कालिय दमन जैसे अपने कुछ नाटकों को यात्रा का नाम दिया है । हो सकता है कि विस्तारपूर्वक आरंभिक ढोलवादन जैसे अन्य लटकों की प्रेरणा उन्हें 'धूलिया' से मिली हो ।

संभव है कि शंकरदेव के नाटकों की विशिष्ट नाट्य संरचना में इन साहित्यिक स्रोतों और नाट्य रूपों का योगदान रहा हो, किंतु भाव और कथ्य की दृष्टि से उनके नाटकों का मुख्य प्रेरणा-स्रोत मथुरा की रासलीला की भांति, भागवत पुराण ही था । उन्होंने इस महापुराण के अनेक स्कंधों, विशेषतः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, नवम, दशम, एकादशम और द्वादशम खंडों का अनुवाद ही नहीं किया है, अपितु अपने शिष्यों से अन्य खंडों का अनुवाद भी करवाया है । केवल एक नाटक 'श्री राम विजय नाट' को छोड़कर उनके सभी नाटकों की विषय वस्तु 'भागवत पुराण' से ही ली गयी है । 'रुक्मिणी हरण नाट', 'पारिजात हरण नाट', 'कालिया दमन', अमृत मंथन, 'प्रह्लादचरित', 'गजेंद्र उपाख्यान', 'विप्र-पत्नी प्रसाद' और 'कीर्तनघोष' – ये सारे इसी पुराण पर आधारित हैं । उनके 'हरिश्चंद्र उपाख्यान' की विषयवस्तु 'मार्कण्डेय पुराण' से ली गयी थी । 'भक्तिप्रदीप' की विषय वस्तु 'गरुड़ पुराण' से और 'अनन्दीपतन' की विषयवस्तु 'वामन पुराण' से ली गयी थी । उनकी विविध साहित्यिक कृतियों में वरगीत नामक गीत संकलन और भक्तिरत्नाकर जैसे नीति ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं ।

रुक्मिणी हरण, पारिजात हरण और कालिय दमन जैसे नाटकों के विषय, उस समय समस्त भारत में लोकप्रिय थे । भागवतमेला, यक्षगान और कुछ अन्य रूपों में नाट्य प्रस्तुति के लिए इन कथाओं का उपयोग किया गया है । दूसरी ओर, काली गोपाल और विप्र-पत्नी प्रसाद विषयवस्तु की दृष्टि से रासलीला में वर्णित लोकप्रिय प्रसंगों के अधिक निकट हैं । वस्तुतः पुराणों और उनकी विषयवस्तु ने सभी कलाओं विशेषतः प्रदर्शनकारी कलाओं की गतिविधियों के लिए समान आधार सुलभ करा दिया था ।

यद्यपि इन नाटकों का नाट्यगत कथ्य एक जैसा ही था और उनका स्रोत भी एक ही था, किंतु उनके निर्वाह और कलात्मक अभिव्यक्तियों में भिन्नता और क्षेत्रीय पुट था । इनमें स्थानीय और देशी गतिविधियों का महत्वपूर्ण योगदान था । यह स्थिति इस काल (मोटे तौर पर 15वीं/ 16वीं शताब्दी) में प्रायः समस्त भारत में दृष्टिगत होती है ।

शंकरदेव की सभी रचनाओं में नाट्य प्रस्तुति की सामग्री मिलती है, चाहे वह अंकिआ-नाट जैसी विशुद्ध नाट्य रचना हो या कीर्तनसंग्रह जैसी गीतात्मक रचना हो अथवा बड़ा गीत जैसी काव्य रचना हो । अंकिआ-नाट ब्रज बोली में लिखी गयी रचना है । ब्रज बोली में अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण था जिसका प्रयोग थोड़े क्षेत्रगत भाषा वैभिन्नय के साथ बंगाल, ओड़िसा और बिहार में भी किया जाता था । यह भाषा वृंदावन के साथ एक संपर्क सूत्र का काम देती थी । और इस प्रकार यह ब्रज भूमि की भाषा से जुड़ी हुई थी ।

शंकरदेव के नाटक भी संस्कृत और क्षेत्रीय परंपराओं के ऐसे ही सम्मिश्रण के उदाहरण हैं । इनमें जहां सूत्रधार, नांदी, पूर्वरंग आदि रूढ़ियों का पूर्णतया निर्वाह किया गया है वहीं नाट्य संरचना की दृष्टि से अनेक नवीन और प्रयोगात्मक तत्वों का समावेश भी हुआ है । परिणामतः एक ऐसी विधा विकसित हुई जो नयी होने के साथ साथ भागवतमेला, यक्षगान आदि की नाट्य-संरचनाओं के बहुत निकट भी है । उत्तरवर्ती संस्कृत नाटक के संगीतक और उपरूपक, स्पष्टतः इन क्षेत्रीय रूपों के पहले से ही प्रचलित थे । गीतात्मक अंशों और गद्यांशों का मिला जुला प्रयोग होता था । और 5वीं से 8वीं शताब्दी तक के संस्कृत नाटक की अपेक्षा इनमें गान, संगीत, नृत्य तथा मूकाभिनय को बहुत अधिक महत्व दिया जाता था । फिर भी, संगीत के अधिक संपूर्ण प्रयोग के बीज संस्कृत नाटकों में आरंभ से ही निहित थे जिसकी पुष्टि इस बात से होती है कि ईसा की 5वीं शताब्दी के चतुर्भाणि ने अपनी उभयाभिसारिका नामक कृति में संगीतक नामक एक नाट्य रूप का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है । हर्ष के काल तक यह नाटक का एक सर्वमान्य रूप बन चुका था । जिसका प्रमाण बाणभट्ट की कादंबरी (8वीं

शताब्दी) है। दामोदर गुप्त (9वीं शताब्दी) के कुट्टनिमट्टम में हर्ष के रत्नावली नाटक के अभिनय का जो विवरण दिया गया है उससे भी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि उस समय नाटकों में संगीत और नृत्य का प्रमुख स्थान था। अंततः राजशेखर का कर्पूरमंजरी उल्लेखनीय है जिसके अनुसार एक विशेष नाट्य रूप 'सट्टक' पहले ही प्रचलित हो चुका था।

शंकरदेव और उनके शिष्यों के नाटकों में संस्कृत नाटक के इस परवर्ती रीतिमुक्त रूप का अनुसरण किया गया है। नाटकों की संरचना संधियों के सिद्धांतों पर पूर्ववत् टिकी रही। इन कलागत परंपराओं का पोषण सत्रों की संस्थाओं ने किया था।

शंकरदेव और उनके प्रमुख शिष्य माधवदेव ने सत्र के अध्यक्ष के लिए दीक्षा अनुष्ठान के भाग के रूप में नाटक लिखना और प्रस्तुत करना लगभग अनिवार्य ही कर दिया था। इस प्रकार अंकिआ-नाट लेखन और भाओना की प्रस्तुति की परंपरा सत्र और नामघरों के अभिन्न अंग बन गये थे। यद्यपि कीर्तन गायन, विशेषतः असमिया 'बरगीत' का गायन लोकप्रिय था, तथापि भाओना की प्रस्तुति भी कम महत्वपूर्ण नहीं थी। शंकरदेव और माधवदेव का अनुसरण कई वैष्णव पथ प्रदर्शकों ने किया जिनमें से अनेक विख्यात लेखक और नाटककार भी थे। कलझर सत्र के संस्थापक गोपाल आता (1547-1611) और रामानंद द्विज ने पुराने प्रतिमानों पर आधारित अनेक गीतों और नाटकों की रचना की। अन्य सत्र अधिकारी नाटकों के लेखक और निर्देशक बने रहे। समसामयिक अंकिआ-नाट और भाओना के विकास और अनुवर्तन का इतिहास, असम के विभिन्न भागों में कई सत्रों की स्थापना और इन सत्रों की लंबी वंश परंपराओं से जुड़ा हुआ है।

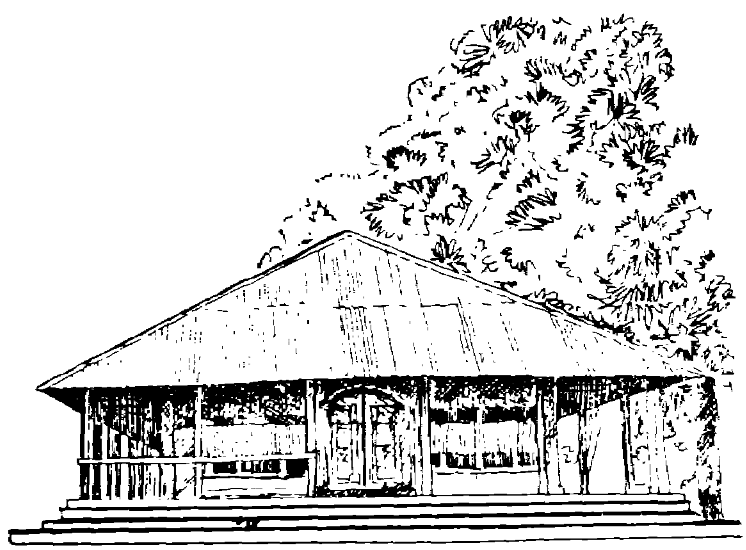
यदि शंकरदेव और उनके अनुयायी माधवदेव ने यह सुदृढ़ आधार निर्मित न किया होता तो संभवतः भाओना प्रदर्शन लुप्त ही हो गया होता। यों भी यह परंपरा पहले से ही बहुत क्षीण है और पर्याप्त तथा उचित संरक्षण न मिलने के कारण यह और भी कमजोर होती जा रही है, यद्यपि जो कुछ शेष रह गया है वह भी बहुत मूल्यवान है। यदि इस परंपरा को कुछ प्रोत्साहन दिया जाये तो यह अपनी शक्ति और लोकप्रियता पुनः प्राप्त कर सकती है।

सत्र अधिकारी ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण दोनों वर्गों के होते हैं। इसलिए इस रूप को केरल के कुटियट्टम या मेलत्तुर के भागवतमेला की भांति ब्राह्मणीय नाट्य के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। सभी अभिनेता पुरुष होते हैं। वे मठवासी हो सकते हैं, किंतु सभी सत्र के निवासी हों, यह अनिवार्य नहीं है; परंपरा के विपरीत किसी भी ग्रामीण समुदाय के हो सकते हैं। सत्र की गतिविधियों और भाओना की प्रस्तुति में वैष्णव आंदोलन का लोकतांत्रिक प्रभाव स्पष्ट देखने को मिलता है।

समकालीन भाओना प्रस्तुति को समझने के लिए ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य को समझना आवश्यक है, क्योंकि इसे प्रायः भूल से एक गौण लोकनाट्य रूप मान लिया जाता है जो जीवित रहने के लिए संघर्षरत है। वास्तव में इसकी एक समृद्ध और जटिल पृष्ठभूमि है तथा संस्कृत और असमिया परंपराओं में इसकी गहरी जड़ें हैं। स्वयं प्रदर्शन को लें। इसके लिए नामघर या रभा (विशेष तरीके से बनाया गया पंडाल) होता है, जिनमें नामघर आयताकार होता है, जिसमें बांस या सरकंडे की दीवारें होती हैं। ये दीवारें सुगमता से हटाई जा सकती हैं। अंकिआ-नाट में प्रायः दीवारों को हटा दिया जाता है या विशेष रूप से एक पंडाल तैयार किया जाता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। रभा (या पंडाल) लगभग 300 फुट लंबा और 60 फुट चौड़ा होता है। दोनों स्थितियों में मंच क्षेत्र के एक किनारे पर मंदिर का गर्भगृह (मणिकूट) होता है। इसे स्थापना या सिंहासन भी कहते हैं। मणिकूट में शुभसूचक वस्तुएं रख दी जाती हैं और इन्हें रंगीन कपड़ों से ढक दिया जाता है। यह सारी संरचना लकड़ी के खंभों पर टिकी रहती है और इसकी बहुस्तरीय छत टीन और सूखी घास की बनी होती है। नाटक प्रदर्शन से पहले लकड़ी के खंभों को कढ़े हुए कपड़ों से सजाया जाता है। ऐसा अच्छी श्रवण व्यवस्था के लिए किया जाता है। यद्यपि इस संरचना में केरल के कुट्टंबलम की भांति कोई जटिलता नहीं होती तथापि मोटे तौर पर इसके मूल में भी वे ही सिद्धांत होते हैं। नामघर के एक तरफ या हाल के एक भाग के रूप में एक छोटा अहाता होता है जिसमें साज सामान (चो) रखा जाता है। इसे 'चो घर' कहते हैं, जो नेपथ्य गृह के समान होता है। इसमें पोशाकें, मुखौटे और अन्य सामान रखे जाते हैं। चूंकि भाओना प्रदर्शन में प्रायः सहायक सामग्री और रंग सज्जा के रूप में पहाड़ियों, पशुओं, रथों आदि के माडल का उपयोग किया जाता है, अतः ये सब वस्तुएं यहीं रखी जाती हैं।

रभा में वादक मंडली, अभिनेताओं और दर्शकों के लिए स्पष्ट रूप से अलग अलग स्थान रखा जाता है। नाटक मंडली

मणिकूट के दूसरे किनारे पर दाहिनी ओर बैठती है, ताकि इसका मुख मंदिर की ओर रहे। अभिनय क्षेत्र मध्य में होता है। दर्शकगण बाहर की ओर अभिनेताओं के चारों ओर चटाइयों पर बैठते हैं या खड़े रहते हैं। अभिनय क्षेत्र प्रायः सफेद कपड़े का एक शामियाना-सा (चंद्रातप) होता है, जिसमें रंगीन झालरें लगी होती हैं और जिसकी सजावट लाल रंग से की जाती है। प्रकाश की व्यवस्था केले के तनों में मिट्टी के दीये लगाकर बहुत ही विलक्षण तरीके से की जाती है। इन्हें गाछ कहा जाता है और ये झाड़ जैसे लगते हैं। जहां सरसों के तेल और बत्ती वाले इन मिट्टी के दीपकों से मद्धम प्रकाश निरंतर फूटता रहता है, वहीं नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए गतिशील मशालों का प्रयोग किया जाता है। इन्हें 'अरिया' या 'अग्नि घेरा' कहते हैं। तेल में भिगोये हुए कपड़े जलाकर तेज प्रकाश उत्पन्न किया जाता है। यह रंगमंच पर किसी महत्वपूर्ण पात्र के आगमन की सूचना देने के लिए किया जाता है। विशेष श्रेणी के दर्शकों के लिए एक अलग क्षेत्र निर्धारित होता है। 'मणिकूट' या मंदिर के समीप, सत्र के अधिकारी या गांव के अन्य प्रतिष्ठित लोग बैठते हैं। बाहर की ओर दूसरी तरफ अन्य लोग बैठते या खड़े रहते हैं। प्रायः महिलाओं के लिए अलग स्थान रखा जाता है। दर्शकों में सभी वर्गों के लोग होते हैं और भरत मुनि का यह कथन पुनः सत्य सिद्ध होता है कि नाटक सभी के लिए है, चाहे वे किसी जाति या वर्ग के हों। भारत के अन्य भागों की भांति यहां भी वास्तविक नाट्य प्रस्तुति के पहले महत्वपूर्ण पूर्वरंग क्रियाएं संपन्न की जाती हैं। प्रदर्शन से एक दिन पहले,



अभिनेता उपवास रखते हैं। ऐसा करना विशेषतः उन लोगों के लिए आवश्यक है जो सूत्रधार, कृष्ण या राम की भूमिका अदा करते हैं। नाटक प्रदर्शन से पहले पूरे दिन समवेत स्वर में कीर्तन गायन, विशेषतः नामकीर्तन किया जाता है। वस्तुतः अंकिआ-नाट की पूर्वरंग क्रियाओं में तथा नाट्यशास्त्र में वर्णित पूर्वरंग के विभिन्न चरणों में बहुत घनिष्ठ और अर्थपूर्ण समानताएं हैं।

गायकों की दो मंडलियों द्वारा स्थान ग्रहण करने से पहले उनका प्रवेश भी एक महत्वपूर्ण पूर्वरंग क्रिया है, जिसमें एक मंडली दाहिनी ओर और दूसरी बाईं ओर या एक-दूसरे के पीछे बैठती है और उन्हें क्रमशः 'गाय' और 'बायन' कहा जाता है। वे आतिशबाजी (महत मत) और जलती हुई मशालों (अग्नि घेरा तथा अग्निगदा) के तेज प्रकाश में रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। सीधे खंभों पर लगी ये मशालें कभी कभी अग्नि धनुष जैसी दिखाई देती हैं। ये ज्योति स्तंभ 6 से 9 या 14 से 21 फुट तक के हो सकते हैं। संगीतकार पहले एक सफेद परदे के पीछे प्रकट होते हैं जिसे दो सहायक थामे रहते हैं। जैसे ही सभी संगीतकार अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं और गायन वादन आरंभ करने को होते हैं वैसे ही यह परदा हटा लिया जाता है और मशालों का तेज प्रकाश फैल जाता है। दर्शकगण उल्लासपूर्वक 'जय हरि बोल' और 'जय रैन बोल' आदि की ध्वनि के साथ उनका स्वागत करते हैं। हमने यह देखा है कि भारत के लगभग सभी अन्य नृत्य नाटकों में भी इसी प्रकार के

संगीतकारों का रंगमंच पर प्रवेश होता है और इसी प्रकार से सहायक परदा पकड़े रहते हैं। इसमें 'अर्कपोर' कहा जाने वाला यह परदा हमेशा सफेद रंग का ही होता है, जो कुटियट्टम यक्षगान या रासलीला के परदे से सर्वथा भिन्न होता है। संगीतकार मंडली के साथ प्राय: मुखौटा पहने एक अन्य पात्र भी रंगमंच पर प्रवेश करता है जो कुछ हास्य से भरे वाक्य बोलता है। यद्यपि इनमें कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, फिर भी ये पूर्वरंग क्रियाएं किसी न किसी सीमा तक यक्षगान के कोदांगी और मयूरभंज छऊ के काजी-पाजी के प्रवेश प्रसंगों का स्मरण दिलाते हैं। ढोल बजाने, गायन और मुखौटा पहने हुए पात्र का संपूर्ण प्रसंग 'धेमाली' के नाम से जाना जाता है, जो संस्कृत के पूर्वरंग के अनुरूप है। विभिन्न सत्रों में धेमाली की अनेक शैलियां हैं, जो डा. महेश्वर नियोग जैसे विद्वानों के अनुसार बारह विभिन्न प्रकार की हैं।

'चाहिनि' तथा 'गुरुघट घोष' धेमाली नाटक के कलात्मक स्वरूप का संकेत देते हैं। चाहिनि में ताल वाद्य बजाने के कौशल का प्रदर्शन किया जाता है जबकि 'घोष' द्वारा 'खोल' और मंजीरों के साथ प्रथम प्रारंभिक गीत अथवा कीर्तन प्रस्तुत किया जाता है। 'बड़-धेमाली' (नाटक से पूर्व का दीर्घकालिक आरंभिक अंश) अथवा 'न-धेमाली' (नाटक से पूर्व का नवीन आरंभिक अंश) अथवा 'नट-धेमाली' (नाटक से पूर्व का नृत्य अंश) जैसी धेमालियों के तत्काल बाद सूत्रधार का प्रवेश होता है। वह पहले एक नृत्य प्रस्तुत करता है और तब नांदी गायन प्रस्तुत करता है जो संस्कृत रंगमंच के अनिवार्य आरंभिक अंश का स्मरण दिलाता है। 'नांदी' (प्राय: राग विशेष की लय पर गेय श्लोक) के माध्यम से वह नाटक की विषयवस्तु की घोषणा करता है। नाटक का यह भाग प्रारोचणा के समान है, जिसका उल्लेख भरत मुनि ने भी किया है। इसके बाद 'भातिमा' नामक एक अन्य गीत गाया जाता है और इसी गीत के माध्यम से नाटक की कथावस्तु तथा पात्रों की मुख्य विशेषताओं का परिचय कराया जाता है। यह संस्कृत के 'प्रस्तावना' के ही समान है। प्राय: इन विभिन्न खंडों के बीच संक्षिप्त नृत्य प्रस्तुत किये जाते हैं। सूत्रधार की भूमिका के अंतिम खंड में एक गीत प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें नायक का परिचय दिया जाता है और उसके प्रवेश की घोषणा की जाती है, यह 'प्रवेश गीत' कहलाता है। पूर्वरंग (इस शब्द का प्रयोग असमी भाषा में नहीं किया जाता है) की समाप्ति के रूप में सफेद परदा एक बार फिर उठाया जाता है। परदा गिराते या ले जाते समय एक अन्य गीत के साथ नायक का प्रवेश होता है। इसके बाद गीतों के माध्यम से अन्य पात्रों का तब तक परिचय दिया जाता है जब तक कि सांध्य प्रदर्शन के अधिकांश महत्वपूर्ण पात्र रंगमंच पर नहीं आ जाते। उनमें से प्रत्येक अपना अपना परिचय देने की मुद्रा में रंगमंच पर इधर से उधर चलता है और प्रवेश गीत की लय पर कुछ साधारण हाव-भाव प्रस्तुत करता है और इसके बाद वे सभी अपने अपने निर्दिष्ट स्थानों पर जाकर बैठ जाते हैं। ये परंपराएं यक्षगान और छऊ जैसे अन्य नाट्य रूपों के पात्र प्रवेश से कुछ भिन्न हैं। यक्षगान और छऊ में पात्र प्रवेश महत्वपूर्ण होता है, किंतु इसकी यह विशेषता होती है कि इसके सभी पात्र क्रमानुसार रंगमंच पर प्रवेश करते हैं और नेपथ्यशाला में लौट जाते हैं। छऊ में पात्र प्रथम प्रवेश के समय विशेष मुद्रा (धारणाएं) ग्रहण करते हैं, तथापि प्रवेश गीत भागवतमेला के प्रवेश दारु का ही एक रूप है।

इसके बाद एक लंबे दृश्यबंध के रूप में मुख्य नाटक आरंभ होता है, जिसमें बीच बीच में संधियों का समावेश किया जाता है, किंतु इसे अंकों और दृश्यों में विभाजित नहीं किया जाता है। संस्कृत नाटकों के सूत्रधार से भिन्न किंतु यक्षगान के भागवत और भागवतमेला के भागवतालू के समान इसका सूत्रधार नाटक की समाप्ति तक रंगमंच पर रहता है। वह नाटक का संचालन और निर्देशन करता है और कथानक को आगे बढ़ाने के लिए सूत्र में पिरोने वाले अंश प्रस्तुत करता है।

सभी नाटकों में आरंभिक पूर्वअंशों के लिए नांदी श्लोक और सभी भातिमा (गीत) नहीं होते। उदाहरण के लिए शंकरदेव के पत्नी प्रसाद में कोई नांदी या आरंभिक स्तुति गान (भातिमा) नहीं है। तथापि कुछ अन्य नाटक इन्हीं से आरंभ होते हैं। अन्य रूपों की भांति नाटक का प्रस्तुतिकरण गद्यांशों, काव्यपाठ, गेय कविता और नाटक के सम्मिश्रण से किया जाता है। इनमें से प्रत्येक तत्व पर बल देना नाटक की विषयवस्तु के अनुसार हर नाटक में अलग अलग होता है। इस प्रकार भागवत पुराण के दशम् स्कंध के अंशों पर आधारित पत्नी प्रसाद में 'रासका' के प्रस्तुतिकरण से संबंधित एक बड़ा खंड है, जो ठीक उसी प्रकार का है जैसा कि हमें ब्रज रास में देखने को मिलता है। इसमें कृष्ण के चारों ओर वृत्ताकार नृत्य और संगीत तत्व की प्रधानता देखने को मिलती है। इस नाटक में नृत्य की महत्वपूर्ण भूमिका है और हमें इससे ऐसी परिपुष्ट नाट्य शैली की जानकारी मिलती है जिसमें शुद्ध नृत्य और नृत्य तथा आंगिकाभिनय दोनों का समावेश होता है। इसमें और केलिगोपाल

जैसे अन्य नाटकों में आंगिकाभिनय का अधिक पुट है । तथापि इसके विपरीत श्रीराम विजय में संवाद और काव्याभिनय अधिक महत्वपूर्ण हैं । पारिजात हरण में गीतों का आधिक्य है और रुक्मिणी हरण में सभी नाट्य शैलियों का समावेश है ।

माधवदेव के नाटकों का स्वरूप संगीत नाटकों जैसा है और उनके नाटकों पर स्वच्छंद रूप से बिल्वमंगल का प्रभाव है । उनके प्रस्तुतिकरण की शैली में नाटकीयता की अपेक्षा गीतात्मकता अधिक है और उनके नाटकों की भाषा की विविधता और अभिनय कौशल में अपेक्षाकृत कम व्यापकता है । शंकरदेव ने जान बूझकर विविध बोलियों और भिन्न भिन्न विधाओं का समावेश किया है । वस्तुत: वे चाहते थे कि उनके नाटक सभी वर्गों के लोगों द्वारा समझे जायें और इसीलिए उन्होंने समाज के विभिन्न स्तरों और रुचियों के लोगों को ध्यान में रखते हुए अपने नाटकों की रचना की है । ऐसा कहा जाता है कि नाटक में सात तत्व होते हैं, जिनका वर्णन डा. महेश्वर नियोग इस प्रकार करते हैं :

> गायन और बायन (वाद्य मंडल) दर्शकगण के आकर्षण को बढ़ाते हैं । इनका पारखी सूत्रधार के शब्दों और नृत्यों की प्रशंसा करता है । इनके लिए संस्कृत के श्लोकों की इसलिए रचना की जाती है कि उनका अर्थ ग्रहण करने वाले लोग विद्वान होते हैं । दर्शकगण में उपस्थित ब्राह्मण इन गीतों का अर्थ समझेंगे । सामान्य ग्रामीण लोक ब्रज बोली के शब्दों को समझ सकेंगे । अनजान लोग मुखौटे और प्रतिमाएं (छो) देखेंगे और इन सबसे बढ़कर बात यह है कि चाहे नाटक का प्रस्तुतिकरण सही ढंग से किया गया हो या गलत, किंतु प्रस्तुत नाटक में कृष्ण के नाम का गुणगान तो होता ही है । ये नाटक के सात अनमोल तत्व होते हैं ।

इन नाटकों का लोकप्रिय नाम अंकिआ-नाट है, यद्यपि शंकरदेव के नाटकों में इस नाम का कहीं उल्लेख नहीं है । इसके स्थान पर वे यात्रा, नाटक, नृत्य और नट का भी प्रयोग करते हैं । उनके उत्तरवर्ती नाटककारों, विशेष रूप से रामानंद और रामकरण ने शंकरदेव के नाटकों का वर्णन करने के लिए 'अंकिआ-नाट' शब्द का प्रयोग किया है । अब यही नाम प्रचलित हो गया है । झूमर शब्द का प्रयोग प्रदर्शन की उस कोटि का वर्णन करने के लिए किया जाता है, जिसकी संकल्पना माधवदेव ने अपने नाटकों के लिए की थी । चाहे भाओना प्रदर्शनों को नाटक अथवा नृत्य अथवा यात्रा अथवा झूमर कहा जा सकता हो या नहीं, इतना तो निश्चित है कि ये प्रदर्शन एक विशिष्ट कोटि के प्रदर्शन हैं । इनके स्वरूप में असम में और उसके बाहर प्रचलित नाट्य रूपों में अनेक समानताएं देखने को मिलती हैं । हमने उन तत्वों की जानकारी प्राप्त कर ली है, जो संस्कृत नाटक और अंकिआ-नाट के समान हैं या उनसे भिन्न हैं ।

इस नाट्य रूप में केवल संवाद ही नहीं, अपितु संगीत और नृत्य की भी महत्वपूर्ण भूमिकाएं होती हैं । संगीत और नृत्य, नाट्य कृति के अभिन्न अंग होते हैं और ये केवल सहायक अंग अथवा अलंकरण मात्र नहीं होते । यह भारत के सभी नाट्य रूपों की एक खास विशेषता है जो उन शहरी क्षेत्रों में किये जाने वाले समकालीन प्रदर्शनों में भी दिखाई देती है जिनमें परंपरागत विधाओं के माध्यम से आधुनिक विषयवस्तुओं का प्रस्तुतिकरण किया गया है ।

असमी संगीत में एक विशेष रस होता है, यद्यपि इसमें ऐसी अनेक विशेषताओं का समावेश होता है जिसे सामान्यत: हिंदुस्तानी संगीत कहा जा सकता है । साथ ही, किसी नाटक के एक अंग के रूप में समाहित संगीत रचनाएं उस असमी परंपरा का भाग होती है जिसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी है । यही बात नृत्य कौशल और अंकिआ-नाट में अंतर्निहित नृत्य मुद्राओं के बारे में सही बैठती है ।

'बाड़गीत', चाहे वे शंकरदेव के हों या किसी अन्य के उन सभी की एक विशेष धुन होती है । अपने स्वरूप में ये गीत ध्रुवनाद अथवा प्रबंध के अत्यधिक समीप होते हैं और इनमें ध्रुव (स्थायी), अंतरा, संचारी और आभोग नामक चार खंड होते हैं, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि वर्तमान ध्रुवपद गायन के विपरीत इनके गायन में ढोल, मृदंग आदि का प्रयोग किया जाये या इन्हें किसी छंदबद्ध ताल में बांधा जाये । नाटकों में गायन की एक शैली का प्रयोग किया जाता है और प्रत्येक श्लोक को एक विशिष्ट धुन में बांधा जाता है, जिसका अनुकरण लगभग सारे भारत में एक ही तरह से किया जाता है । किंतु यहीं वाद्य यंत्रों में ढोल और मंजीरे का प्रयोग किसी नाट्य अंश में और स्वतंत्र रूप से – दोनों में ही अनिवार्य है । प्रारंभिक भातिमा गीत प्राय: बिना किसी छंदबद्ध ताल के गाये जाते हैं और इनमें प्राय: कोई राग नहीं होता । गंभीर गहन आवाजों में भातिमा गायन विशुद्ध रूप से उच्चरित शब्द और गेय गीत के बीच का चरण होता है । शंकरदेव ने अपने नाटकों के गीतों

में लगभग चौंतीस रागों का प्रयोग किया है; और इसी प्रकार माधवदेव ने भी रागों का प्रयोग किया है। इनमें से कई नाम तो हिंदुस्तानी संगीत से संबद्ध लगते हैं, जैसे – भूपाली, वसंत, केदार, आसावरी, कल्याण आदि, जबकि दूसरे स्पष्ट रूप से ऐसे रागों या लयों के सूचक हैं, जिनका आरंभ विभिन्न क्षेत्रों जैसे कन्नड़, गुर्जरी, गौरी आदि क्षेत्रों में हुआ। कुछ केवल असम में ही मिलते हैं और उद्गम स्थानीय जान पड़ता है। ताल के मामले में भी यह जान पड़ता है कि कुछ ताल भारत के दूसरे भागों में भी प्रचलित थीं, जैसे – एक ताल और रूपक; और कुछ केवल असम में ही मिलती थीं। असमी संगीत और नृत्य में लगभग 12 ताल और अन्य 12 उप-ताल पाये जाते हैं। इन तालों और उप-तालों का विस्तृत विश्लेषण और उनकी तुलना उत्तरी भारत, ओड़िसा, बंगाल और मणिपुर में प्रचलित तालों से करने पर संपर्क और पारस्परिक प्रभाव की अनेकों रुचिकर बातें सामने आयेंगी। वस्तुतः ताल पद्धति और बोल का कोई भी ऐसा तुलनात्मक अध्ययन अभी तक नहीं किया गया है।

संगीत वाद्यों में मृदंग शामिल होता है, जो चीनी मिट्टी या लकड़ी के खोल का बना होता है और इसमें विभिन्न रूपों और किस्मों के मंजीरे होते हैं। यद्यपि वैष्णव साहित्य में दुंदुभी, भेरी, गोमुख, पटह आदि आघात वाद्यों का उल्लेख तो मिलता है, किंतु ऐसा लगता है कि वास्तविक व्यवहार में इनका प्रचलन बंद हो गया है। बाहर, नाट्य प्रदर्शनी में कुछ तंत्री वाद्यों विशेष रूप से एक साधारण प्रकार की वीणा या एक टोकारी (जो एक प्रकार का एकतारा ही है) का प्रयोग सामान्यतः प्रचलित है। भक्ति संगीत वाद्यों में समताल या करताल जैसे करतल ध्वनि वाद्यों का प्रयोग किया जाता है, किंतु भाओना प्रदर्शनों के संदर्भ में इनका प्रयोग नहीं किया जाता।

नृत्यकला रोचक है और इसकी कुछ समानताएं असम के बाहर पाई जाने वाली शैलियों से भी हैं। सत्र नृत्य यद्यपि शुद्ध वैष्णव नृत्य है, किंतु इसे भी मनसा पूजा के देवधानी नृत्य की परंपरा और माधव हरि विजय मंदिर के 'नती' नृत्य के साथ मिलाकर देखा जाना चाहिए। ये दोनों परंपराएं संभवतः ओजा-पल्ली नर्तकों के साथ साथ भाओना प्रदर्शन के नृत्यों के प्रारंभ होने से पूर्व की हैं। इस संदर्भ में पारस्परिक प्रभाव को भी नहीं नकारा जा सकता। इस क्षेत्र में मिलने वाले सामुदायिक नृत्यों और जनजातीय नृत्य की अनेकों शैलियों का भी इसमें निस्संदेह रूप से योगदान रहा होगा। गहन आलोचनात्मक और तकनीकी अध्ययन के अभाव में सत्र नृत्य के विकास के इतिहास की स्पष्ट रूपरेखा बताना बिल्कुल असंभव है। किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शंकरदेव ने नृत्य मुख्यतः नृत्य प्रदर्शनों के रूप में ही सीखा, न कि पहले से ही स्वतंत्र रूप से पाए जाने वाले किसी नृत्य से। परंपरागत रूप से नृत्यों को तीन विभिन्न प्रकार की 'भंगियों' में विभाजित किया गया है और प्रत्येक का नाम उसके लक्षणों के अनुसार रखा गया है। ये हैं – सूत्रभंगी, कृष्णभंगी और गोपीभंगी। इनसे अवस्थिति की बजाय गति के आरोह-अवरोह और नृत्यकला पद्धति स्पष्ट होती है। 'सूत्रभंगी' को पुनः सारूभंगी (लघु, छोटा, मध्यम) और बारभंगी (बड़ा, प्रबल) में विभाजित किया गया है। इसका प्रदर्शन नांदी और भातिमा गायन के समय किया जाता है। सारूभंगी में नृत्य हल्की गति और प्रणाम के साथ आरंभ होता है। यह संभवतः नाट्यशास्त्र परंपरा के लास्य और मणिपुर में पाई गयी एक सिद्धांत-पुस्तक में उल्लिखित स्मित अंग के समान होता है।

उसके बाद 'बारभंगी' में खुले बड़े बड़े कदम रखे जाते हैं, जो मणिपुरी परंपरा में उल्लिखित 'स्फूर्ति अंग' या 'तांडव' का संकेत करता है। कृष्णभंगी को 'गोसाईं प्रवेश नाच' के रूप में भी जाना जाता है। यह नाच प्रवेश गीत के अवसर पर पूरा किया जाता है, जिसे राम या कृष्ण के आगमन की घोषणा के रूप में गाया जाता है। इस विषय पर बहुत-सी कथाएं गढ़ ली गयी हैं और कभी कभी कर्तरीमुख जैसे 'हस्तों' या बांसुरी और अन्य ऐसी वस्तुओं को दिखाया जाता है। हस्ताभिनय के लिए 17-18वीं सदी के शुभंकर की हस्तमुक्तावली का पालन किया जाता है। किंतु इसमें कृष्ण का फिरकी खाना या घुटनों पर चक्कर लगाना नहीं होता, जो कि ब्रज रास, मणिपुरी रास और यक्षगान के हिस्सों की प्रमुख विशेषता है।

'गोपीभंग' इससे बिल्कुल उलटा है और उसकी विशेषता है धीमा, घुमावदार वक्र हाव-भाव। इसकी कुछ समानताएं मणिपुरी नृत्य की कुछ किस्मों से हैं और गहराई से देखने पर ज्ञात होगा कि इन हाव-भावों को प्रदर्शित करने का ढंग बिल्कुल भिन्न है। यहां घुटनों को किसी एक दिशा में मोड़ा जाता है, जिससे अर्द्धमंडली का अस्पष्ट आभास जान पड़ता है और 'अल्लपल्लव हस्तो' को खोलना और बंद करना भी बिल्कुल भिन्न है। मणिपुरी में जहां धड़ को ऊपरी सीने और निचली कमर में तोड़ा जाता है, उसके विपरीत यहां धड़ को एक इकाई की तरह प्रयुक्त किया जाता है। पृथक इकाई के रूप में कंधे

का प्रयोग करना एक ऐसी विशेषता है,जो मणिपुरी में पूरी तरह अनुपस्थित है,किंतु मूल वृत्ताकार भंगिमा या आठ भंगिमाओं की आकृति सत्र और मणिपुरी दोनों नृत्यों में पाई जाती है। गोपीभंगी और नृत्यभंगी के रूप में जानी जाने वाली भंगी की एक और किस्म का प्रयोग कभी कभी शंकरदेव की रास क्रीड़ा की स्थितियों में होता है। नृत्यभंगी में तीन जोड़ी गोप और गोपी भाग लेते हैं और प्रत्येक एक वृत्त की परिधि में नृत्य करते हैं। ऐसा प्रायः रास झूमर में किया जाता है,जो माधवदेव की एक गीतात्मक रचना है। गोपीभंगी शंकरदेव की रासक्रीड़ा में रास नृत्य की शृंखला में प्रयुक्त होता है। यहां कई गोपियां बीच में कृष्ण के साथ नाचती हैं। नामकरण के होते हुए भी अभिनय या नृत्य से अधिक यह नृत्त (शुद्ध नृत्य) है। धड़ को झुकाना और तिरछा काटने का हाव-भाव और अष्टबाहु के हाव-भाव इसमें शामिल होते हैं। इसमें तीव्र आघाती कदमों के बजाय एक निश्चित गति बनी रहती है,जिसके पीछे एक छंदोबद्ध चक्र चलता रहता है। भंगी (जो हाव-भावों के एक संवर्ग के लिए आता है) से बहुत नजदीक जुड़ा हुआ शब्द 'चालि' है,जो ओड़िसा सहित सारे पूर्व भारत में प्रचलित है। मयूरभंज और सेराएकला छऊ से इसकी शुरुआत हुई और इसका प्रयोग मणिपुरी में होता है,किंतु भिन्न उच्चारण और अर्थ के साथ। पहले भी एक अध्याय में इस शब्दावली की कुछ जटिलताओं का उल्लेख किया जा चुका है। यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सत्र नृत्य की तरह अंकिआ-नाट की 'चालि' की गति के आरोह-अवरोह या अवस्थिति की बजाय मणिपुरी जैसी रचना के लिए इसका प्रयोग अधिक होता है। निस्संदेह यह शब्द संस्कृत के शब्द चारी से व्युत्पन्न है, और इसे कभी कभी 'नटुवा नाच' भी कहते हैं,जिससे गोपियों के रूप में युवक संन्यासियों के नृत्य का बोध होता है। नाट्य भंगी की तरह ही यह भी दो भागों में पूरा किया जाता है – 'गनच' और 'रामदनी'। गनच में केवल दो तालों का प्रयोग किया जाता है,जिनके नाम हैं – एकताली और पंताली, जबकि 'रामदनी' में 12 प्रकार के विभिन्न छंदोबद्ध चक्रों और लयात्मक रूपों का प्रयोग किया जा सकता है। मणिपुरी और असम के 'चालि' एक दूसरे के बहुत नजदीक हैं और वास्तव में इन्हीं नृत्यों में कोई भी व्यक्ति न केवल इन दोनों क्षेत्रों के नृत्यों की शैलियों का घनिष्ठ संबंध देख सकता है, बल्कि सत्रों से बाहर हाजो मंदिरों में प्रचलित नृत्य की शैलियों को और भारत के दूसरे भागों में पाई जाने वाली शैलियों को भी देख सकता है। इस नृत्य में चलने का एक सीधा-सादा ढंग है,जिसमें शरीर का भार धीरे धीरे एक पैर से दूसरे पैर पर डाला जाता है। छंदोबद्ध चक्रों (क्रमों) की मूल लयात्मक ताल के अनुसार धीरे धीरे हाव भाव किये जाते हैं,इसके बाद मृदंग अथवा खोल के बोलों द्वारा शरीर के हाव-भावों के साथ नृत्य प्रस्तुत किया जाता है और ये सब अगले छंदोबद्ध चक्र की पहली ताल के साथ साथ ही होते हैं। इन पर वही नियम लागू होते हैं, जो मणिपुरी के 'भंगी परेंगा', कथक की 'टोरा टुकरा' प्रणाली में और भरतनाट्यम की 'तिरमानम्' में लागू होते हैं। 'चालि' या 'नटुवा नाच' की शैली सबसे अधिक समृद्ध है। इसमें भारत की नृत्य की अन्य शास्त्रीय शैलियों की भांति कंधे, धड़, कमर, कूल्हे और पैरों को हिलाते हुए गरदन का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया जाता है। अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि यह केवल भाओना तक ही सीमित नहीं है, बल्कि केवल नृत्य के रूप में भी प्रायः अलग से किया जाता है।

प्रवेश गीत में ही नृत्य नाटक में अपनी पर्याप्त जगह पा लेता है। किसी चरित्र के प्रत्येक प्रवेश गीत के साथ एक प्रवेश नाच या 'भवरिया' या 'भोरिया नाच' होता है। इस नृत्य और गति का क्रम छऊ के निश्चित 'धारणों' के समान होता है, यद्यपि प्रत्येक चरित्र की वैसी निश्चित शैली की चाल या अवस्थिति नहीं होती जैसी कि छऊ, विशेष रूप से पुरुलिया छऊ में पाई जाती है।

नरकासुर वध जैसे अंकिआ-नाटों में जहां युद्ध दिखाया जाता है और कालिय जैसे दानवों का संहार किया जाता है, 'युधार नाच' प्रस्तुत किया जाता है। यहां भी गायी गयी पंक्ति में मुश्किल से ही कोई अभिनय या स्वांग है। वस्तुतः यह विशुद्ध युद्ध नृत्य है जिसमें लड़ाई और मुठभेड़ खुले आम जोरों से दिखाई जाती है। किंतु 'हस्ताभिनय' पूरी तरह से विकसित है और इसका सैद्धांतिक आधार 'हस्तमुक्तावली' से लिया गया है। सत्र नृत्य में हाथ की चेष्टाओं को 'हात' कहा जाता है और मूल अभ्यास को 'मति-अखर' कहा जाता है।

यद्यपि 'भाओना' में शुद्ध नृत्य और कुछ स्वांग (अभिनय या नृत्य) दोनों पाये जाते हैं, किंतु गेय शब्द और चेष्टा के बीच संबंध सामान्य और अस्पष्ट होता है न कि संक्षिप्त, क्रमिक, वर्णनात्मक या समकालिक जैसा कि कुटियट्टम या भागवतमेला

रूपों में पाया जाता है। इस संबंध में शैली प्रदान करने या उसे गढ़ने का काम कम होता है और उन नृत्य शैलियों जैसा नहीं होता है, जिन्हें विशुद्ध शास्त्रीय माना जाता है। ऐसा असम में पाए जाने वाले नृत्य और नाटक के अंतर्निहित गुण की बजाय परंपरा के कमजोर पड़ जाने की वजह से हो सकता है।

किंतु नाट्य रूप दोनों 'धर्मियों' (प्रस्तुतिकरण की शैलियों) का उपयोग करते हैं अर्थात् नाट्य और लोक और दो वृत्तों ('भारती' और 'कैशिकी') और कम से कम तीन प्रकार के अभिनयों का, जिनके नाम हैं 'वाचिक', 'आंगिक', 'आहर्य' और कभी कभी 'सात्विक' का भी उपयोग करते हैं। संक्षेप में, यह पुनः शास्त्रीय नाटक की सभी शर्तें पूरी करता है और इसे लोक नृत्य या उसका सरल रूप नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इसका वातावरण और बाह्य सामाजिक पर्यावरण ग्रामीण समुदाय और धार्मिक-सामाजिक संस्थाएं ही हैं।

सजावट के रूप में प्रयुक्त होने वाली पोशाक, माडल और शृंगार की अन्य वस्तुएं रोचक हैं। विशेष रूप से असमिया होने के साथ साथ मणिपुर, ब्रज और भारत के अन्य भागों से भी इनका संबंध है।

सबसे विशिष्ट और रमणीय पोशाक सूत्रधार की है। मणिपुर के मइबा और मइबी (पुरोहित और पुरोहितनी) की तरह वह धवल वस्त्र पहनता है। वह टखनों तक की पूरी लंबी स्कर्ट पहनता है, जो पहाड़ी लघु चित्रों में मिलने वाले दूरवर्ती हिमाचल के स्वेगी नर्तकों के बिलकुल समान होती है। ये वस्त्र असमिया शैली के लघु चित्रों में भी मिलते हैं। वह पूरी बांह का कोट पहनता है, जो नीचे कमर तक आता है। स्कर्ट को 'घूरी' और ऊपरी वस्त्र को 'फटउ' कहते हैं। निचले और ऊपरी वस्त्रों के ऊपर कमर पर एक चौड़ी पट्टी बांधी जाती है जिसे करधनी या 'घुनुच जरी' कहते हैं। उनके सिर की पोशाक प्रभावशाली होती है और वस्त्रों और सिर की पोशाक के क्रमिक परिवर्तन को जानने के लिए असमिया लघु चित्र बहुत अच्छा स्रोत है। आजकल विभिन्न सत्र दो या तीन प्रकार की पगड़ियों या साफों का प्रयोग करते हैं। कभी कभी पग या पगड़ी (साफा) ऊर्ध्वाधर (थियकनिय) व स्पष्टतः अंडाकार और सामने की ओर निकली होती है और कभी कभी इसे 'मुगलई टोपी' भी कहते हैं और यह मुगल बादशाहों की पगड़ी के समान होती है। तत्कालीन शासकों या विदेशियों की पोशाकों में ऐसा परिवर्तन और अनुकूलन भारत के अन्य भागों में भी पाया जाता है। यही बात हम यात्रा के संदर्भ में देखते हैं और भागवतमेला और छऊ के संबंध में पहले देख चुके हैं। इस प्रकार जहां स्कर्ट और बास्कट में अमूल्य गुण हैं जो समय की सीमा को पार कर गया है, साफा या पगड़ी लगभग एक निश्चित समय का परिधान है।

जो युवक 'नटुवा' का अभिनय करते हैं, वे भी वैसी ही पोशाक पहनते हैं। हां, इतना जरूर है कि उनके मामले में पगड़ी के ऊपर एक घूंघट डाल दिया जाता है, जिससे यह लगे कि वे स्त्री पात्र का अभिनय कर रहे हैं।

कृष्ण और बलराम की पोशाकें स्वयं ही विशिष्ट होती हैं। ब्रज रास आदि की भांति कृष्ण की धोती पीली होती है और बलराम की नीली। कृष्ण का धड़ कढ़े हुए पीले कपड़े से ढका रहता है, और बलराम का कढ़े हुए नीले कपड़े से। आगे पीछे दोनों ओर से नंगा धड़ ढका रहता है और इसे 'बकुवली' और 'पिथियल' कहते हैं। पगड़ी में एक मुकुट और मोरपंख लगा होता है।

राजा, योद्धा और अन्य मानव चरित्र भी उसी पोशाक को पहनते हैं, जिससे काल का पता चल सके। वे अलंकृत और भड़कीली होती हैं। तंग पायजामे के ऊपर एक झालरदार लहंगा पहना जाता है, जो नीचे घुटनों तक आता है। यह 'कतकचिनि' से मिलता जुलता होता है, जिसे हम ब्रज रास में पाते हैं। सबसे ऊपर एक भारी जड़ाऊ बास्कट पहनी जाती है, जिसमें शीशा, अभ्रक जैसी चीजें जगमगाती रहती हैं और जो यात्रा और पुरुलिया छऊ के पात्रों की-सी होती है। साफा और पगड़ी को मिलाकर पोशाक पूरी होती है।

स्त्री का अभिनय करने वाले पुरुष पात्रों की पोशाकों में विशेष सावधानी रखी जाती है, जिससे कि ऐसा लगे कि वे वास्तव में ही महिलाएं हैं। 'साड़ी' या असमिया 'मेखला' के ऊपर कृत्रिम स्तन और कृत्रिम बाल वैसे ही पहने जाते हैं, जैसा कि केरल के कृष्णाट्टम में। आभूषणों में कंगन (खरू), हार और कुंडल आदि होते हैं। सुरमा, सिंदूर चिह्न आदि से खूब गाढ़ा शृंगार किया जाता है।

कुछ अन्य पात्र जैसे रावण, ब्रह्मा, गरुड़, मारीच और अन्य पात्र मुखौटे (मुख) पहनते हैं। विदूषक या मसखरा, जिसे

बेहुवा कहा जाता है और जो कभी कभी प्रदर्शन के प्रारंभ में प्रकट होता है, भी मुखौटा पहनता है। मुखौटे मिट्टी, बांस, लकड़ी या कपड़े के बने होते हैं और उन पर कलई, सिंदूर, पीले, नीले, काले आदि रंग किये जाते हैं। सत्र के कुछ सहवासियों को, जिनका यह पैतृक पेशा है, मुखौटे बनाने का विशेष कार्य सौंपा जाता है और उन्हें 'खनिकर' कहते हैं।

फिर भी मुखौटे और पोशाकों की उच्च श्रेणी की कृत्रिमता और शैली तथा जिस तरीके से नृत्य और गीत गाये जाते हैं, उसके बावजूद गंवारुपन की कुछ बातें बड़े बड़े माडलों, पुतलों और अन्य सामग्रियों में ढूंढ़ी जा सकती हैं। कभी कभी रथ, पहाड़ियां, पर्वत, हाथी और सर्पराक्षस कालिय भी व्यक्तियों के रूप में मंच पर चढ़ आते हैं। ये सब प्रभावशाली तो होता है किंतु अभिनय, गीत और नृत्य की शैली और तकनीक से इसका कोई मेल नहीं। इनसे नाट्यधर्मी शैली में लोकधर्मी शैली के अनेक तत्वों का प्रवेश हो जाता है। कब और कैसे और किसके द्वारा इन परिपाटियों का प्रवेश हुआ, यह एक अनकही कहानी है।

इस तरह से एक भाओना प्रस्तुति में विविध सांस्कृतिक तत्वों का सामंजस्यपूर्ण समावेश होता है। इसीलिए इसे मार्गी या देशी, नाट्यधर्मी या लोकधर्मी जैसी श्रेणियों में बांटना कठिन है। जैसा कि कई बार कहा जा चुका है, यह भारतीय संस्कृति की विशेषता है कि किसी क्षेत्र की नाट्य विधा का संबंध न केवल उस क्षेत्र की बल्कि उस क्षेत्र के बाहर की भी अन्य विधाओं और शैलियों से होता है। अपनी साहित्यिक अंतर्वस्तु और विशेष इतिहास के कारण भाओना की बंगाल और ओड़िसा की छऊ शैलियों से अलग एक पहचान है। लेकिन ब्रज बोली के उपयोग ने उसे एक अधिक व्यापक भारतीय स्वरूप प्रदान किया है और उसके वैष्णव आधार ने उसका संबंध रामलीला और रासलीला की शैलियों से जोड़ा है। दूसरी ओर, इसकी नाट्य संरचना और प्रदर्शन शिल्प तमिलनाडु और आंध्रप्रदेश के भागवतमेला और कुछ हद तक बंगाल और ओड़िसा की जात्रा शैलियों से काफी मिलता जुलता है। कई मायनों में इसका रंगमंच संयोजन संस्कृत परंपरा के अनुरूप है, और कई मायनों में नहीं भी। इसकी नृत्य शैली और वेशभूषा के कुछ पहलू मणिपुरी से मेल खाते हैं। इसके संगीत की अंतर्वस्तु और प्रणाली उत्तर भारत के ध्रुपद गायन जैसी है।

लेकिन फिर भी, इसे इन सबका मिश्रण नहीं कहा जा सकता। निश्चित ही यह कलारूप असम की अपनी ही विशेषता है – अनुपम और सामंजस्यपूर्ण।

9

रामायण और रामलीला

रामकथा के इर्दगिर्द घूमनेवाली कलाओं की परंपराएं एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करती हैं जो कि न केवल भारत की बल्कि एशिया के बहुत-से भागों की अपनी विशेषता है। इस कथा के इर्दगिर्द घूमनेवाला नाटक अपने आप में एक अलग अलग कलात्मक क्रिया कलाप नहीं है, बल्कि भारत के लोगों के लिए गहरा महत्व भी रखता है। इसकी बहुआयामी विशेषता और अभिव्यक्ति की अनेकता भारतीय समाज के सभी स्तरों पर देखी जा सकती है चाहे वह ग्रामीण हो, कस्बाई हो या नगरीय, ऐहिक हो या धार्मिक, पवित्र हो अथवा भ्रष्ट। इसका विस्तार गूढ़ पूजा और कर्मकांडों से लेकर अत्यंत साधारण कोटि के नुक्कड़ नाटक और सर्कस तथा कलाबाजी के रूपों तक मिलता है जहां हनुमान एक केंद्रीय पात्र होता है। यहां तक कि यह कथा वस्तुतः बहुत-से आदिवासी समाजों तक पहुंच चुकी है। कोई बस्ती, कोई गांव, कोई जिला या कोई नगर ऐसा नहीं जहां ये कथाएं न जानी जाती हों। यह शाश्वत, चिर नवीन कथा है जिसे हमेशा समकालीन अर्थवत्ता प्रदान की जा सकती है जो कि क्षणिक कलात्मक या नाटकीय अनुभवों से बहुत आगे की चीज है।

जब कोई व्यक्ति रामायण नाटक की बात करता है तो उससे क्या अभिप्राय होता है? गंगा या हिमालय की तरह राम और कृष्ण ने न केवल भारत के लोगों बल्कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के लोगों के जीवन और कला को आकार तथा रूप प्रदान किया है। दक्षिण-पूर्वी एशिया, केंद्रीय एशिया और चीन तथा यहां तक कि जापान तक इसका अद्भुत प्रसार कई सदियों से कला इतिहास की एक पहेली बना रहा है। इस कथा का प्रारंभिक रूप एक हजार ईसा पूर्व या 800 वर्ष ईसा पूर्व तक में मिलता है और निश्चय ही यह समय वाल्मीकि द्वारा रामायण के रचनाकाल से पहले का है। भारत, दक्षिण-पूर्वी एशिया, केंद्रीय एशिया, मंगोलिया, ईरान, चीन, जापान और श्रीलंका के विभिन्न भागों में वाल्मीकि से लेकर रामकथा के वर्तमान अर्थ विवेचन का इतिहास कई खंडों में लिखा जा सकता है। रचनात्मक कृतियां और ग्रंथालोचन तो इस मोहक कथा की व्यापकता का एक आयाम मात्र हैं। इस रामकथा के प्रति कलाकारों, शिल्पियों, काष्ठ उत्कीर्णकों, चित्रकारों, संगीतकारों और नर्तकों में भी समान रूप से अद्भुत लगाव रहा है। लगभग चौथी शताब्दी से लेकर आधुनिक युग तक भारत, इंडोनेशिया, कंबोडिया, थाईलैंड और बर्मा के मंदिरों की दीवारों पर रामकथा का प्रचुर चित्रण किया गया है। इनमें से अधिकतर का संबंध 9वीं शताब्दी से लेकर 13वीं शताब्दी के समय से है। भित्तिचित्रों, मरगोलों (स्क्रोल) आदि के चित्रकारों और यहां तक कि बुनकरों और कपड़ों की छपाई करने वालों के लिए भी रामकथा लगाव का विषय रही है।

इसलिए रामकथा का क्षेत्र व्यापक है और यह केवल साहित्यिक या रंगमंचीय परंपराओं तक सीमित नहीं है। इसके अतिरिक्त रामकथा के रंगमंच पर केवल साहित्य तथा कलाओं के विकास की पृष्ठभूमि में ही विचार नहीं किया जाना चाहिए,

बल्कि उस मूल्य प्रणाली की पृष्ठभूमि में भी जिसका यह प्रतिनिधित्व करती है। इस पर उन आदर्शों की पृष्ठभूमि में विचार किया जाना चाहिए जिन्हें यह कथा मानव आचरण के मानदंड के तौर पर व्यक्तियों के समक्ष प्रस्तुत करती है। चेतन अथवा अचेतन रूप से प्रत्येक पुरुष राम की तरह वीर और लक्ष्मण की तरह बलिदानी और त्यागी तथा हनुमान की तरह शांत, तटस्थ और निस्वार्थ भाव से निष्ठावान बनना चाहता है और प्रत्येक नारी सीता की तरह पतिव्रता तथा साहसी बनना चाहती है। कहानी के पात्रों की भारत, इंडोनेशिया, थाइलैंड और कंबोडिया तथा बहुत हद तक बर्मा में भी घर घर में चर्चा होती है।

इस क्षेत्र में साक्षर और निरक्षर के बीच सीमा निर्धारण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि अधिकतर निरक्षर दिखनेवाला व्यक्ति कहानी और उसके शब्दों की बेहतर जानकारी रखता है और उसके मूल्य की भी अधिक समझ रखता है, अपेक्षाकृत उस व्यक्ति के जो केवल बौद्धिक व्यायाम के तौर पर इसका अध्ययन करता है। खेत या कारखाने में काम करने वाला या गंदी बस्ती या दरिद्रालय में रहनेवाला व्यक्ति भी कहानी को उतना ही जानता है जितना कि कोई राजा या मंत्री। जीवन के गहरे संकट के क्षणों में जब चुनाव करने होते हैं और निर्णय लिये जाने होते हैं तो एशिया के निवासियों के मन में इस महाकाव्य और इसके साथ साथ महाभारत के पात्र मानव रूपधारी व्यक्तियों के रूप में प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक बनकर उभरते हैं। मिथक की बहुआयामी सार्थकता, उसकी अर्थवत्ता और रूप, एशियाई समाज की आत्मिक नियति का कई सदियों से संचालन करता चला आया है। कलाएं और रंगमंच जीवन के इस कारोबार के पहलू हैं और इन्हें जीवन की यथार्थता के अभिन्न अंगों के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि सामाजिक या नैतिक उद्देश्यों से रहित फुर्सत के समय के मनोरंजन के रूप में या मात्र ऐतिहासिक तथ्य के वर्णन के रूप में। इसमें यदि कोई ऐतिहासिकता है तो आत्मिक सरोकारों से उसका कोई संबंध नहीं है। इसमें मिथक की शक्ति ही मुग्ध करती है।

शुद्ध कलात्मक अर्थों में रामलीला या रामकथा अनेक तरीकों से और अनेक रूपों में पूरे भारत भर में दिखाई देती है। सरलतम और सबसे अधिक लोकप्रिय रूप कथा या कलाकार का है जो या तो शुद्ध कथा पाठ करता है या उसे गाकर सुनाता है। कथाकार से भारत के सभी भागों में रहनेवाले लोग परिचित हैं कभी उसे मात्र कथाकार या कभी राम-कथाकार या हरि-कथाकार कहा जाता है। वह एक व्यावसायिक गायक कलाकार होता है जो वाचक, गायक, संगीतकार, अभिनेता, वाद्यकार – सभी कुछ होता है। बहुत-से गांवों और ग्रामसमूहों में रामायण गान की परंपरा से नैतिक शिक्षण और कलात्मक संचार दोनों का संयुक्त उद्देश्य सिद्ध होता है। ऐसा माना जाता है कि इस कथा के सबसे पहले गायक और वाचक स्वयं लव और कुश थे।

एकल गायक को आधुनिक युग के एकल अभिनेता या सांस्कृतिक संचालक के बराबर माना जा सकता है, क्योंकि उसे इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है कि वह मूल पाठ में प्रक्षेपण कर सकता है या उसका भावानुवाद कर सकता है या वह उसे ऐसी समसामयिक प्रासंगिकता प्रदान कर सकता है जो वह उपयुक्त समझे। इस संबंध में एकल गायक या कथाकार की भूमिका, संस्कृत नाटक के सूत्रधार या कुटियट्टम और अन्य नृत्य नाटक रूपों के विदूषक की भूमिका के अधिक निकट है। कभी कभी कथाकार कथा सुनाता है तो कभी उसे नाटकीय रूप में प्रस्तुत करता है तो कभी गाता है या वाद्य बजाता है। वह मुक्त रूप से समसामयिक स्थितियों पर टिप्पणी करता है जैसे केरल में कुटियट्टम का 'तोलन'; उसकी टिप्पणी का स्तर, उसकी पृष्ठभूमि या प्रशिक्षण और उन श्रोताओं पर निर्भर करता है जिन्हें वह संबोधित करता है।

कथाकार या गाथा गायक निस्संदेह रंगमंच के चरित्र अभिनेता का अग्रदूत था। वह परंपरा न केवल गांवों में जीवित है, बल्कि पूरे भारत के नगर केंद्रों में भी बनी हुई है।

प्रत्येक क्षेत्र में गाथा गायन और कथावाचन सत्रों का अपना अपना विशेष रूप होता है। गायक एक एकल-अभिनेता है जो कथा सुनाता है, गाता है, अभिनय करता है और कहानी का अर्थ विवेचन करता है। ऐसा करते समय कभी तो उसके हाथ में पुस्तक होती है और कई बार नहीं भी होती। रामायण या रामकथा एकल गायक अभिनेता के रंगपटल का एक अनिवार्य अंग होती है। यद्यपि, भारत के कुछ क्षेत्रों में इसका स्थान अब अन्य लोक कथाओं और कहानियों ने ले लिया है जो कि पौराणिक से लेकर वीर कथाओं तक हो सकती है। आज के युग में इसका स्थान, सामाजिक और राजनैतिक व्यंग्य ने भी ले लिया है।

गाथा गायन का एक रूप जो 'दसकाठिया' कहलाता है, ओड़िसा में पाया जाता है। इसके नाम की उत्पत्ति काष्ठ लोलकों से हुई है जो साथ बजाये जानेवाले एक मात्र संगीत यंत्र होते हैं जिन्हें 'दसकाठी' या 'रामताली' कहते हैं। गाथा गायन के विषय महाभारत और रामायण से लिये जाते हैं। इसमें प्रयोग किया जानेवाला पाठ, ओड़िया भाषा के ग्रंथ विचित्र रामायण से होता है। गाथा गायक रामायण के अन्य ओड़िआ रूपांतरों जैसे रामदास द्वारा रचित रामायण तथा दण्डी रामायण का प्रयोग भी करते हैं। सीता के जन्म की कथा थाईलैंड तथा मलेशियाई वृतांतों से मिलती जुलती है जिसमें उसे रावण द्वारा निष्कासित बताया गया है। इन सभी रूपांतरों का रचनाकाल 16वीं शताब्दी है और इसमें आमतौर पर नये प्रक्षेपण किये जाते रहे हैं। गाथा गायक जो छंद इस्तेमाल करता है वे छंद, 'चौतीसा' और 'चौपदी' के नाम से जाने जाते हैं और रचनाएं कुछ भारतीय प्रणालियों से निबद्ध होती हैं जो 'लव' और 'वृत्त' कहलाती हैं।

आंध्र प्रदेश में एक और प्रकार का गाथागायन प्रचलित है जो 'बुर्रकथा' कहलाता है। यह भी एक ऐसी कथा होती है जिसे एकल अभिनेता या तीन गायकों का समूह प्रस्तुत करता है। इस कथा पाठ की विशेषता है कथा का सशक्त सीधा प्रस्तुतिकरण। रंगमहल में अनिवार्य रूप से रामायण का गायन अवश्य शामिल होता है जो इस कथा गायन में तेलुगु रूपांतर होता है जिसे द्विपद रामायण या रंगनाथ रामायण कहते हैं जो 12वीं शताब्दी की रचना है। द्विपद रामायण का नामकरण उसमें प्रयोग की गयी छंद रचना से लिया गया है। इसमें और वाल्मीकि रामायण में कई भिन्नताएं मिलती हैं। लक्ष्मण का चरित्र यहां अत्यंत महत्वपूर्ण रूप धारण कर लेता है। राम वनवास के समय वह दो वर मांगता है। पहला, बनवास की चौदह वर्ष की अवधि के लिए अपनी पत्नी उर्मिला के लिए निद्रा और दूसरा, अपने लिए 14 वर्ष तक की लगातार सतर्कता और जागरण। उसके द्वारा मांगे गये दोनों वर पूरे होते हैं। अन्य विवरण में लक्ष्मण को राम की खोज में निकलने से पहले सीता के इर्दगिर्द एक रेखा की बजाय सात रेखाएं खींचते हुए बताया है। उसी विवरण में रावण के पुत्र इंद्रजीत और उसकी पत्नी सुलोचना का भी विशद वर्णन मिलता है। अन्य भारतीय कथाओं में इंद्रजीत एक अवयस्क पात्र है। यद्यपि दक्षिण-पूर्वी एशियाई कथाओं में उसका अत्यंत महत्वपूर्व स्थान है। रंगनाथ को तेलुगु रामायण से जावा और मलेशियाई रामायण कथाओं के अनेक प्रसंगों के स्रोत मिल जाते हैं।

भारत के अन्य भागों में भी इसी प्रकार के कथावाचन, गायन और एकल अभिनय की परंपराएं विद्यमान हैं, जिनमें से प्रत्येक का स्रोत, महाकाव्य के क्षेत्र विशेष के कथा रूप हैं। मैसूर के वीरागसे गाथा गायक, 16वीं शताब्दी के कन्नड़ रामायण का प्रयोग करते हैं : कभी कभी पम्प रामायण का भी। केरल के गाथा गायक या तो अध्यात्म रामायण के मलयालम रूपांतर का प्रयोग करते हैं या फिर आमतौर पर चंपु रामायण के पाठ का। वह कथकलि के लिए पाठ के रूप में प्रयोग किये जाने वाले रामनाट्टम का शायद ही कभी प्रयोग करता हो। तमिल कथावाचक 9वीं या 12वीं शताब्दी के कंबन रामायण का अधिकतर आश्रय लेते हैं जो कि भरतनाट्यम में रामायण के सामयिक रूपों का भी आधार है। दिलचस्प बात तो यह है कि रामायण के इर्दगिर्द घूमने वाले केरल के छाया मंच का भी आधार है। बंगाली गाथा गायक कृत्तिवास रामायण का प्रयोग करते हैं जो कि थाई और बर्मी रूपों से मिलता जुलता है। यद्यपि कश्मीर में रामायण गान का प्रचलन नहीं रहा, फिर भी इस शताब्दी की चार दशाब्दियों तक कश्मीर में इस महाकाव्य का 18वीं शताब्दी का कश्मीरी रूपांतर लोकप्रिय था। किंतु अब तक बताये गये रामायण के सभी पाठांतरों में से तुलसी का हिंदी भाषा में पाठांतर सबसे महत्वपूर्ण है जिसका उत्तर भारत के सभी भागों में पाठ किया जाता है और उसे गाया या अभिनीत किया जाता है। वाराणसी की रामलीला और उत्तर भारत के प्रत्येक गांव और नगर में अक्तूबर-नवंबर मास में वृत्त नाटकों और शोभायात्रा नाटकों के विभिन्न प्रकार तुलसीदास के रामचरित मानस पाठ का अनुकरण करते हैं।

छाया रंगमंच और कठपुतली रंगमंच के रूप में

सभी प्रकार के छाया रंगमंच और कठपुतली रंगमंच के सभी रूप – छड़, दस्ताना और पुतली – भारत में सक्रिय हैं। इंडोनेशिया, मलेशिया, कंबोडिया अथवा थाईलैंड के वयंग कुलित या नांग स्वेक या नांग याई के छाया रंगमंच की सामयिक परंपराओं की तुलना में परिमार्जन और परिष्कार की दृष्टि से तो उससे पिछड़ा हुआ हैं किंतु विविधता और ओजस्विता में

उससे कहीं बढ़कर है। वयंग गोलक किस्म की छड़ कठपुतलियां और बर्मी प्रकार की पुतलियां भारत के विभिन्न भागों में पाई जाती हैं। कथा,पाठ,गायन,वाद्य संगीत और प्रस्तुतिकरण के रूप की असंख्य क्षेत्रीय विविषताओं के साथ रामायण या रामकथा भारत के छाया और कठपुतली रंगमंच पर भी छाई रही है। वस्तुतः रूपों की ओजस्विता इतनी अधिक पाई गयी है कि सामयिक नृत्य निर्देशक उनका प्रयोग आधुनिक विषयवस्तुओं के चित्रण के लिए अभी तक इस्तेमाल करते चले आ रहे हैं।

ओड़िसा में छाया रंगमंच 'रावण छाया' कहलाता है। कठपुतलियां छोटी और अनरंगे चर्म और चमड़े को काटकर बनायी गयी होती हैं और वे छायाचित्र और पार्श्व छायाचित्र प्रक्षेपित करती हैं। यद्यपि उनके अंग स्वतंत्र रूप से स्पष्ट नहीं होते,फिर भी चालकों की अत्यधिक कुशलता के कारण अत्यंत प्रभावशाली होते हैं। 'दासकठिया' के गाथा गायक या इंडोनेशियाई वयंग कुलित के 'दालांग' का प्रतिरूप ही वाचक कठपुतली चालक या रावण छाया है। वह एक बहु-धंधी कलाकार भी होता है जो छोटे-से पर्दे के पीछे गाने,कठपुतली चालन और नृत्य करने जैसे सभी काम करता है। इस्तेमाल किया जाने वाला पाठ,'दासकठिया' की भांति ओड़िआ विचित्र रामायण से किया जाता है।

थोलु बोमलट्टम,जिसका अर्थ है चर्म कठपुतली नृत्य,आंध्रप्रदेश की बुर्रकथा की बड़ी बड़ी रंगीन कठपुतलियों के माध्यम से दृश्य रूप में प्रदर्शन है। नाटकों का पाठ,तेलुगु रामायण पाठांतर से लिया जाता है। कठपुतलियों का रूप विजयनगर युग के मध्यकालीन भित्तिचित्रों से मिलता जुलता है। छायाएं दीर्घकायिक होती हैं जिनकी तुलना नांग स्वेक से भली भांति की जा सकती है।

कर्नाटक छाया रंगमंच (जिसे शाब्दिक रूप में चर्म पुतली नृत्य कहा जाता है) कन्नड़ रामायण का दृश्य रूप में एक और प्रस्तुतिकरण है। इसमें कठपुतलियां उतनी बड़ी नहीं होतीं जितनी कि आंध्रप्रदेश के बोमलट्टम में होती हैं। कभी कभी तो केवल एक कठपुतली के जरिये पूरा दृश्य एक स्थिर चित्र प्रस्तुत करता है। स्थिर चित्र और अकेली कठपुतलियां गतिमान नाटकीय दृश्यों के बीच एक कड़ी के तौर पर इस्तेमाल की जाती हैं जिससे दृश्यों के बीच आसानी से परिवर्तन संभव हो पाता है। रामकथा के इर्दगिर्द घूमने वाला कर्नाटक का छाया रंगमंच कठपुतलियों के जरिए पेश किये जाने वाले रामनाटक से निकट संबंध रखता है। कठपुतलियों के नाटक यक्षगान से मिलते जुलते हैं और पुतली रंगमंच वस्तुतः सभी क्षेत्रों में सजीव रंगमंच का दूसरा पहलू है। गाथा गायन,छाया तथा पुतली रंगमंच और सजीव रंगमंच एकदूसरे से निकट का संबंध रखते हैं और इनमें शैलियों के पारस्परिक प्रभाव और आदान-प्रदान काफी होते रहते हैं। एक समान कथा पाठ और लगभग एक जैसी सांगीतिक संगतियां तथा वेशभूषा,सज्जा तथा चेहरे का बनाव-श्रृंगार उसे स्पष्ट क्षेत्रीय विशेषता प्रदान करते हैं। केरल और तमिलनाडु के भी अपने अपने छाया तथा कठपुतली रंगमंच होते हैं। केरल का थोलापावु कूथु (चर्म पुतली नाटक) नामक छाया रंगमंच रामकथा का आवर्ती प्रस्तुतिकरण होता है। इसके साथ साथ कंबन रामायण की कविता का पाठ तथा गायन चलता है। वास्तविक प्रदर्शन से पहले एक विस्तृत अनुष्ठान किया जाता है। तमिलनाडु के कठपुतली नाटक में भी कंबन रामायण या अन्य लोक पाठांतरों का अनुसरण किया जाता है।

यहां पर उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस अध्ययन में प्रत्येक रूप के विश्लेषण और भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य भागों में विद्यमान रूपों के साथ उसकी तुलना प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस संक्षिप्त विवरण से ही भारतीय प्रदर्शनकारी कलाओं की परंपराओं का विवेकी प्रेक्षक इस बात का कायल हो जायेगा कि रामायण की कथा बहुत-से रूपों और शैलियों में जीवित और स्पंदित है।

हालांकि गाथा गायकों,छाया तथा कठपुतली रंगमंच का संबंध ग्रामीण भारत और मौखिक परंपराओं से है,रामायण रंगमंच के कुछ अलग पहलू भी हैं जिनका निकट संबंध साहित्यिक विकास से है। यह रंगमंच भारतीय सांस्कृतिक प्रपंच का एक और ऐसा उदाहरण है जहां सामाजिक,आर्थिक स्तरों और बाधाओं को लांघकर परिष्कृत और प्रतीयमान रूप से अपरिष्कृत सभी विधाएं शब्द के पाठ तथा गायन द्वारा परस्पर जुड़ी हुई हैं। रंगमंच के माध्यम से समाज के विभिन्न स्तरों और कला की विभिन्न विधाओं के बीच निरंतर एक संवाद चलता रहता है। उत्तर भारत में रामलीला एक ऐसी महत्वपूर्ण रंगमंचीय शैली है जिसके द्वारा दशहरे के अवसर पर 16-20 दिन तक जवान और बूढ़े,अमीर और गरीब सभी को एक साथ

मानव जीवन की इस विशाल शोभा यात्रा को देखने का अवसर मिल पाता है। नाटकीय दृश्य हर एक स्थान पर अलग अलग होता है, किंतु उसमें दो तत्व समान रहते हैं। पहला तो है विषयवस्तु, जो कुल मिलाकर तुलसीदास के रामचरितमानस से ली जाती है (हो सकता है कि उसमें थोड़ा-सा या कहीं कहीं स्पष्ट परिवर्तन हो) और दूसरा है झांकी जैसा ढांचा जिसमें व्यक्ति एक स्थिर चित्र से दूसरे स्थिर चित्र की ओर बढ़ता है। विद्वानों का यह मत है कि वाल्मीकि ने लव और कुश द्वारा रामायण का गायन करवाकर पहले नाटकीय दृश्य का सूत्रपात किया। यद्यपि लव और कुश कथाकारों के पूर्वगामी भले ही रहे हों, किंतु यह संभव प्रतीत नहीं होता कि जो आज लीला विधाएं कहलाती हैं उनका मूल भी वाल्मीकि रामायण में ढूंढ़ा जा सके।

लीला विधाओं के इतिहास का पता लगाने के लिए प्राचीन काल के संस्कृत साहित्य पर नये सिरे से दृष्टिपात करना आवश्यक होगा। अपभ्रंश साहित्य, मैथिली के प्रारंभिक काल में और सांगला नाटक (जो कि नेपाल तथा असम में प्रचलित है) की परंपराओं में हुए विकास की पड़ताल करने की आवश्यकता भी पड़ सकती है।

इससे पहले एक अध्याय में हमने 10वीं-11वीं शताब्दी में उपरूपकों के विकास का उल्लेख किया है और यह बताया है कि शारदातनय और भोज की कृतियों में उन्हें कितना महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। हमने इस बात का भी उल्लेख किया है कि संस्कृत नाट्य परंपराओं ने एक ऐसी विधा को जन्म दिया जो संगीतिका नाम से जानी जाती है। राजशेखर की कर्पूरमंजरी इस नये विकास का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत करती है और लेखक ने अपने नाटक को ठीक ही 'सट्टक' कहा है। इन मध्यकालीन विकासों के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय भाषाओं में उन छंद विधाओं का आविर्भाव हुआ जिनका उल्लेख हम कुटियट्टम, भागवतमेला और यक्षगान आदि से संबंधित अपनी चर्चा के संदर्भ में पहले कर चुके हैं। साहित्यिक विकासों की मुख्य विशेषताएं यह थीं कि नयी नाटकीय विधाओं का आविर्भाव हुआ और विशिष्ट क्षेत्रीय छंदों का प्रयोग किया जाने लगा। उत्तर भारत के पूर्वी क्षेत्रों में संगीतिका के अतिरिक्त जैन और हिंदू दोनों परंपराओं में अपभ्रंश नाटक था। इसमें भी संगीत और नृत्य की महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी। रचना की एक अन्य विधा का भी अत्यंत महत्वपूर्ण विकास हुआ जो कि बंगाल 'चर्यागीति' कहलाई। संभवत: चर्यागीति ही कुछ हद तक जयदेव के गीत गोविंद का आदर्श बनी। गीत गोविंद पर रहस्यवादी प्रभाव था, किंतु इसमें रंगमंचीय और नाटकीय प्रस्तुतिकरण की विपुल संभावनाएं थीं। इसके ऐंद्रिय रूप के कारण यह तुरंत लोकप्रिय हो गयी और इसका व्यापक प्रभाव पड़ा, उमापति और विद्यापति जयदेव के पदचिह्नों पर चले। भारत के विभिन्न भागों में गाये और पाठ किये जाने वाले काव्य रूप प्रचलित हो गये। पंद्रहवीं वीं और 16वीं शताब्दी में दो अन्य वैष्णव कवियों और संतों का आविर्भाव हुआ जिनका नाम चंडीदास और चैतन्य है जिन्होंने न केवल कृष्णकथा को लोकप्रिय बनाने में प्रचुर योगदान दिया बल्कि उन्होंने ऐसे रंगमंचीय रूपों के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया जिसकी जड़ें आगे चलकर पूरे मध्यकालीन भारत में गहरी हो गयीं।

जबकि भारत के अन्य भागों में रामकथा के नाटक मंदिर, मंदिर प्रांगण, गांव के मैदान और गलियों में खेले जा रहे थे, उत्तर भारत में एक अन्य विधा का विकास हुआ जिसका उल्लेख कुछ आलोचकों ने शृंखला नाटकों के रूप में किया है। इस नाटक शैली का वर्णन संभवत: शृंखला नाटक के रूप में ही किया जा सकता है। इसे उत्तर भारत में मोटे तौर पर लीलाओं के रूप में देखा जाता था और अब भी देखा जाता है, किंतु इसका गहराई से विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि प्रारंभिक युग में चमत्कार और रहस्य नाटकों, जैसे शृंखला नाटक और राम या कृष्ण के जीवन के इर्दगिर्द घूमने वाले नाटकों (जिन्हें लीलाएं कहा जाता है) और प्रारंभिक ईसाई मत के शृंखला नाटकों के बीच कोई भी समान तत्व नहीं है।

लीलाओं का भारतीय चिंतन और साहित्य में एक लंबा इतिहास है। रहस्यवाद और ब्रह्मविज्ञान की दृष्टि से लीला की कल्पना उस सत्ता के अनेक रूपों की द्योतक है जो अपनी चरम विश्लेषणात्मक स्थिति में परारूप अथवा अरूप है। फिर यदि उनका स्वरूप आवृत्ति मूलक अथवा शृंखलापरक है तो उसके पीछे विशेष उद्देश्य है। पुनरावृत्ति द्वारा इसकी मूल धारणा संप्रेषित होती है और वह मूल धारणा यह है कि रूपों की अनेकता अंतत: एक स्थिर केंद्र में लीन हो जाती है जो कि अमूर्त होता है। साहित्य में इसने कई शैलियों को जन्म दिया जिनमें वे शैलियां भी शामिल हैं जिनके अंतर्गत किसी अमूर्त विचारधारा को मूर्त रूप में संप्रेषित करने के लिए अवतारों के विभिन्न जीवन प्रसंगों का वर्णन किया गया है।

साहित्यिक पद्धति ने व्याप्त होकर प्रारंभिक नाटक के महाकाव्यात्मक ढांचे के रूप में परिवर्तन किया। आख्यान निरंतर

कथा के माध्यम से नहीं चलता था बल्कि किसी अवतार विशेष के इर्दगिर्द घूमनेवाले विभिन्न प्रसंगों द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। आगे चलकर दशावतार की संकल्पना और प्रबंध विधा जिसे जयदेव ने पराकाष्ठा तक पहुंचाया, संभवतः इसी का स्वाभाविक विकसित रूप था। उत्तर-पूर्व और पश्चिम भारत में रंगमंच के क्षेत्र में लीलाओं की दो स्पष्ट परंपराएं उभर कर आईं। पहली का संबंध पश्चिम में स्थित सौराष्ट्र, गुजरात और महाराष्ट्र के कुछ भाग से था और दूसरी का संबंध उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बिहार और बंगाल से था। जबकि गुजरात और सौराष्ट्र में कृष्णकथा समाज के सभी स्तरों के लोगों की कल्पना पर छा गयी, उत्तरप्रदेश और बिहार में कृष्ण और रामकथाएं दोनों ही विशेषकर रामकथा लोकप्रिय हुई। किंतु कृष्णकथा भी अत्यंत लोकप्रिय हुई जैसा कि मथुरा और वृंदावन में आज तक यह बहुत प्रचलित है।

आधुनिक उत्तरप्रदेश में लीलाओं की दो परंपराएं विकसित हो रही हैं जिनमें से एक कृष्णलीला अथवा रासलीला कहलाती है और दूसरी रामलीला।

लगभग हर नगर और ग्राम में शरद् काल का आगमन न केवल फसल की कटाई के मौसम के रूप में मनाया जाता है बल्कि राम के जीवन की याद ताजा करने के लिए भी मनाया जाता है। राम के जीवन का प्रस्तुतिकरण कई दिनों तक चलता है और इसे हमेशा शृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाता है और हर प्रसंग एक एक रात प्रस्तुत किया जाता है, जिसका समापन समारोह रावण का पुतला जलाकर किया जाता है। हिंदीभाषी क्षेत्र में रामायण की परंपराओं में विपुल वैविध्य मिलता है। ऊपरी तौर पर देखने से यह धारणा बनती है कि वे सभी मुख्य रूप से तुलसी रामायण का अनुसरण करते हैं, किंतु नजदीक से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी की रामायण को आधार बनाकर रामायण का स्थानीय पाठांतर गाया जाता है। ये सभी पाठांतर 16वीं शताब्दी के बाद के हैं। कुमाऊं के पहाड़ी इलाकों के अपने पाठांतर हैं जबकि मध्यप्रदेश के भीतरी इलाकों और राजस्थान के लोग अन्य पाठांतरों का अनुसरण करते हैं। इस अध्ययन में उन विभिन्न रामायण पाठांतरों का नाम गिनाना भी असंभव होगा जो हिंदीभाषी क्षेत्र के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। यहां तक कि इस क्षेत्र में प्रचलित मौखिक परंपराओं से साहित्यिक पाठांतरों की अलग पहचान करना भी असंभव होगा।

नाटकीय अर्थों में कलात्मक रूप से सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सबसे अधिक भव्य वाराणसी में मंचित की जाने वाली रामायण है। वाराणसी या रामनगर की रामायण एक ऐसा समारोह है जो न केवल दूसरी लीलाओं की तरह शृंखला नाटक है बल्कि इसके स्थल में भी परिवर्तन होता रहता है। बर्मा में एक नाट्य परंपरा है जिसे निभतकिन कहते हैं और जिसके अंतर्गत झांकियों के माध्यम से बैलगाड़ियों पर शोभायात्रा निकाली जाती है। दूसरे देशों में भी इस प्रकार की परंपराएं हैं।

वाराणसी रामलीला का स्रोत, संभवतः रामनगर के वर्तमान महाराजा के पूर्वजों से ढूंढ़ा जा सकता है जिन्होंने इस नाटकीय प्रदर्शन को संरक्षण प्रदान किया। तुलसी की रामायण पर पूरी तरह से आधारित होने के कारण यह स्पष्ट है कि इसका स्रोत 16वीं शताब्दी से पहले नहीं ढूंढ़ा जा सकता। लघु चित्रों और ब्रज तथा अवधी कविता के कुछ भागों में जो साक्ष्य मिलता है उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शृंखला नाटक के रूप में रामायण 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और 17वीं शताब्दी के प्रारंभ में बहुत लोकप्रिय थी। वाराणसी, राजस्थान और गुजरात में रामायण चित्रों के छह से अधिक पूरे सेट पाये गये हैं। वे वाराणसी में आज दिखाई देने वाले नाटक और उस नाटक के बीच घनिष्ठ संबंध को दर्शाता है जो 16वीं और 17वीं शताब्दी में खेला जाता रहा होगा। चल रंगमंच की परिवर्तनशीलता विभिन्न क्षेत्रों में अंकित चित्रों में प्रस्तुत की गयी है जिनमें से प्रत्येक में विशेष प्रसंग को अंकित किया गया है। इस प्रकार का प्रस्तुतिकरण शुद्ध स्थायी झांकी से एक कदम आगे है। चित्र का स्थायी झांकी रूप एक घटनास्थल से दूसरे घटनास्थल पर चले जाने के कारण गतिमान हो उठता है।

इससे पहले कि हम प्रदर्शन का उल्लेख करें, आइए पहले उस पर्यावरण और समाज के स्तर का अवलोकन करें जिसमें ये लोकप्रिय हैं। अब हमारा संबंध यक्षगान के भागवतरों और आंध्रप्रदेश के भागवतलुओं से नहीं रह जाता और न ही छऊ विधाओं के भूमिजों, मुराओं और डोमों से। वाराणसी में नागरिक हिंदू समाज ही सामूहिक सामुदायिक प्रयास के तौर पर रामायण खेलता है। तैयारियों में सभी वर्गों और जातियों के लोग सहयोग देते हैं, किंतु समाज और समुदाय के विभिन्न वर्गों की अलग स्पष्ट भूमिकाएं निर्धारित की जाती हैं। इसके संरक्षक आज भी स्थानीय राजा हैं और वाराणसी के वर्तमान महाराजा व्यक्तिगत रूप से सभी तैयारियों के लिए निर्देश देते हैं और मार्गदर्शन करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि अभिनेता अनिवार्य

रूप से ब्राह्मण हों या किसी विशेष जाति से चुने हुए लोग हों। उनकी एकमात्र योग्यता यह है कि नायकों और नायिकाओं की, विशेषकर राम, लक्ष्मण और सीता की भूमिकाएं 14 वर्ष से कम आयु के किशोरों द्वारा निभाई जानी चाहिए। वस्तुतः यह एक ऐसी बात है जो भारत के सभी लीला रूपों में समान है। देवताओं की भूमिका निभाने के लिए 14 वर्ष से कम आयु के किशोरों को चुना जाता है। केवल मणिपुर में रासलीलाओं में ये भूमिकाएं लड़कों की बजाय 14 वर्ष से कम आयु की लड़कियों द्वारा निभाई जाती है। दोनों स्थितियों में संदेश स्पष्ट है और वह यह कि भोलापन, कौमार्य और ब्रह्मचर्य किसी भी अभिनेता नर्तक, अभिनेत्री नर्तकी के लिए ईश्वर के चरित्र को प्रस्तुत करने के लिए अनिवार्य पूर्व अपेक्षाएं हैं। हम यह भी देखते हैं कि इस प्रकार शुद्ध रूप से धार्मिक तथा धर्म निरपेक्ष दोनों ही तत्व एक-दूसरे के निकट आ जाते हैं। यद्यपि यहां कोई समुदाय सीमा रेखा या वंश परंपरा नहीं चलती, फिर भी उन व्यक्तियों को चुनने की एक निश्चित प्रणाली है जो प्रतिष्ठित और अभिषिक्त देवताओं की भूमिका निभाते हैं। अन्य पात्रों जैसे संगीतकारों, नर्तकों, उद्घोषकों और वाचकों आदि का चुनाव उनकी उपयुक्तता और कुशलता के आधार पर किया जाता है। समय के साथ साथ कुछ लोगों ने विशेष पात्रों की भूमिकाओं में विशिष्टता प्राप्त करनी प्रारंभ कर दी। इस प्रकार का विशेष समुदाय का रावण या विशेष समुदाय का विभीषण या विशेष समुदाय का दशरथ होता है। किशोरों के बड़े होने के साथ साथ राम, सीता और लक्ष्मण की भूमिकाओं को हर दो या तीन वर्ष के बाद बदला जाता है। एशिया के बहुत-से अन्य भागों में भी रामायण के प्रस्तुतिकरण में यह तत्व समान है। इंडोनेशिया के लगभग सभी क्षेत्रों में राम, लक्ष्मण और सीता की भूमिका निभाने के लिए किशोर लड़कों या लड़कियों की परंपरा चली आ रही है। यद्यपि दूसरे पात्रों की भूमिकाएं उन लोगों द्वारा निभाई जाती रहती हैं जो कई वर्षों से भूमिकाएं निभाये चले आते हैं। वाराणसी और भारत तथा एशिया के अन्य भागों में ये अभिनेता भागवत या छऊ नर्तकों की तरह व्यावसायिक नहीं होते। वे अनिवार्य रूप से शौकिया होते हैं जो दूसरे पेशे और कार्य करते हैं। यह पर्यावरण ग्रामीण तथा नगरीय दोनों प्रकार का होता है जिसमें बहुत-से व्यवसायों और पेशों का प्रतिनिधित्व होता है।

दशहरा से दस दिन पहले मुख्य अभिनेता के शरीर पर विलेपन किया जाता है और उसे सजाया जाता है और जब उसके माथे पर तिलक लगाकर अंतिम अनुष्ठान पूरा किया जाता है तो उसे भगवान अभिषिक्त किया जाता है। जितने समय उस पर यह हल्का और परिष्कृत प्रसाधन रहता है उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयं को मनुष्य मात्र से देवता के अवतार रूप में परिणित कर ले। संभवतः उसका प्रसाधन ऐसा करने में सहायक होता है। क्योंकि आटे की झीनी-सी परत रहती है और उस पर कटी हुई पन्नी की चित्रकारी होती है जो उसे उस देवता के चित्रों और रेखांकनों की याद दिलाते हैं। उनकी भवें और आंखें मूर्तिवत हो जाती हैं। इस पात्र के साथ ऐहिकता जुड़ी हुई नहीं है। लक्ष्मण और सीता भी उसी तरह से मानव रूप में अवतार माने जाते हैं। अभिषेक संबंधी अनुष्ठान पूरे हो जाने पर अभिषिक्त अभिनेता को वास्तविक प्रदर्शन से काफी पहले अपने को कड़े अनुशासन में ढाल लेना पड़ता है।

जैसा कि पहले कहा गया है, वाराणसी रामायण लगभग हू ब हू रामचरितमानस के पाठ का अनुसरण करती है। प्रमुख रूप से यह गायी जाने वाली रामायण के अभिनेता, महान नर्तकों की बजाय अच्छे कथागायक, वक्तृता निपुण और स्वांगिया होते हैं। चुने गये प्रसंग दशरथ के प्रारंभिक जीवन को प्रस्तुत नहीं करते बल्कि राम के जन्म से प्रारंभ होते हैं। पूरे प्रदर्शन में राम के ईश्वर अवतार पर भी बल रहता है। प्रत्येक प्रसंग, नगर के अलग अलग स्थान पर प्रस्तुत किया जाता है जिनमें से एक खंड को अयोध्या के प्रासाद का रूप दे दिया जाता है, दूसरे को किष्किंधा के वन का; तीसरे को लंका का, चौथे को मिथिला का आदि। दस या बारह दिन जब तक नाटक चलता है पूरा स्थान राम, लक्ष्मण और सीता तथा रावण की दुनिया का रूप धारण कर लेता है और नगर में कोई भी व्यक्ति किसी इलाके का उल्लेख उसके सामान्य नाम से नहीं करता। जिस प्रदर्शन में दस से पंद्रह दिन तक पूरा समुदाय पूर्ण रूप से निमग्न रहे, स्वाभाविक है कि मनोरंजक पहलुओं के अलावा उसका सामाजिक आयाम भी होगा। जब नगर अन्य युग के स्थलों में बदल जाता है तो उसके माध्यम से नागरिकों के बीच एक घनिष्ठ भातृ भाव उत्पन्न हो जाता है। समाज के सभी सदस्यों का तादात्म्य उस युग और उन दूसरे नगरों और स्थलों के साथ हो जाता है जिनका संबंध रामायण से था, न कि आधुनिक वाराणसी के साथ। ऐतिहासिक कालों को सामयिकता के साथ जोड़ने की युक्ति भारत के बहुत-से रंगमंचीय प्रकारों में प्रचलित है। किंतु प्रत्येक क्षेत्र में अलग अलग युक्ति का प्रयोग किया

जाता है। हमने यह देखा कि भागवतमेला परंपरा में विदूषक, भूत को वर्तमान से जोड़ने का काम करता है; रामलीला में स्वयं स्थान ही जोड़ने वाली कड़ी बन जाता है।

नगर के प्रत्येक खंड में मंच तैयार किये जाते हैं या यथास्थिति गलियों, चबूतरों या उद्यानों, महलों, जंगलों और नदियों में बदल दिया जाता है। पूरा नगर प्रदर्शन के लिए मंच या रंगभूमि बन जाता है। पश्चिमी संदर्भ में काल और स्थान के विस्तार की दृष्टि से एकताएं यहां पर पूर्णतः अप्रासंगिक हैं। सामयिक रूप अग्रसर रंगमंच की घटनाओं को इस प्रकार के स्थल परिवर्तनों के नमूनों में अपने श्रेष्ठ आदर्श मिलते हैं। नाटक घटनाक्रम के अनुसार दिन प्रतिदिन आगे बढ़ता है और श्रोतागण उसके साथ साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को चलते रहते हैं। स्वाभाविक है कि राम सदा विद्यमान रहते हैं। इसलिए जिन प्रसंगों में वे व्यक्तिगत रूप से प्रकट नहीं होते वहां ईश्वर अवतार रूप में बीच में आकर श्रोताओं को यह याद दिलाते हैं कि जो भव्य दृश्य वे देख रहे हैं वह केवल उसके व्यक्त रूपों में से मात्र एक रूप है। श्रोता सांसारिक काल से उठकर एक नितांत भिन्न आयाम में पहुंच जाते हैं। अविश्वास की स्वेच्छापूर्ण अवस्था का इससे बेहतर उदाहरण मुश्किल से मिलेगा।

इस नाटक की अन्य विशेषता यह है कि कथा पाठ गाजे बाजे के साथ और गाकर किया जाता है जिसका निर्देशन मुख्य वाचक व्यास द्वारा किया जाता है। वह कथाकार का अगला रूप है जो भारत के सभी भागों में सर्वज्ञात है, किंतु उसमें गहरा विवेक और स्वनिर्णय भी होना चाहिए ताकि प्रसंग गड्डमड्ड न हो जाये और किसी एक विशेष दिन प्रस्तुत किये गये एक प्रसंग और उसके बाद आने वाले प्रसंग में तारतम्य बना रहे, क्योंकि पाठ इतना महत्वपूर्ण होता है कि इसमें किसी शब्द का किसी गीत के साथ या शब्द, ध्वनि और मुद्रा के बीच परस्पर संबंध नहीं होता जो कि अत्यधिक विकसित दक्षिण भारतीय रूपों की विशेषता है। फिर भी कथापाठ, कथागायन और वाचन में बहुत बड़ी विविधता मिलती है। तुलसीदास की चौपाइयों और सोरठे तेलुगु और कन्नड़ कविता के चंपु रूपों की तरह हैं। उनका छंदबद्ध वाचन किया जा सकता है या उन्हें संगीतात्मक ध्वनि प्रदान की जा सकती है। श्रोता प्रायः वाचक संगीतकार, जो कि एक प्रसंग को दूसरे के साथ जोड़ता चला जाता है, के कौशल मात्र से ही वशीभूत हो जाते हैं। अभिनेता अपनी जगह तुलसी के रामचरितमानस के सुप्रशिक्षित पाठक होते हैं और अपने कथापाठ को अच्छी तरह से जानते हैं। प्रसंगों को विशेष रूप से सावधानीपूर्वक चुना जाता है क्योंकि पूरे रामचरितमानस का पाठ करना असंभव होगा। आजकल विभिन्न गोस्वामी या व्यास, पाठ से अलग अलग प्रसंग चुनते हैं। जाहिर है, जैसा कि तात्कालिक संभाषण हमने यक्षगान में देखा उसकी गुंजाइश यहां नहीं है; यद्यपि उन प्रसंगों में कुछ तात्कालिक संभाषण के प्रमाण मिलते हैं – जहां राम-रावण या बाली-सुग्रीव का युद्ध होता है या जहां कुंभकर्ण लंबी नींद से जागता है।

तुलसीदास ने अपने राम को एक भ्रमातीत व्यक्ति के रूप में देखा जो कभी कोई गलतियां नहीं कर सकता और इस प्रकार उसका हर कार्य उचित है। वाराणसी की रामलीला इसी निर्वचन का पूर्णतः पालन करती है। भरत के अयोध्या लौटने, रावण द्वारा सीता के हरण और बाली तथा सुग्रीव के बीच संघर्ष और अंततः रावण के मित्रों द्वारा अपनाए गये रुख का निर्वचन भारत के अलग अलग भागों में अलग अलग ढंग से किया जाता है। इस प्रकार उन्हीं पात्रों का अलग अलग निर्वचन किया जाता है। उदाहरण के तौर पर, पुरुलिया छऊ से भिन्न वाराणसी की सीता भारतीय नारीत्व की आदर्श प्रतीक है जो कि अत्यंत धैर्यवान है और संदेह के कारण उसे देश निकाला दे दिया जाता है। इसके विपरीत रामायण के लोक पाठांतरों में उसे अधिक मानवीय पात्र के तौर पर प्रस्तुत किया गया है जो बहस कर सकती है और कभी कभी अपने अधिकारों के लिए मुकाबला कर सकती है। अंततः अफवाहों के कारण उसे देश निकाला नहीं दिया जाता जिससे राज्य को क्षति पहुंच सकती है, बल्कि राम की अनुचित ईर्ष्या के कारण उसे देश निकाला मिलता है।

संगीत की संगति कम से कम किंतु प्रभावशाली होती है। या तो कोई पूर्ण सामर्थ्यवान और महत्वपूर्ण गायक होता है या गायकों के समूह होते हैं जो केवल हारमोनियम के साथ गाते हैं। उसके साथ ताल वादक भी होता है जो आमतौर पर पखावज वादक होता है जिसका स्थान कभी कभी आजकल तबला वादक ले लेता है। नगाड़ा और झांझ तथा मंजीरे भी होते हैं। सुषिर वाद्य जैसे शहनाई और तुरही का प्रयोग प्रायः किया जाता है, किंतु छऊ शैलियों में इसके विपरीत केवल गायक या गायक समूह ही प्रदर्शन के पूरे संगीतात्मक ढांचे का मार्गदर्शन और उसका निर्धारण करता है। कथा पाठकों, गायकों और अभिनेताओं के बीच एक सुंदर तालमेल होता है। युद्ध, अंतिम दृश्यों का मंचन, जो प्रदर्शन का चरमोत्कर्ष

प्रस्तुत करते हैं वाराणसी के दूसरे हिस्से में किया जाता है। स्वाभाविक है कि इन युद्धों और संहारों के लिए तीर-कमानों के प्रयोग किये जाते हैं, बड़े बड़े खुले स्थानों की आवश्यकता होती है। इन दृश्यों को प्रस्तुत करते हुए साथ में बड़े जोर जोर से ढोल और शहनाई बजाई जाती है, किंतु इसके साथ गायन नहीं होता।

राम, सीता और लक्ष्मण की वेशभूषा सादी और स्वाभाविक होती है और इनमें से कोई भी पात्र मुखौटा नहीं लगाता, किंतु दूसरे पात्र जैसे हनुमान, रावण, विभीषण और कुंभकर्ण सभी मुखौटे लगाते हैं जो उन सबसे भिन्न होते हैं जो सेराएकला और पुरुलिया छऊ में देखे जाते हैं। ये मुखौटे लकड़ी और मिट्टी के न होकर कपड़े के बने होते हैं। इसलिए ये नरम होते हैं और इन्हें पार्श्व से चेहरे पर लगाकर पीछे से डोरियों के जरिए बांध दिया जाता है। रावण का मुखौटा चपटा और पार्श्विक होता है जिस पर चांदी या सोने की कढ़ाई का काम होता है और एक ही कपड़े पर बने उसके दस सिरों पर भी कढ़ाई हुई होती है। इसके विपरीत हनुमान का मुखौटा धातु का बना होता है। हम हनुमान को यहां जो सुनहरी धातु का मुखौटा लगाये देखते हैं वह काफी बड़ा और प्रभावशाली होता है तथा कहीं और दिखाई नहीं देता। इसका यह अर्थ हो सकता है कि संभवतः तुलसीदास के समय तक हनुमान के पात्र ने दिव्य विशेषताएं अर्जित कर ली थीं। एक ही पात्र को मुखौटे के साथ या मुखौटे के बिना प्रस्तुत करने की परंपरा दूसरे भागों में भी पाई जाती है, विशेषकर थाईलैंड में प्रचलित रामायण के पाठांतरों में। एक परंपरा में दैत्य और वानर मुखौटे लगाते हैं, यद्यपि नायक और देवता बिना मुखौटे के होते हैं। इस दृष्टि से वाराणसी की रामलीला दक्षिण-पूर्वी एशियाई परंपराओं के बिल्कुल निकट है। यद्यपि अन्य दृष्टियों से यह स्पष्टतः उत्तर भारतीय शैली है।

विद्वान इस रामायण या रामचरितमानस को नाटकीय प्रदर्शन के रूप में प्रस्तुत करने के इतिहास के बारे में एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि रामलीला के रूप में रामचरितमानस का पहला प्रस्तुतिकरण तुलसीदास के एक शिष्य द्वारा किया गया था जिसका जीवनकाल 1625 ई. में या उसके आसपास था। किंतु कुछ और विद्वानों के अनुसार नारायण दास नामक एक मंदिर के वास्तुविद् ने स्वप्न में आदेश प्राप्त करने के बाद पहली बार इसका प्रस्तुतिकरण किया। इस स्वप्न दर्शन का मंचन प्रतिवर्ष वाराणसी में नट्टइमली में होता है। स्वप्न में यह दृश्य दिखाया जाता है कि नारायणदास को भरत-मिलाप से संबंधित प्रसंग की पुनःसृष्टि करने को कहा गया था। अन्य विद्वानों ने नाटक रूप में रामलीला की लोकप्रियता का श्रेय नाभाजी को दिया जो भक्तमाल के लेखक थे और बाद में प्रियदास को जो नागजी के शिष्य थे और जिन्होंने भक्तमाल की टीका लिखी थी। यद्यपि इन अलग अलग अभिमतों से कोई ऐसा प्रामाणिक आधार नहीं मिल पाता जिससे रामचरितमानस पर आधारित पहले नाटकीय प्रदर्शन की कोई निश्चित तिथि निर्धारित की जा सके। फिर भी, तुलसीदास के बहुत-से समसामयिकों और उनके अनुयायियों के लेखनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास रामकथा की कई रंगमंचीय परंपराओं से परिचित थे जो भारत के विभिन्न विभागों में लोकप्रिय थीं और रामलीला के रूप में रामचरितमानस का मंचन या तो रामचरितमानस की रचना के साथ साथ या उसके फौरन बाद आरंभ हो गया होगा।

सोलहवीं और 18वीं शताब्दी के बीच रामायण रंगमंच के वैविध्यपूर्ण इतिहास के बावजूद यह स्पष्ट है कि रामनगर (वाराणसी) की रामलीला का प्रारंभ रामचरितमानस के लेखनकाल में ही हुआ था। एक दंतकथा के अनुसार वर्तमान महाराजा के एक पूर्वज को आज से लगभग 150 वर्ष पहले स्वप्न में वाराणसी नगर को रामायण के घटनास्थलों में बदलने का आदेश मिला था। स्पष्ट है कि राजा अपनी जनता के साथ संपर्क स्थापित करने के लिए रंगमंच के माध्यम का सहारा लेना चाह रहा था। वह साकार रूप में एक ऐसी कथा की पुनर्सृष्टि कर रहा था जो जन आस्था के निकट थी। हम उसी प्रकार के स्वप्न दृश्यों से परिचित हैं जिन्होंने केरल, मणिपुर, लखनऊ और ओड़िसा के दूसरे राजाओं को प्रेरित किया है। इसलिए 18वीं शताब्दी में वाराणसी की रामलीला का प्रारंभ बहुत बड़ा सामाजिक महत्व रखता है।

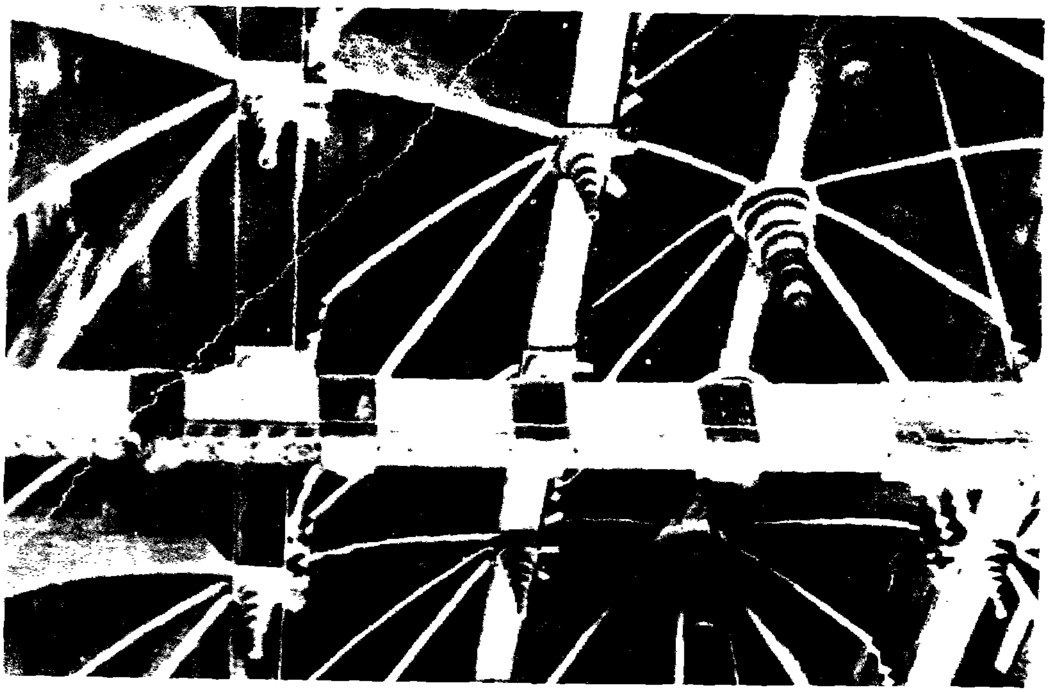
यहां हमें रंगमंच माध्यम का एक और ऐसा उदाहरण मिलता है जिसका प्रयोग न केवल समाज के विभिन्न स्तरों के लोगों को एक-दूसरे के निकट लाना था बल्कि जिसका प्रयोग शासक और शासितों के बीच मेल मिलाप और वार्तालाप का भाव पैदा करने के लिए भी किया गया था। इसके अतिरिक्त रामनगर की रामलीला अनेक स्तरों पर चलती है जिनमें से एक स्तर पर शाश्वत तत्व का आह्वान किया गया है और दूसरा स्तर ऐहिकता और वर्तमान समय से संबंधित है जो समय के साथ साथ निरंतर अपना सामंजस्य करता चला जाता है, अपने आप में समसामयिक वास्तविकता को समोने के लिए।



1. वटक्कुनथन मंदिर का कुट्टंबलम (बाह्य दृश्य)



2. वटक्कुनथन का कुट्टंबलम, त्रिचुर (अंतर्दृश्य)



3. कुट्टंबलम की ऊपरी छत



4. कुटियट्टम : हनुमान



5. (अ) यक्षगान सज्जा



(ब) यक्षगान सज्जा



(स) यक्षगान सज्जा



6. रूप परिकल्पना (मुंडासु)



7. यक्षगान प्रस्तुति



8. भागवतमेला में नरसिह



9. भागवतमेला में हिरण्यकश्यप और प्रह्लाद



10. सेरायकला का मुखौटा



11. चंद्रभागा में सूर्य



12. चंद्रभागा



13. कार्तिकेय : मयूरभंज छऊ



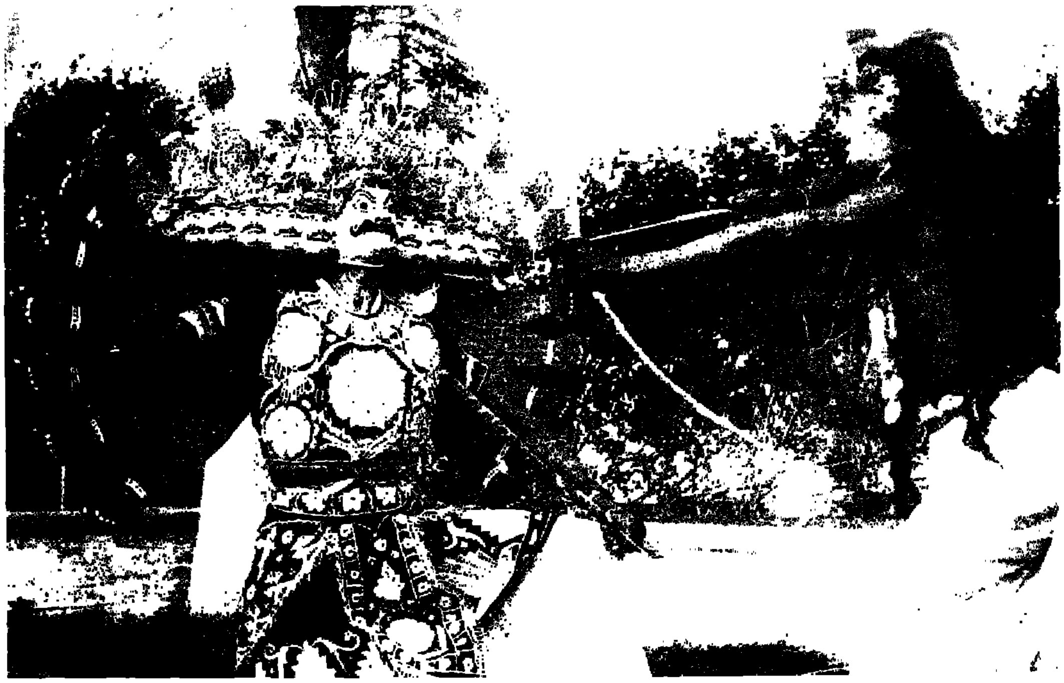
14. श्री हरि द्वारा शिव तांडव



15. गोसिंगा : विकट चरित्र



16. महिषासुर वध, पुरुलिया



17. पुरुलिया छऊ में राम-रावण



18. रामनगर की रामायण में हनुमान



19. रामनगर में हनुमान (रामलीला : रामायण)



20. रामनगर की रामलीला में राम



21. राम-लक्ष्मण (रामनगर रामलीला)



22. रासलीला : कृष्ण



23. लीला नाटक में कृष्ण : माखनचोर



24. सज्जागृह में यात्रा की तैयारी



25. राजस्थान के ख्याल में एक हास्य दृश्य



26. (अ) तमाशा



(ब) तमाशा



(स) तमाशा

10

रासलीला और कृष्णलीला

दक्षिण भारत में कुटियट्टम, भागवतमेला और यक्षगान जैसी मंदिर और मंदिर प्रांगण में प्रदर्शित विधाओं की एक लंबे समय से निरंतर और विकासशील परंपरा रही है। मलयालम, तेलुगु और कन्नड़ साहित्य के विकास में इसका बहुत योगदान रहा। उत्तर भारत में भी ऐसी समानांतर साहित्य और रंगमंचीय पद्धति का विकास हुआ जिसके विषय राम और कृष्ण थे। यह विकास दक्षिण भारत में हुए विकास से असंबद्ध नहीं था और यह विशेष रूप से 15वीं और 18वीं शताब्दी के बीच की अवधि में हुआ।

उत्तर भारत में नाट्य विधा के इतिहास को पूर्वी भारत, विशेषतया असम, बंगाल और बिहार तथा गुजराती और राजस्थानी जैसी पश्चिमी भारतीय भाषाओं की साहित्यिक गतिविधियों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। वास्तव में असमिया, बंगला, मैथिली, गुजराती आदि की पूर्व अवस्था की रचनात्मक अवधि उत्तर भारत रंगमंचीय पद्धति का सामान्य आधार और यह अब मुख्य रूप से ब्रज भाषा, अवधी और हिंदी से संबद्ध है।

भारत के कुछ अन्य भागों में भी शब्द, गति या ध्वनि पर आधारित व्यापक रंगमंचीय पद्धति साहित्यिक विकास का अभिन्न अंग थी, भले ही आज हम कृष्ण या राम पर आधारित नाट्य विधाओं को लोक अथवा देशों का नाम दे दें। इन विधाओं के विकास को अंततः सूक्ष्म चित्रकला (मिनिएचर पेंटिंग) की विविध कृतियों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए जिसने रेखा और रंग के माध्यम से उसी विषयवस्तु को चित्रित किया।

स्मरण रहे कि यह मध्यकालीन कलात्मक विकास उस समय पूरे देश में व्याप्त वैष्णववाद और भक्ति आंदोलन की व्यापक लहर का अभिन्न अंग था। उस समय चल रहे विभिन्न आंदोलनों का इतिहास सर्वविदित है और उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि साहित्यिक और रंगमंचीय विकास मुख्यतया मध्यकाल में 14वीं और 15वीं शताब्दी में हुआ, किंतु उसका प्रेरणा स्रोत प्राचीन काल था और वे परंपराएं थीं जो कि सल्तनत काल में भी बहुविद् रूप से जीवित रहीं। हालांकि यह काल पूर्वी और उत्तरी भारत के अधिकांश भागों में नीरस और अनुर्वर ही था। वस्तुतः यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि मुगलों के अपेक्षाकृत स्थायी शासन के स्थापित हो जाने के बाद ही नयी गतिविधियां संभव हो सकीं।

बंगाल और असम की यात्रा और अंकिआ-नाट जैसी अनेक विधाओं के अलावा मंदिर की नाट्य विधा (जो कर्मकांडीय भी थी) का विकास हुआ जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इसे लीला यानी राम और कृष्ण के जीवन को आधार मानकर खेले जाने वाले नाट का नाम दिया गया है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि रामायण रंगमंच को 15वीं शताब्दी में नयी प्रेरणा मिली। इससे कुछ पहले की अवधि में तमिल और मलयालम भाषांतर का महत्वपूर्ण योगदान भी उल्लेखनीय है। कृष्णलीला का समानांतर विकास हुआ और इसमें राम की बजाय कृष्ण को आराध्य माना गया और मथुरा से विदा होने से पहले की कृष्ण की लीला को चुना गया।

राम की तरह ही कृष्ण का वर्णन भी भारतीय इतिहास के प्राचीनतम अभिलेखों में मिलता है। राम के विपरीत कृष्ण के दो विभिन्न और प्रत्यक्षतः असंबद्ध प्रकरण रहे हैं जो कि भारतीय विचारधारा, साहित्य और कला में दृष्टिगोचर होते हैं। पहला प्रकरण 'महाभारत' और 'भगवद्‌गीता' के कृष्ण का है जो कि सूक्ष्म ऐतिहासिक तथ्य या पौराणिक कथा पर आधारित है और दूसरा वृंदावन और मथुरा का बालक कृष्ण है जिसका जीवनवृत्त महाभारत के परिशिष्ट हरिवंश पुराण में दिया गया है। दृष्टव्य है कि राम के प्रकरण को भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों और भाषाओं में तथा नाटक, चित्रकला और संगीत में अनेक प्रकार से और अनेक रूपों में व्यक्त किया गया है। यह भी देखने में आया कि कुटियट्टम, भागवतमेला और यक्षगान की विषयवस्तु रामायण के विभिन्न भाषांतरों और महाकाल की कथाओं पर आधारित थी। वृंदावन और मथुरा के कृष्ण पर आधारित साहित्य और कलात्मक परंपराएं हमारी अमूल्य धरोहर हैं और ये पहले के ग्रंथों और उनकी परंपराओं की तरह ही सुदृढ़ और लोकप्रिय हैं। इसका विकास पिछली बीस शताब्दियों और इससे भी पहले पुराणों, संस्कृत साहित्य के नाटकों और काव्यों तथा 12वीं से 19वीं शताब्दी की अवधि के दौरान विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के काव्य और नाट्य कृतियों में देखा जा सकता है।

भारत में नाटक, नृत्य और संगीत की परंपरा को संपूर्ण रूप में समझने के लिए इन समानांतर धाराओं के सहअस्तित्व को समझना आवश्यक है। काल्पनिक विचारों, मनोवैज्ञानिक अर्थनिर्णय और प्रतीकात्मक अर्थ के आधार पर विषय के विभिन्न अर्थनिर्णय को समझने की आवश्यकता तो है ही। पहले प्रकार के महाकाव्य की वर्णनात्मक विषयवस्तु आचरण का आधार प्रस्तुत करती थी तथा सद् और असद् शक्तियों का मुकाबला करने की प्रेरणा देती थी। यह मुकाबला सत्ता के लोभ के कारण नहीं किया जाता था बल्कि इसके पीछे कर्तव्य की भावना निहित रहती थी। दूसरे प्रकार के महाकाव्य में अमूर्त और निराकार परमात्मा से मानव के मिलन की आंतरिक इच्छा प्रकट होती है। यदि पहले में कार्य और आचरण का क्षेत्र एवं स्वरूप परिलक्षित होता है जिसका आयाम, व्यापक कार्यकलाप है तो दूसरे में उसी प्रकार के क्षेत्र एवं भाव का आभास मिलता है, किंतु जिसका उत्तरोत्तर विकास होता है। सशक्त नाटक एक ऐसी तार्किक कलात्मक विधा थी जिसमें पहले प्रकार का महाकाव्य अपनी अद्‌भुत रचनात्मक विषयवस्तु को सहेज सकता था जबकि काव्यात्मक पुनरावृत्तिमय चक्र जिसमें अनेकानेक रूप, निराकार ब्रह्म से मिलने के लिए आतुर रहते हैं, दूसरे प्रकार के काव्य का स्वाभाविक परिणाम था।

कृष्णलीला दूसरी विचारधारा की पराकाष्ठा थी जिसके आवृत्तिमय स्वरूप ने समय की आवर्तिता और विषयवस्तु के आंतरिक औचित्य की ही पुष्टि की। दूसरे प्रकार के काव्य की शक्ति ऐतिहासिक तथ्यों के निरूपण में न होकर उस पौराणिक कथा में निहित थी जो कि मन को मोहने वाली और अर्थपूर्ण थी।

जहां तक कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रश्न है, रामायण और महाभारत ने कथाकारों, रामकथाओं या हरिकथाओं की परंपरा को जन्म दिया। मथुरा और वृंदावन के कृष्ण ने काव्य और भक्ति संगीत को जन्म दिया जिससे बाद में कीर्तन और भजन आदि की परंपराओं का विकास हुआ। दोनों कभी भी परस्पर असंबद्ध नहीं रहे।

लीला या अधिक विशिष्ट रूप में रासलीला की संकल्पना, महाभारत के परिशिष्ट हरिवंश में दी गई है और इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'विष्णु पर्व' के अध्याय बीस (अर्थात् अध्याय 20, खंड II) में कृष्ण के साथ गोपियों के नृत्य का विशद् वर्णन किया गया है। यह नृत्य शरद ऋतु में पूर्णिमा की रात्रि में किया जाता है। गोपियां मुग्धहो कर प्रकट होती हैं और भगवान कृष्ण के साथ नृत्य करती हैं। मूल पुस्तक और नीलकंठ की टीका – दोनों से प्रतीत होता है कि नृत्य गोल दायरा बना कर किया जाता है और इसमें दो गोपियां और कृष्ण हाथ पकड़ कर नृत्य करते हैं। हरिवंश से पता लगता है कि बृहदाकार मेखला को पृथ्वी में गाड़ दिया जाता था और उसके इर्दगिर्द रास किया जाता था। सबसे पहले गोलाकार नृत्य का उल्लेख ऋगवेद (10,72.6) के सूक्त में मिलता है जिसमें सृष्टि की रचना का विवरण दिया गया है और जिसमें देवताओं के गोलाकार नृत्य किये जाने का वर्णन है। हरिवंश में नृत्य के इस रूप का विस्तृत एवं विशद विवरण दिया गया

है जिसमें इसके मूल स्वरूप में नये तत्वों और अलंकरणों का समावेश किया गया है। इसमें क्रियात्मक प्रकार जिसे 'चालिक्य' कहा गया है और वृत्ताकार नृत्य जिसे 'हल्लीशक' कहा गया है, का उल्लेख मिलता है। संस्कृत की बहुत-सी अन्य पुस्तकों में इस गोलाकार नृत्य के अनेक संदर्भ मिलते हैं।

यद्यपि हरिवंश में कृष्ण के बाल्यकाल और रास का विवरण संक्षिप्त है और केवल सरसरी तौर पर ही किया गया है किंतु बाद में पुराणों में इस पक्ष की ओर काफी ध्यान दिया गया है। इनमें प्रायः अंतर देखने में आते हैं और इन पुराणों के अध्ययन से हमें विषयवस्तु के व्यापक प्रभुत्व की जानकारी मिलती है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि नृत्य का यह रूप काफी लोकप्रिय रहा होगा और इस कारण से ही पुराणों में रास का वर्णन विविध अर्थ वाली प्रतिकृतियों और प्रतीकों के रूप में किया गया है।

विष्णु पुराण और ब्रह्म पुराण में जन्म से मृत्यु तक के कृष्ण के चरित्र पर अनेक अध्याय लिखे गये हैं। रास और लीला से संबंधित अंशों को काफी महत्व दिया गया है। विष्णु पुराण में चांदनी रात और शरद ऋतु में किये जाने वाले वृत्ताकार रास नृत्य का व्यापक वर्णन है। हरिवंश में वर्णित अनुक्रम के विपरीत गोपियां कृष्ण के अंग संचालन एवं हावभाव का अनुसरण करती हैं और कहती हैं, "मैं कृष्ण हूं, मेरे अंगिकाभिनय की गरिमा को देखो और मेरा गीत सुनो।" उपयुक्त आलाप में गाये गये गीत और चूड़ियों की झंकार के संगीत पर हो रहे नृत्य से शरद ऋतु की सुंदरता का बोध होता है। अग्नि, वायु, लिंग, कर्म और पद्मपुराण सभी में कृष्ण के चरित्र का वर्णन है किंतु रास का सबसे विशद् वर्णन श्रीमद्भागवत पुराण में मिलता है। श्रीमद्भागवत पुराण के 10वें स्कंध के लगभग 15 अध्यायों में गोपियों के साथ कृष्ण की विभिन्न लीलाओ का वर्णन है जिसमें बांसुरी बजाना, गोपी-कृष्ण संवाद, कृष्ण का विलुप्त हो जाना, गोपियों का कृष्ण की नकल करना, यमुना पर कृष्ण का पुनः प्रकट होना, महारासक का आयोजन और जल क्रीड़ा शामिल हैं। यह प्रतीत होता है कि 16वीं शताब्दी में मथुरा के अष्ट छाप संप्रदाय के कवियों को इन क्रीड़ाओं और उनके विभिन्न पक्षों से रास के विभिन्न रूपों के सृजन में काफी प्रेरणा मिली।

नवीनतम पौराणिक रचना जिसमें रास का वर्णन किया गया है 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण है। यहां राधा के चरित्र चित्रण में महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। राधा जिसका श्रीमदभागवत में केवल नाम मात्र को ही उल्लेख किया गया है और अन्य सभी पुराणों में उपेक्षित ही रही है, यहां पर रास का केंद्र बिंदु बन गयी है। यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण को इसकी प्रेरणा पौराणिक और अन्य स्रोतों विशेष रूप से गर्ग संहिता और हल की गाथा सप्तशती और संभवतः जयदेव के गीत गोविंद से मिली जो ब्रह्मवैवर्त पुराण के इन विशिष्ट खंडों से पहले की कृतियां प्रतीत होती हैं, यद्यपि विद्वान इन खंडों के संभावित काल के विषय में एकमत नहीं हैं। गीत गोविंद और ब्रह्मवैवर्त पुराण में रास की ऋतु शरद के स्थान पर वसंत दी गयी है और राधा का उल्लेख किया गया है जबकि पहले पुराणों में राधा का उल्लेख नहीं मिलता। जयदेव राधा का विशेष गोपी के रूप में वर्णन करने वाले पहले मुख्य कवि थे या नहीं, यह स्पष्ट नहीं है किंतु इस पात्र के सृजन से रास के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य हुआ। नृत्य में गोपी और कृष्ण के साथ एक तीसरे मुख्य पात्र – राधा का समावेश हो गया था। राधा के अस्तित्व के स्वभावतः नाटकीय विशेषता का उद्भव हुआ जिसका आध्यात्मिक और कलात्मक रूप से बहुत महत्व था। गर्ग संहिता, ब्रह्मवैवर्त और गीत गोविंद राधा-कृष्ण के वर्ण के मुख्य स्रोत प्रतीत होते हैं और ये कृष्ण और गोपियों के वर्णन से भिन्न थे।

यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि इन सभी पुराणों का आधार कृष्ण का चरित्र था, किंतु उनमें माखनचोरी, पनघट, दानलीला जैसी अनेक लीलाओं का उल्लेख नहीं किया गया है जो आज ब्रज रास की परंपरागत अंतर्वस्तु का मुख्य अंग है। कालिय दमन, गोवर्द्धन लीला और चीरहरण आदि का श्रीमदभागवत में वर्णन है किंतु अग्नि, पद्म, विष्णु और ब्रह्म पुराण में इनका उल्लेख नहीं मिलता है।

मध्यकाल के प्रारंभ और बाद के संस्कृत काव्य साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रास या समानांतर नृत्य और नृत्य नाटिका के रूप का उल्लेख किया गया है जिसमें श्री हर्ष की 'रत्नावली' उल्लेखनीय है और इसमें 'चर्चरी' का उल्लेख किया गया है। भट्ट नारायण के 'वेणीसंहार' में रास का वर्णन किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक और हरिवंश (जिसका काल तीसरी शताब्दी बताया गया है) और श्रीमद्भागवत (लगभग 10वीं शताब्दी) के काल और दूसरी ओर 7वीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक के संस्कृत काव्यों और नाटकों के बीच की अवधि में कृष्ण का विषय और विशेष रूप से रास भारत के बहुत-से भागों में प्रचलित था और यह पौराणिक, काव्यात्मक और नाटकीय लेखन का मुख्य विषय था।

इसके साथ साथ हमें नृत्य, नाटक, संगीत और अन्य विधाओं से संबंधित पुस्तकों और हस्त पुस्तिकाओं में इसके बारे में की गयी साहित्यिक चर्चा की भी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। यद्यपि कुछ विद्वानों ने नाट्यशास्त्र में वर्णित विभिन्न प्रकार के लास्य का रास के साथ संबंध स्थापित करने का प्रयास किया है, किंतु न तो भरत और न ही नंदी केश्वर ने रास को अलग श्रेणी में शामिल किया। केवल अग्निपुराण में ही 'रासक' का उल्लेख किया गया है। दसवीं शताब्दी में, विशेष रूप से 12वीं शताब्दी से अधिकांश पुस्तकों में रास और रासक की चर्चा शुरू हुई। चौदहवीं शताब्दी में हेमचंद्र के काव्यानुशीलन और शारदातनय के भावप्रकाश में इस पक्ष पर काफी प्रकाश डाला गया है। संगीत रत्नाकर में इसका संकेत दिया गया है। इन सभी पुस्तकों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि मध्यकाल में ही रास और रासक अभिनय की विशिष्ट श्रेणी के रूप में प्रसिद्ध हो गया था। श्रीमद्भागवत और बाद के पुराणों में इनका सुस्पष्ट विवरण मिलता है। उस समय तक ऐसी शैली का विकास हो चुका था जिसे विभिन्न प्रकार के नाट्य प्रदर्शन (उपरूपक) और शुद्ध संगीत के नृत्य (संगीत या वृत्त) से अलग जाना जाता था। यह शैली ऐसी कृतियों का समूह थी जिन्हें रासक, रास, हल्लीशक और चर्चरी के नाम से जाना जाता था। उप-रूपों में कुछ अतिव्याप्ति थी किंतु इसकी मुख्य विशेषता थी वाद्य और कंठ संगीत के साथ, प्रावस्थावार या अप्रावस्थावार, समूह नृत्य का आयोजन। अन्य स्रोतों से पता लगता है कि हरिवंश का हल्लीशक सबसे प्राचीन रूप था और यह नृत्य एक पुरुष के इर्दगिर्द बहुत-सी स्त्रियों द्वारा गोल घेरा बनाकर किया जाता था। किंतु कालांतर में रासक या रास केवल वृत्ताकार नृत्य ही नहीं रह गया बल्कि संवाद और अन्य साधनों से युक्त लिपिबद्ध नाट्य कृति बन गया था।

संस्कृत परंपरा के अतिरिक्त प्राकृत और अप्रभंश का साहित्य था। उल्लेखनीय है कि रंगमंचीय कलाकृति के रूप में रास या रासो के प्रारंभिक मुख्य विषय 12वीं-13वीं शताब्दी के जैन स्रोत थे। ग्यारहवीं शताब्दी के जंबूस्वामी चरित् में अंबादेवी रास का उल्लेख किया गया है। अन्य ग्रंथों में अंतरंग रास का उल्लेख किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 12वीं शताब्दी में जैन साहित्य में रास का स्वरूप बहुत लोकप्रिय हो गया था। लगभग एक हजार या अधिक रास ग्रंथों का अब तक पता लगाया जा चुका है। तेरहवीं शताब्दी के 'संदेसरासक' नाम की प्रसिद्ध कृति की रचना की गयी और तत्पश्चात भारतेश्वर बाहुबली, घोररास, अंबुरास आदि जैन विषयों पर आधारित अन्य मुख्य साहित्यिक ग्रंथों की रचना हुई। इनमें से केवल दो में कृष्ण का उल्लेख हुआ है। एक श्री नेमिनाथ रास है जिसमें नेमिनाथ और कृष्ण का परस्पर संघर्ष दिखाया गया है जिसमें अंततः श्री नेमिनाथ की विजय होती है (स्पष्टतः, रास में जैन और वैष्णव मत के संघर्ष को नाट्य रूप में प्रस्तुत किया गया है)। दूसरा गयसुकुमार रास है जिसमें केवल अंत में रास नृत्य का उल्लेख किया गया है। रास और रासक की परंपरा 15वीं शताब्दी तक जारी रही और इसके बाद 'फागू' नाम की एक अन्य रचना शैली का जन्म हुआ।

हालांकि जैन परंपरा समानांतर विचारधारा के रूप में 18वीं शताब्दी तक चलती रही, किंतु संगीत और नृत्य रचना के रूप में रास की परंपरा जारी रही।

जिस अवधि का हम उल्लेख कर रहे हैं उसी अवधि में उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी भारत में अनेक भाषाओं की उत्पत्ति हुई। बंगला, राजस्थानी, गुजराती, मैथिली और पंजाबी भाषा का प्रारंभिक स्वरूप प्रायः एक जैसा है और यह उस रंगमंच, नृत्य और संगीत की सामान्य पृष्ठभूमि था जिसका 10वीं से 15वीं शताब्दी तक देश के इन भागों में विकास हुआ।

यद्यपि साहित्य में कृष्ण के बारे में लिखा जाता था, किंतु रास या रासक का रूप इस तक सीमित नहीं था और न ही यह रूप मात्र संगीतमय नृत्य पद्धति तक ही सीमित था। गुजरात में वृत्ताकार नृत्य के विभिन्न रूप प्रचलित थे जैसा कि प्रारंभिक गुजराती ग्रंथ 'सप्तक्षेत्रीरास' (1271 ई.) से पता लगता है। इसमें ताल रास और लकुटा रास (अर्थात् पहले में तालियां और दूसरे में लकड़ी का प्रयोग किया जाता था) का उल्लेख किया गया है। 'रास' शब्द का प्रयोग उस रचना के लिए भी किया गया है जो लंबी काव्य कथा के रूप में होती थी और वीरतापूर्ण या शिक्षाप्रद विषयवस्तु पर आधारित होती थी। गुजराती

में शैलभद्र द्वारा रचित 'भारतेश्वर बाहुबली' में जैन-ग्रंथ इस नये विकास का प्रतिरूप थे।

पंद्रहवीं शताब्दी से एक अन्य विचारधारा का जन्म हुआ। वैष्णव आंदोलन का प्रसार हुआ और इसके साथ कृष्ण के बारे में नये सिरे से अभिरुचि पैदा हुई और इससे कृष्ण पर आधारित रंगमंचीय और नाट्य विधा में नयी स्फूर्ति का संचार हुआ। इस अवधि में पूर्वी भारत में गीत गोविंद की लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी। जयदेव द्वारा इस ग्रंथ की रचना के बाद लगभग एक शताब्दी तक इस ग्रंथ की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया किंतु 15वीं शताब्दी से सभी भागों में विशेषतया बंगाल, ओड़िसा और राजस्थान में इस ग्रंथ पर आलोचनाओं और अनुकृतियों की शुरुआत हुई। सबसे पहली बांग्ला वर्णनात्मक कविता कृष्णविजय जो कृष्णकथा पर आधारित थी। पंद्रहवीं शताब्दी में माताधर बसु ने लिखी। उन्होंने भागवत और विष्णु पुराण से मुक्त रूप से सामग्री ली किंतु उस पर जयदेव का भी प्रभाव था। चैतन्य को इस ग्रंथ की जानकारी थी और उन्होंने बड़ी बड़ी धार्मिक सभाओ में इसका उपयोग किया। बडु चंडीदास के श्रीकृष्ण कीर्तन ग्रंथ पर गीत गोविंद का काफी प्रभाव था। ओड़िसा में भी जयदेव का काफी प्रभाव था। पूर्व ओड़िआ की संगीत शैली में मूल चौतीसा के साथ गीत गोविंद की अष्टपदियों का समावेश हुआ और इन दोनों को गाया भी जा सकता था और सस्वर पाठ भी किया जा सकता था। सत्रहवीं और 18वीं शताब्दी में उपेंद्र भंज, दिनकर दास और कवि सूर्य बलदेव इस गीत शैली के प्रमुख प्रवर्तक थे। इससे बंगाल, ओड़िसा और मिथिला में प्राप्त गीत गोविंद की अनेक अनुकृतियों में और वृद्धि हुई। बिहार में विद्यापति और उमापति ने भी इसी प्रकार की रचनाएं की।

हालांकि गीत गोविंद और उसके कलात्मक स्वरूप का बाद की रचनाओं पर बहुत प्रभाव पड़ा किंतु चैतन्य और उनके अनुयायी उस सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक चेतना के प्रेरणास्रोत थे जो असम, बंगाल और ओड़िसा से वृंदावन तक फैल गयी थी। चैतन्य के पुरी में निवास और अपने बहुत-से शिष्यों के साथ संपूर्ण भारत की यात्रा से ही वैष्णव भागवत मत का प्रचार और प्रसार हुआ। उनके शिष्यों ने ही राधा-कृष्ण की आराधना शुरू की जो वृंदावन में आज तक प्रचलित है।

जहां शंकरदेव और भागवत वैष्णववाद के अनेक अनुयायियों ने असम में अंकिआ-नाट और भाओना (जिसमें राधा शामिल नहीं है) प्रथा का सूत्रपात किया, वृंदावन ने भारत के सभी भागों के वैष्णवों को आश्रय दिया जिससे अंततः वृंदावन के वैष्णववाद का विशिष्ट स्वरूप पनपा जिसमें राधा और कृष्ण की आराधना मुख्य उद्देश्य था। रास, जो कि एक तरफ जैन-प्रथा के रासक या फागू से और दूसरी तरफ अंकिआ-नाट की नाट्य संरचना से भिन्न था, कलात्मक अभिव्यक्ति का सहज माध्यम बन गया। रासो, रासक और फागू परंपराओं से सांग, स्वांग, संगीत, ख्याल और नौटंकी जैसी अनेक रंगमंचीय विधाओं का जन्म हुआ और इन्होंने भवाई को प्रभावित किया। वृंदावन की रासलीला में गीत गोविंद के साथ भागवत पुराण की परंपराओं और ब्रज बोली और बाद में ब्रजभाषा पर आधारित विभिन्न प्रकार की रचनाओ का उद्भव हुआ।

वैष्णववाद तथा 12वीं और 16वीं शताब्दी के मध्य उसके परिणामी कलात्मक स्वरूपों की मुख्य युगप्रवर्तक घटनाओ का सरल इतिहास इस तथ्य से परिचित कराने के लिए आवश्यक था कि आज का ब्रज रास (जिसका श्रेय वृंदावन के गोस्वामियों को दिया जाता है) का भारत के अन्य भागों से केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं बल्कि भाषायी और कलात्मक रूप से भी गहरा संबंध है। वस्तुतः दक्षिण भारत की गतिविधियां और उत्तर भारत में चल रही गतिविधियों पर उनका प्रभाव ऐसा विषय है जिसका इस चर्चा से संबंध है। वल्लभाचार्य दक्षिण भारत के प्रवासी थे। धार्मिक गतिविधियों की गतिशीलता भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की मुख्य विशेषता रही है। इस प्रारंभिक सर्वेक्षण से यह जानकारी मिलती है कि मथुरा के सरल एवं सहज लोकप्रिय रास के विकास का जहां एक ओर पौराणिक (यदि वैदिक नही), संस्कृत साहित्य से संबंध था तो इसके साथ साथ अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओं, विशेष रूप से उत्तर, पूर्व और पश्चिमी क्षेत्रों की भाषाओं से भी इसका बहुत गहरा संबंध था। वैष्णव मत के विभिन्न प्रवर्तकों, जिनमें वल्लभाचार्य और उसके अनुयायी प्रमुख थे, द्वारा किये गये वैष्णव मत के ऐतिहासिक विकास का भी इन पर प्रभाव पड़ा।

अष्ट छाप के अष्ट रत्न कहलाने वाले कवि पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इन सभी संतों की कविताएं, चाहे वे कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास, नंददास हों या अन्य कवि, कृष्ण की बासुरी के संगीत पर गूंजती हैं। नृत्य करता हुआ कृष्ण इन कविताओं का नायक है। मीराबाई ने भी कृष्ण को इसी रूप में वर्णित किया। यद्यपि

इन कविताओं में बाल गोपाल का सुंदर वर्णन है,किंतु इसमें रास का भी प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है । सोलहवीं शताब्दी से ठीक पहले की अवधि में कृष्ण रास पर बहुत कम काव्य का सृजन हुआ,किंतु इनकी कविताओं में रास को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया । राधा के चरित्र में अब निस्संदेह विविधता आ गयी थी । जिसमें एक से अधिक विशिष्टताएं विद्यमान थीं । सामान्यतया उनका उल्लेख शक्ति के अवतार के रूप में किया गया है । कलात्मक दृष्टिकोण से हम देखते हैं कि राधा,कृष्ण और गोपियों का विषय एकल गीत (सोलो),युगल गीत और छोटे समूह नृत्यों के सृजन के लिए उपयुक्त विषयवस्तु प्रदान करता है ।

हालांकि मथुरा और वृंदावन की रासलीला के प्रारंभ के बारे में कुछ विवाद है,किंतु वर्तमान प्रथा संभवतया अष्टछाप मत के कवियों और वृंदावन के गोस्वामियों के समय की है । कुछ विद्वानों ने इसके प्रारंभ का श्रेय नारायण भट्ट को दिया है तो अन्य विद्वानों ने 16वीं शताब्दी के घमंडी नाम के स्वामी को इसका सूत्रपातकर्ता बताया है । ग्रंथ साहब और उसके समय के कुछ अन्य साहित्य, अबुल फजल द्वारा कीर्तनियों की ओर संकेत और 16वीं शताब्दी के नारद पंचरात्र में कृष्ण संगीत के वर्णन तथा शिलालेखों और अन्य अभिलेखों में दिये गये साक्ष्य से इस बात की पुष्टि होती है कि मंदिर के प्रांगण में रासलीला के आयोजन की प्रथा अकबर के समय में प्रचलित थी ।

यह भी संभव है कि 10वीं शताब्दी में रचित श्रीमद्‌भागवत में वर्णित रासलीला काफी पहले से एक जीवंत नाट्य परंपरा के रूप में प्रचलित हो चुकी हो,परंतु तत्कालीन उत्तर भारत की अस्थिर सामाजिक-राजनैतिक स्थिति के कारण उसे इस क्षेत्र में कोई विशेष राजनैतिक आश्रय न मिल पाया हो । बाद में वैष्णवों के नये सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन से प्राप्त प्रेरणा के फलस्वरूप वृंदावन में इसकी जड़ें मजबूती से जम गयीं । और,इस प्रकार उत्तर भारत में मथुरा और वृंदावन तथा पूर्वी भारत में पुरी और नबद्वीप इसके मुख्य केंद्र बन गये ।

मुख्यतः भागवत में वर्णित रास पर आधारित उपलब्ध असंख्य मध्ययुगीन लघुचित्रों से भी इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है कि इस परंपरा का प्रचलन निरंतर बना रहा है । इस विषय में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि भारतीय मूर्तिकला में नृत्य का चित्रण खूब खुलकर हुआ है,फिर भी 13वीं-14वीं शताब्दी से पहले इसमें ऐसे समूह नृत्य के उदाहरण नहीं मिलते जिनमें हाथ में छड़ी लेते हुए अथवा थाली बजाते हुए जोड़े नृत्य करते हुए दिखाए गये हों । लकुट और डांडिया नृत्य की सर्वोत्कृष्ट कृति हमें विजयनगर युग के हजार राम मंदिर में मिलती है । भारतीय मूर्तिकला में ऐसी कृतियां भी नहीं पाई जातीं जिममें एक पुरुष नर्तक अनेक महिलाओं से घिरा हुआ दिखाया गया हो । जहां तक चित्रों का प्रश्न है,इनमें से दो बहुविख्यात हैं । वे हैं – 5वीं और 7वीं शताब्दी की बाघ और अजंता की गुफाओं की कृतियां । बाघ का दृश्य जहां हल्लिशक समझा जाता है,वही अजंता के भित्तिचित्र में एक स्त्री को अन्य अनेक स्त्रियों से घिरे हुए दिखाया गया है । इसके बाद काफी समय तक इस विषय पर किसी कलाकृति का कोई प्रमाण नहीं मिलता । यह विषय फिर लघुचित्रों में उभर कर सामने आता है । इन चित्रों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इनमें वृंदावन के कृष्ण जीवन को दो विभिन्न रूपों अर्थात लीला और रास के माध्यम से चित्रित किया गया है । साहित्य और चित्रकला की यह स्थिति वस्तुतः उस युग की नाट्य स्थिति को परिलक्षित करती है जिसे कवियों और चित्रकारों ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया । नाट्य कला के पौराणिक तत्व में समय समय पर जो परिवर्तन देखने में आता है उसका कारण नाटक के क्षेत्र में प्राप्त अनुभव तथा स्थानीय परंपराओं से प्राप्त उपाख्यान और अभिनय पद्धति पर आधारित नवप्रवर्तन की संभावनाओं में ढूंढ़ा जा सकता है । यहां यह भी ध्यान रखने की बात है कि यह सारा विकास रासक और रासो की जैन परंपराओं के समकालीन है, जिनकी विषयवस्तु मुख्यतः उपदेश और वीरतामूलक रही है । रचना की दृष्टि से ये संगीतीय और गतिशील न होकर वर्णनात्मक और नाटकीय हुआ करती थीं ।

यह स्पष्ट है कि रासलीला अपने वर्तमान स्वरूप में बहुत-से विविध तत्वों के अंशदान को ग्रहण करके पहुंची है । यह सिलसिला 16वीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ समझा जाता है । जयदेव को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने विषय वस्तु की अभिव्यक्ति को नया स्वरूप प्रदान किया । इसके लिए उन्होंने राधा को पहली बार रासलीला से संबद्ध किया और काव्य को रागों और तालों का सहारा प्रदान किया । जिन अन्य तत्वों ने इस स्वरूप के विकास में योगदान दिया,वे कलामूलक न होकर प्रवृत्ति की दृष्टि से सामाजिक,सांस्कृतिक और धार्मिक थे ।

चाहे वे हरिदास जी महाराज रहे हों, या श्रीहित हरिवंश व्यास अथवा अष्टछाप परंपरा के अन्य कोई कवि, सभी ने वृंदावन के अतिरिक्त अन्य बाहरी स्थानों और स्थानीय क्षेत्रों – दोनों ही स्रोतों से सहायता ली। यह स्थिति कुटियट्टम, यक्षगान और भागवतमेला की भी है जहां संस्कृत और क्षेत्रीय भाषायी परंपराओं का अस्तित्व और अंशदान साथ साथ रहा है। रासलीला इसी सांस्कृतिक प्रक्रिया के एक अन्य पक्ष को प्रस्तुत करती है। अठारहवीं शताब्दी में मथुरा-वृंदावन से चलकर रासलीला मणिपुर पहुंची और शीघ्र ही वह वहां एक विशिष्ट रूप में विकसित हो गयी, जिसमें बंगाल जैसे पड़ोसी क्षेत्रों की वैष्णव परंपरा का पुट भी साथ साथ बना रहा। यहां आकर इसमें से लीला तत्व निरंतर कम होता गया और रास के अनेक रूप विकसित होते गये। ये नये रूप वस्तुतः रूढ़ शैलीगत थे और 'लोक' अथवा 'देशी' का दूर दूर तक कोई नामोनिशान इनमें शेष नहीं रह गया था। चाहे यह कितना भी विसंगत लगे परंतु यह अपने आप में एक उदाहरण है कि किस प्रकार गतिशीलता और फैलाव के फलस्वरूप एक विशिष्ट आंचलिक रूप का विकास हो सकता है। किसी एक ही व्यापक सांस्कृतिक विधा का अनेक रूपों में पाया जाना और इनमें से हरेक रूप की अपनी एक अलग छटा का होना, भारतीय नाट्य कलाओं की तस्वीर को निस्संदेह मोहक बना देता है, चाहे पहली नजर में यह कुछ जटिल और रहस्यपूर्ण-सा ही क्यों न लगे।

लेकिन यह सब कुछ अभी तक वृंदावन के बाहर की अल्पकालिक और विगत काल की बातें हैं। विचारणीय विषय यह है कि आज जिस रूप में रासलीला हमारे सामने है उसके कलाकार, मंचन की व्यवस्था और उसका कलात्मक स्वरूप कैसा है?

वृंदावन की समसामयिक रासलीला स्वामियों और गोसाइंयों की अपनी विशिष्ट धरोहर है। ये लोग अपने परिवारों से जोड़ते हुए इसे पीढ़ियों पुरानी बताते हैं। अधिकांशतः इसे 16वीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ बताया जाता है। मथुरा गजेटियर तथा 19वीं शताब्दी में भारत आए अनेक ब्रिटिश और अन्य विदेशी आगंतुकों के संस्मरणों और दूसरे दस्तावेजों में भी रासलीला के संरक्षक परिवारों, अभिनेताओं और रासलीला के प्रदर्शन का वर्णन मिलता है। आज के अनेक रासधारियों (ये स्वामी भी कहलाते हैं) जिनमें स्व. लाडलीसरन और श्री मेघश्याम प्रमुख हैं, अपनी वंशावली धड़ाधड़ सुना सकते हैं। श्री मेघश्याम स्वामी के सुपुत्र श्री रामस्वरूप स्वामी आज भी एक प्रसिद्ध मंडली के नेता हैं और मथुरा-वृंदावन के बाहर इन्होंने खूब भ्रमण किया है। वाराणसी की रामलीला में व्यास का जो स्थान है लगभग वही, बल्कि उससे कुछ अधिक, स्थान रासलीला में स्वामी अथवा रासधारी का होता है। मथुरा का स्वामी वस्तुतः कुटियट्टम के चाक्यार की ही तरह एक संगठन का मुखिया होता है जो अपने शिष्यों को सिखाता-पढ़ाता भी है और उनका भरण पोषण भी करता है। इसके लिए आठ वर्ष और इससे बड़ी उम्र के लड़कों की भरती भी की जाती है; इनमें से कुछ तो स्वामियों के बेटे या संबंधी ही होते हैं। इस दृष्टि से ये बंगाल के बाउलों जैसे ही होते हैं जो अपने बच्चों और प्रशिक्षणार्थियों के एक विशेष दल के गुरु होते हैं। ये लोग प्रायः ब्राह्मण होते हैं। राधा-कृष्ण और गोपियों की भूमिका प्रायः 14 वर्ष से कम उम्र के लड़कों द्वारा ही निभाई जाती है। तरुण हो जाने पर या तो ये लड़के रामलीला में काम करना बंद कर देते हैं या फिर इन्हें उद्धव और सुदामा जैसी वयस्क भूमिकाएं निभानी पड़ती है। वाराणसी की रासलीला में भी राम, सीता और लक्ष्मण की भूमिकाएं तरुण अवस्था से कम उम्र के लड़के ही अदा करते हैं। मणिपुर रास की परंपरा इसके विपरीत है; वहां कृष्ण सहित सभी भूमिकाएं ऐसी बालिकाओं द्वारा ही निभाई जाती हैं जो अभी तरुण अवस्था में न पहुंच पाई हों। नेपाल में भी शक्ति से संबंधित अनेक नाटकों और अनुष्ठानों में इसी प्रकार की परंपरा का प्रचलन है।

यह प्रशिक्षण अपने आप में सर्वांगपूर्ण होता है और इसमें विभिन्न पुराणों तथा अन्य ग्रंथों का अध्ययन, गायन एवं नृत्य सम्मिलित होते हैं। यहां का अनुशासन आश्रम अथवा आवासीय पाठशाला की तरह कठिन होता है, जहां कि शिष्यों को वर्ष में एक निश्चित अंतराल के बाद एक निश्चित अवधि के लिए ही अपने माता-पिता से मिलने जाने की अनुमति दी जाती है। यक्षगान और भागवतमेला के कलाकारों की सामाजिक व्यवस्था भी इसी प्रकार की होती है। दक्षिण भारत में ऐसी मंडलियों की संपूर्ण व्यवस्था वहां के मंदिर संगठनों (जिन्हें देवस्थानम कहते हैं) द्वारा ही की जाती है। वृंदावन में स्वामीगण निस्संदेह मंदिरों से ही जुड़े होते हैं, परंतु प्रशिक्षणार्थियों का पालन पोषण उनकी अपनी जिम्मेदारी होती है और इसके लिए धन की व्यवस्था भी उन्हें स्वयं ही करनी पड़ती है। यह भी कोई जरूरी नहीं रह गया है कि रासलीला स्थल मंदिर में हो, परंतु

अक्सर आज भी इसके लिए मंदिर के आंगन को ही काम में लाया जाता है। कभी कभी संरक्षक का घर, खुले मैदान में तैयार किये गये रंगमंच अथवा सभागारों में भी रासलीला खेली जाती है।

रासलीला के प्रदर्शन के लिए हमेशा ही एक विशेष प्रकार के मंच की आवश्यकता पड़ती है। आमतौर पर यह पत्थर या कंक्रीट का बना हुआ, तीन फीट ऊंचा एक गोल चबूतरा होता है। गोल मंच का जो सांकेतिक महत्व है, वह भी अपने आप में स्पष्ट है – यह श्रीमद्भागवत के रासमंडल का प्रतीक जो ठहरा। रंगमंच के एक सिरे पर एक चबूतरा बनाया जाता है, जिसे रंगमंच कहते हैं। कभी कभी इसके स्थान पर एक ऊंचे आसन से भी काम चला लिया जाता है। इस आसन को रंगमंच की भाषा में सिंहासन कहते हैं। रंगमंच के दो स्तरों का होना आवश्यक होता है। यह विभाजन संस्कृत रंगमंच के दो स्तर अर्थात रंगपीठ और रंगशीर्ष के अनुरूप है। ऐसे सभी दृश्य जिनमें राधा और कृष्ण दैव रूप में प्रकट होते हैं और जिस रूप में उन्हें लीला की समाप्ति पर दर्शाया जाता है, पश्च मंच पर ही किये जाते हैं। इसके विपरीत शेष सभी दृश्य जिनमें कालगति अथवा स्थल परिवर्तन दिखाए जाते हैं निचले मंच पर ही किये जाते हैं। कुटियट्टम मंच का विभाजन भी इसी प्रकार किया जाता है, हालांकि वहां उनका प्रयोग कुछ भिन्न उद्देश्यों के लिए होता है। अभिनय क्षेत्र के विभिन्न स्तरों में विभाजन की परंपरा नाट्यशास्त्र में वर्णित कथा विभाजन के अनुरूप है। कुछ अन्य नाट्य विधाओं की तरह ही, यहां भी विधि विधान पर्दे के पीछे चबूतरे या सिंहासन पर ही किये जाते हैं। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सभी प्रकार के नाट्य प्रदर्शनों के आरंभ में किये जाने वाले विधि विधान, चाहे संक्षिप्त हों या विस्तृत, अभिनय प्रदर्शन के आवश्यक तथा अभिन्न अंग होते हैं और उनसे बचा नहीं जा सकता।

ब्रज रास में बाल कलाकार के शृंगार करने और उसे पोशाक आदि पहनाने में जो समय लगता है उसे उसके अवतार में रूपांतरण होने की अवधि माना जाता है। अपने नये रूप में कलाकार 'स्वरूप' कहलाते हैं। शृंगार हो जाने के बाद कलाकार व्यक्ति भर नहीं रह जाता, वह देवत्व का साकार प्रतीक बन जाता है और इस मानव स्वरूप को वही आदर सत्कार दिया जाता है जो एक देवमूर्ति को दिया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, दूसरे लोग उसे अपने कंधों पर उठाकर लाते-ले जाते हैं, स्वामी और भक्त समान रूप से उसकी पूजा अर्चना करते हैं और वह पूर्णरूपेण देवत्व की पदवी और उसके गुण तथा लक्षणों से संपन्न माना जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नाट्य प्रदर्शन को दो स्पष्ट भागों में विभाजित किया जाता है। इनमें से एक रास और दूसरा लीला कहलाता है। कुछ विद्वान इसे तीन भागों में विभाजित करना पसंद करते हैं – अर्थात, नृत्य रास, संगीतिका और लीला।

लीला प्रारंभ होने से ठीक पहले पर्दे के पीछे झांकी प्रस्तुत की जाती है। पर्दे को दो सहायक थामे खड़े रहते हैं। पर्दा जैसे ही उठाया जाता है सामने सिंहासन पर राधा-कृष्ण के दर्शन होते हैं। मंगलाचरण के रूप में वंदना गायी जाती है। इसी बीच स्वामी, जो अभिनय प्रदर्शन का निदेशक भी होता है, राधा, कृष्ण और गोपियों के चरणस्पर्श करते हुए उनका आह्वान करता है। इस अवसर पर गाये जाने वाले पद संस्कृत और ब्रज भाषा के होते हैं और विभिन्न साहित्यिक स्रोतों से इन्हें लिया जाता है। इनमें गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु और गुरु महेश्वर के रूप में गुरु वंदना से लेकर, सूरदास के पद या स्वयं स्वामी की रचनाएं तक सम्मिलित रहती हैं। मंगलाचरण के भी दो हिस्से होते हैं – संस्कृत का श्लोक और पूजा का दोहा। मंगलाचरण के गायन को संगीतज्ञ और साथी वादक साथ साथ दोहराते जाते हैं। अवसर के अनुकूल विशेष गीत अथवा तुकांत द्विपदियां भी गायी जाती हैं। इस अंश को आमतौर पर ध्रुपद शैली में गाया जाता है। लीला का पहला चरण उस समय समाप्त हो जाता है जब गोपियां थालियों में आरती का सामान लेकर मंच पर उपस्थित होती हैं। गोपियां धूप, दीप एवं पुष्प लेकर अत्यंत भव्य विधि से 'स्वरूप' की आरती उतारती हैं। संगीतज्ञ आरती गाते हैं और गोपियों की भूमिका निभाने वाले बाल कलाकार गायन में उनका साथ देते हैं। रास के पहले दो चरणों में तो स्तुति ही होती है, जिससे वातावरण में गांभीर्य और भक्ति भावना का प्रादुर्भाव हो जाता है। आरती के पद भी विभिन्न साहित्यिक स्रोतों से लिये जाते हैं और प्राय: स्वयं स्वामियों की रचनाएं भी इनमें सम्मिलित रहती हैं। जैसा कि स्वाभाविक है, यह आरती दिव्य युगल राधा और कृष्ण के सामने उतारी जाती है। इसके पश्चात गोपी-प्रार्थना की जाती है जिसमें गोपियां कृष्ण से नृत्य रास प्रारंभ करने का अनुग्रह करती हैं। साधारण गद्य

में कृष्ण से रासमंडल में पधारने की प्रार्थना की जाती है। इस पर कृष्ण राधा की ओर घूमकर उससे रास में सम्मिलित होने के लिए कहते हैं। यह संवाद गद्य और पद्य दोनों विधाओं में बोले जाते हैं। कृष्ण के प्रस्ताव को राधा सहर्ष स्वीकार करते हुए स्नेहपूर्ण पदों के माध्यम से कृष्ण का गुणानुवाद करती है, जिसमें कृष्ण को रासशिरोमणि अथवा रसिकाशिरोमणि जैसे अलंकरणों से विभूषित करते हुए सर्वोत्कृष्ट संगीतज्ञ और नर्तक बताया जाता है। अधिकांश पद अष्टछाप साहित्य अथवा गोसाइंयों की रचनाओं में से लिये जाते हैं। इन गोसाइंयों में हित हरिवंश और हरिदास आदि उल्लेखनीय हैं। राधा का स्वीकृति संबंधी प्रत्युत्तर समाप्त हो जाने पर युगल धीरे धीरे रासमंडल की ओर बढ़ता है। इसे वस्तुतः रास की भूमिका कहा जा सकता है। ठीक इसके बाद प्रदर्शन का सर्वाधिक आकर्षक अंश अर्थात रास नृत्य प्रारंभ हो जाता है। इसमें अनेक जटिल नृत्यपरक संरचनाओं का समावेश रहता है और इसकी रचना विभिन्न चरणों में बड़े ही सुनियोजित ढंग से की जाती है। रास के प्रारंभिक चरणों में मुख्यतः स्वांग और अभिनय ही होता है, जिनमें अधिकांशतः संभाषण और गायन ही होता है; परंतु मुख्य रास तो वस्तुतः शुद्ध 'नृत्त' ही होता है। संगत ध्वनियों के रूप में प्रायः'बोलों' का सहारा लिया जाता है, जो कि समसामयिक कथक और ब्रज रास में एक जैसे ही होते हैं। रास के प्रारंभ में राधा और कृष्ण एक-दूसरे की तरफ मुंह करके आमने-सामने खड़े होते हैं और गोपियां उनके बीच में रहती हैं। जैसे जैसे रास आगे बढ़ता है आकृतियां वृत्ताकार होती जाती हैं। इस नृत्य में नृत्यकारों द्वारा परस्पर हाथ और बांहों के फंदे डालने की विधियां बहुत प्रकार की होती हैं। स्वर संगत के रूप में स्मरणकारी पखावज ध्वनियां ही नहीं बल्कि तकनीकी शब्दों से युक्त बहुत-से पद भी सस्वर गाये जाते हैं। पाद पटकनी, कटि चालन, चेहरे के हाव-भाव और हस्त चालन का प्रायः उल्लेख रहता है। इसके अतिरिक्त नृत्य मंडलों के स्वरूप और हाथ के फंदों के माध्यम से बनाए जाने वाले विभिन्न नृत्यपरक पैटर्न के संकेत भी काफी पाये जाते हैं।

नृत्य तकनीक एक परिष्कृत और विकसित ताल तंत्र पर आधारित है और इसमें मंद, मध्यम और तीव्र सभी शैलियों का प्रयोग है। वृत्ताकार आकृतियां पुराणों में उल्लेखित रास तथा हाथ और बांहों से बनाए जाने वाले फंदों की विभिन्न संरचनाओं के अनुरूप होती हैं। खुले और बंद नृत्य चक्र हमें गति संरचना के उस विशिष्ट वर्ग की याद दिला देते हैं जिसे भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में 'पिंडी' की संज्ञा से अभिव्यक्त किया है। नाट्यशास्त्र में प्रदर्शन की प्रारंभिक तैयारियों के संदर्भ में पिंडीबंधों का उल्लेख मिलता है। इन्हें वहां चार या पांच प्रकार का बताया गया है। इनमें से प्रमुख ये हैं – शृंखला अथवा खुला वृत्त, गुल्म (गुच्छ रचना) अथवा बंद वृत्त और कमल की पंखुड़ियों की त्रिज्यसम संरचना। ब्रज रास में ये सभी संरचनाएं पायी जाती हैं, बेशक ब्रज रास की नृत्य तकनीक और नाट्यशास्त्र में वर्णित गति संरचना में कोई सीधा संबंध भले ही न हो। भारत के अन्य अनेक आदिवासी और लोक-नृत्यों में इन प्राचीन विवरणों को आज भी देखा जा सकता है।

विष्णु पुराण में दिये गये रास वर्णन के अनुसार यहां भी एक स्थल पर गोपियां कृष्ण का अनुकरण करती हैं और इसके बाद कृष्ण द्वारा अकेले ही एक अत्यंत श्रमसाध्य और उत्तेजक नृत्य शृंखला प्रस्तुत की जाती है। इस एकल नृत्य की एक लाक्षणिक विशेषता यह होती है कि यह घुटनों के बल किया जाता है। इस दृष्टि से यह यक्षगान की मंडी नामक नृत्य मुद्रा और मणिपुर रास के ठेठ कृष्ण नृत्य के समान ही होता है। ब्रज रास की अन्य चेष्टाएं नाट्यशास्त्र में वर्णित विशिष्ट प्रकार की भ्रमरियों तथा कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् नाटक के अंतर्गत उर्वशी की खोज के दौरान विक्रम द्वारा किये जाने वाले नृत्य के अनुरूप ही होती हैं।

रास में पाद पटकनी का विशेष महत्व होता है और यह प्रारंभिक भाग की साधारण गतियों और चालन कदमों के, जो कि सरल और सहज होते हैं, एकदम विपरीत होती है। कथक में प्रायः अनेक स्मृति सहायक ध्वनियां जैसे थाई, थुन, थुन, भीक, गदगिन आदि का प्रयोग किया जाता है। इन्हें 'परिमूल' कहा जाता है। कुछ अन्य ध्वनियां अब केवल रास तक सीमित रह गयी हैं और कथक में आजकल उनका प्रयोग नहीं किया जाता। खड़े होने और चालन चेष्टाओं की भी अपनी एक विशिष्ट शैली होती है। कथक से भी इसका कुछ संबंध होता अवश्य है, परंतु उससे यह एकदम भिन्न ही होती है। घिरनी या 'चक्र' दोनों ही शैलियों में समान रूप से पाये जाते हैं। क्षेत्र विशेष में विभिन्न स्तरों पर रूपों के अन्यान्याश्रिता का एक और उदाहरण ब्रज रास के रास और लीला अंग तथा कथक के नृत्त और गत भाव अथवा अर्थ भाव के पारस्परिक संबंध हैं। इनके विविध तत्वों के विस्तृत तकनीकी अध्ययन से इन पारस्परिक संबंधों की प्रकृति के विषय में महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त की जा सकती

है। टुकरा या टोरा जैसी संरचना दोनों में ही समान रूप से पाई जाती है।

ब्रज रास में डांडिया रास अथवा लकुट रास भी समाविष्ट किया जा सकता है। इस रास का गुजरात के साहित्य में वर्णन मिलता है और भारत, विशेषकर सौराष्ट्र के अन्य भागों में भी लोग इससे परिचित हैं। इसके अतिरिक्त ब्रज रास में रोशनी और मोमबत्तियों का सहारा भी लिया जा सकता है। आजकल तो भवाई की तरह कलाबाज गिलास और बर्तन आदि को हवा में साधने के कौशल का प्रदर्शन भी इस रास के अंतर्गत कर सकता है।

जैसे जैसे आवेग बढ़ता है, दर्शक भी इसमें सम्मिलित होते जाते हैं और फिर बहुत-से युगल और समूह नृत्त, तीव्र गति चेष्टाओं, मिली जुली लयों, जीवंत गीतों से उत्पन्न हर्षोल्लास के बीच एकदम पल भर में नृत्य रास समाप्त हो जाता है। लोग मूर्तिवत् स्थिर और शांत हो जाते हैं और इसके साथ ही राधा-कृष्ण वापस सिंहासन पर ऐसे शांत भाव से विराजमान हो जाते हैं, मानों चित्र में जड़ दिये गये हों। मनोविनोद और क्रीड़ा के लिए जो कल्पनाजन्य देव पृथ्वी पर उतरते हैं उनका देवत्व प्रत्यारोपण इस बिंदु पर समाप्त हो जाता है। स्वामी मंच पर आकर मंडली के सदस्यों के प्रति सम्मान प्रकट करता है। दर्शक भी इसमें सम्मिलित हो जाते हैं और फल, फूल, पैसे अथवा अपनी इच्छानुसार जो भी बन पड़ता है, राधा-कृष्ण को अर्पण करते हैं। साथ ही साथ समापन गीत भी गाया जाता है।

अंत में, रास में कृष्ण अथवा ठाकुरजी (जैसा कि उन्हें रास में संबोधित किया जाता है) द्वारा प्रवचन दिया जाता है। स्वयं कृष्ण के रूप में वह कृष्णावतार के विशिष्ट गुण धर्मों अथवा किसी अन्य विषय पर बोल सकता है। बीच बीच में गीता और अन्य धर्मग्रंथों का उल्लेख किया जाना एक प्रचलित प्रथा है। फिर पर्दा उठाकर उसे पकड़े रखा जाता है और इसी बीच भगवान के ये अवतार – 'स्वरूप' – वापस चले जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि इस समूचे अभिनय के दौरान प्रतीकात्मकता की वास्तविकता अथवा रंगमंचीय प्रदर्शन के दोहरे स्तर को सदा ध्यान में रखा जाता है। बाल कलाकारों द्वारा अभिनीत यह रास कहीं अन्य स्थल पर घटने वाली घटनाओं का संकेत देता है। विषयवस्तु के वास्तविक प्रस्तुतिकरण अथवा इसकी साहित्यिक व्याख्या का प्रयास इसमें नहीं रहता। यहां अपनाई जाने वाली शैली और तकनीकें महाभारत के इर्दगिर्द घूमने वाले महाकाव्यमूलक नाटकों से बहुत भिन्न होती हैं। लीलाएं, चाहे वे रामलीला हों अथवा कृष्णलीला, वस्तुतः मनोविनोदपूर्ण होती हैं जिनका रहस्यात्मक महत्व होता है। ये प्रायः संगीतमय होती हैं। इनमें स्वप्निलता का पुट रहता है और नृत्य के माध्यम से अभिनीत की जाती हैं। इनमें लोकधार्मिक तत्व नहीं होता।

जहां रास समाप्त होता है, वहीं से लीला शुरू होती है। रास की अपेक्षा लीलाएं अष्टछाप धारा की कविता पर अधिक आश्रित रहती हैं। इंद्र ब्रह्मचारी नाम के एक व्यक्ति द्वारा संकलित श्रीकृष्णलीला रहस्य नामक एक संग्रह में 16वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक के कवियों सहित समसामयिक रासधारियों की रचनाओं को भी स्थान दिया गया है। नंददास, सूरदास और कुंभनदास की रचनाएं तो प्रसिद्ध हैं ही, स्वामी हरिदास और श्रीहित हरिवंश की रचनाओं से भी बहुत लोग परिचित रहे हैं। रासधारियों अथवा विभिन्न रासमंडलियों के रंगपटल में 150 से भी अधिक लीलाएं सम्मिलित हैं। भिन्न अवसरों के लिए भिन्न भिन्न लीलाओं का चयन स्वामियों द्वारा किया जाता है। इनमें से कुछ लीलाओं की विषयवस्तु पुराणों में पाई जाती है और कुछ बाद की खोज हैं। माखन चोरी और उद्धव लीलाएं तो काफी प्रसिद्ध हैं। इन लीलाओं में गद्यात्मक एवं पद्यात्मक संवाद, गायन और स्वांग की काफी गुंजाइश रहती है। चाचा वृंदावनदास की कृतियों का तो अपने आप में अलग से एक वर्ग बन गया है और आजकल अनेक रासमंडलियों द्वारा प्रायः अपनाया जा रहा है।

लीलाओं की नाट्य संरचनाएं स्पष्टतः विभाजित रहती हैं। जहां संवाद अभिनयरत पात्रों द्वारा बोले जाते हैं, वहीं नाट्य चेष्टाओं और घटनाओं को जोड़ने वाले वर्णनात्मक अवतरणों का गायन स्वामियों का उत्तरदायित्व होता है। यथावश्यक विरामों के साथ प्रस्तुत की जाने वाली कथा को इस विभाजन से गति और संवेग की प्राप्ति होती है। इसकी सहायता से कुछ अंशों को नजरअंदाज किया जा सकता है अथवा आवश्यकतानुसार उचित स्थलों पर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। दूसरे नाटकों की तरह यहां भी गद्य एवं पद्य तथा सस्वर गायन और गीतों का यथोचित मिश्रण उपस्थित रहता है। दक्षिण भारतीय नाटकों में, जैसा कि आप जानते हैं वचन, गद्य और चंपू पद्य का प्रयोग किया जाता है। यहां भी कभी कभी सीधे गद्य अवतरणों और पद्यांशों का प्रयोग किया जाता है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि कोई एक चरित्र एक दोहे को गाता है,

और बाकी कलाकार उसे दोहराते हैं। कभी कभी तो पूरा संवाद ही काव्यमय होता है। इसके अतिरिक्त यदा कदा पात्र माखनचोरी जैसे वास्तविक और प्राकृतिक स्वांग करता है और उसका वर्णन कोरस द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। माखनचोरी एक ऐसा उदाहरण है जिसमें मक्खन आदि पदार्थ वास्तव में उपयोग में लाए जाते हैं।

कृष्ण, राधा और यशोदा की भूमिकाएं प्रायः बाल कलाकारों द्वारा निभाई जाती हैं। कृष्ण के संदेशवाहक उद्धव और सुदामा का अभिनय प्रायः स्वामी स्वयं करते हैं। स्वामी कथावाचक और निर्देशक से लेकर चरित्रनायक तक की भूमिका अदा करते हैं। उन्हें लीला में सुधार करने, बदलने और कथा जोड़ने की पूरी स्वतंत्रता रहती है। वह पुराने ग्रंथों का संपादक मात्र नहीं होता जो अवसर के अनुकूल उनमें से सामग्री का चयन भर करता हो, बल्कि वह कवि, रचनाकार, कलाकार और प्रायः उपदेशक भी होता है। दर्शक उसे मंत्रमुग्ध होकर सुनते हैं। रास की भावप्रधान श्रद्धा का स्थान आवेशपूर्ण उत्साह ले लेता है और जैसे जैसे समय गुजरता है दिनोंदिन, रातोंरात देखने वालों की भीड़ हजारों की संख्या में उमड़ने लगती है।

जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है, रास का संगीत विभिन्न रागों और तालों में निबद्ध होता है। अधिकांशतः अष्टछाप धारा के कवि अपनी रचनाओं में रागों और तालों का संकेत कर देते हैं। यह परंपरा जयदेव से प्रारंभ हुई थी। कुछ राग और ताल ब्रज रास और हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में समान रूप से पाए जाते हैं। कुछ अन्य संगीत ध्वनियां स्थानीय धुनों और लोक गीतों से ले ली जाती हैं। प्रमुख वाद्य यंत्रों में मृदंग अथवा पखावज, मंजीरा, बांसुरी और अब सारंगी तथा सितार और यहां तक कि हारमोनियम को भी सम्मिलित किया जाता है। मध्ययुगीन काव्य में रबाब, वीणा, डफ और खंजरी आदि वाद्य यंत्रों का भी वर्णन मिलता है, परंतु अब प्रायः इन्हें प्रयोग में नहीं लाया जाता।

रासलीला में प्रयुक्त पोशाकों और शृंगार की तरफ पाठकों का ध्यान पहले ही आकृष्ट किया जा चुका है। इनका उद्देश्य चरित्रों को मूर्ति रूप में चित्रित करने का रहता है। कृष्ण धोती अथवा पायजामा पहनते हैं और ऊपर एक झालरदार कुर्ता जो संभवतः 'कटकचनी' कहलाता है। ये झालरें कई रंगों की होती हैं और इनमें पीले, नीले और बैंगनी रंग की बहुतायत रहती है। कुर्ता कमर पर पटके से कसा रहता है। ऊपर पहना जाने वाला कुर्ता पूरी बांह वाले ब्लाउज जैसा होता है। रासलीला के बाद के भागों में कुर्ते का स्थान पीली धोती या 'पीतांबर' ले लेता है। ब्लाउज और कुर्ते के ऊपर हार, मनके और मोती की मालाएं पहनी जाती हैं। ब्रज रास में यह पोशाक अपने आप में विशिष्ट कही जा सकती है, परंतु सिर का पहनावा तो इसका अद्वितीय होता है। पगड़ी अथवा 'पाग' के ऊपर अनेक अलंकार पहने जाते हैं। पगड़ी के बीच में मोरपंखी का एक गुच्छा फंसा दिया जाता है। इसके एक तरफ सोने का मुलम्मा चढ़ा एक अन्य शंक्वाकार अलंकार कुछ तिरछा करके बांध दिया जाता है। बीच में मोरपंखी के सामने सोने का मुलम्मा-चढ़ी हुई एक कुदालीनुमा कलगी रहती है। कानों के ऊपर दोनों तरफ नकली बालों की लटें पहनाई जाती हैं अथवा कंधे या सीने तक फुंदे लटकाए जाते हैं। सोने का मुलम्मा चढ़े हुए एक मुकुट अथवा मोर-मुकुट की सहायता से ये सब अलंकार सध जाते हैं। यह मुकुट आधे माथे को ढके रखते हुए कलगी और शंकु को जो कि ठीक इसके पीछे होते हैं, अपनी जगह जकड़े रहता है। वल्लभ संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा पहनी जाने वाली कलगी कुछ बाईं ओर को झुकी रहती है और गौड़ीय तथा निंबार्क संप्रदाय वालों की दाईं तरफ को। पीछे की तरफ पगड़ी से एक काले कपड़े की पट्टी लटकी रहती है जो नितंब अथवा घुटनों तक लंबाई की होती है। कथकलि के कृष्ण की पोशाक में भी यह काली पट्टी रहती है। इस चोटी के विषय में लोगों का विश्वास है कि कृष्ण द्वारा कालिय के दमन की कथा से इसका संबंध है। वैसे यह भी लगता है कि संभवतः सिर पर पहने जाने वाले अनेक अलंकारों के फीतों आदि को छिपाने की यह एक कलात्मक युक्ति है। राधा और गोपियों की पोशाक में साधारण-सी साड़ी अथवा घाघरा, मुकुट तथा हार और मालायें सम्मिलित होती हैं।

कृष्ण द्वारा पहने जाने वाली पोशाक की परंपरा काफी प्राचीन प्रतीत होती है। यह बात इससे भी स्पष्ट है कि 16वीं शताब्दी और उसके बाद के राजस्थानी चित्रों में भी कृष्ण धोती के ऊपर कई कुर्ते अथवा अनेक झालर और चुन्नटों से युक्त कुर्ता पहने ही दर्शाये गये हैं। श्रीनाथ और नाथद्वार पिछवई के चित्रों में भी कृष्ण कुर्ता, कलगी, लटकते हुए गुच्छे और मोर-मुकुट धारण किये हुये दर्शाए गये हैं। ऐसा लगता है कि राजस्थान और गुजरात में यह पोशाक 300-400 वर्षों से प्रचलित रही है। उत्तरप्रदेश की मृगवती शृंखला के लघुचित्रों में भी कृष्ण इसी पोशाक को पहने दिखाए गये हैं। अकबर के

दरबार के कुछ चित्रों में इस प्रकार के घाघरों के प्रमाण मिलते हैं, परंतु वे जरा इनसे कुछ भिन्न प्रकार के होते हैं।

वर्तमान रास में प्रयुक्त पोशाकों का स्रोत कुछ भी रहा हो, इतना तो स्पष्ट है कि रासधारियों द्वारा अपनाई जाने वाली रासों की परंपरा कृष्ण और उसके अतिरिक्त अन्य संदर्भों में भी काफी पुरानी और लोकप्रिय रही है।

मणिपुरी रासलीला द्वारा अपनाई जानेवाली पोशाकें उनकी अपनी ही हैं और कुछ पारलौकिकता उनमें रहती है। इसमें यह दर्शाया जाता है कि सांसारिक प्राणी और दिव्य विभूतियों की पोशाकें समान नहीं होतीं। ब्रज रास से ये पोशाकें एकदम भिन्न होती हैं। कुल मिला कर ब्रज रास भारतीय कलात्मक परंपराओं की एक विशिष्ट और लुभावनी तस्वीर प्रस्तुत करता है। यह एक ऐसा क्षेत्रीय कला रूप है जिसका संबंध अतीत से भी है और भारत के अन्य भागों से भी। हालांकि इसकी विषयवस्तु पर 16वीं शताब्दी के साहित्य का बहुत भारी प्रभाव है, फिर भी इसके स्रोत संस्कृत साहित्य तक में ढूंढ़े जा सकते हैं।

नाट्य और काव्य विधा की दृष्टि से यह बंगला, असमिया, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं के साहित्य से काफी मिलती जुलती है। कलात्मक शिल्प में इसके कई पहलू सूक्ष्म चित्रों जैसे हैं। नृत्य शिल्प में सुपरिष्कृत नगरीय कथक से इसका बहुत निकट का संबंध है।

अत: फिर से हमारे सामने एक ऐसा नाट्य रूप प्रस्तुत है जो सिर्फ ऊपर से ही सादा, अपरिष्कृत और ग्राम्य है। उम्मीद है, इसके विभिन्न तत्वों के विश्लेषण से यह जाहिर होगा कि लोक या देशी कलारूपों में मार्गी या सुपरिष्कृत परंपरा के अनेक तत्वों का समावेश है। इसका बाह्य वातावरण यानी उसकी सामाजिक संरचना, निश्चित रूप से ग्राम्य है और कुछ हद तक इसे 'लोक' भी कहा जा सकता है। किंतु इसकी अंतःसंरचना सुनियोजित है तथा अभिनय, नृत्य और संगीत की तकनीकों को इसमें भली भांति पहचाना जा सकता है।

11

यात्रा

हम पहले भी कह चुके हैं कि भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा में बंगाल और ओड़िसा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ओड़िसा अनेक प्राचीन संस्कृतियों का केंद्र रहा है। खंडगिरि और उदयगिरि के स्मारक इसके उत्तम उदाहरण हैं। हम यह भी जानते हैं कि यहां एक समृद्ध और दीर्घकालिक जैन परंपरा थी और बौद्ध धर्म यहां लंबे समय तक फूलता-फलता रहा था। भुवनेश्वर,पुरी और कोणार्क के मध्यकालीन स्मारक वास्तुकला और मूर्तिकला की एक समृद्ध और वैविध्यपूर्ण परंपरा के साक्षी हैं। इन्हें राजाओं और राजकुमारों का प्रश्रय मिला था,किंतु अनेक,स्तरीय,जनजातीय तथा ग्रामीण संस्कृति ने भी इनका पोषण किया था। आज यह स्वीकार किया जाता है कि क्षेत्रीय संस्कृति के विकास में विभिन्न जनजातियों और जातियों का भी योगदान रहा है। साओरा और पाइक जातियों ने जिन परंपराओं का पोषण किया है वे इस पोषण के अभाव में नष्ट हो चुकी होतीं। इसी प्रकार बंगाल भी प्राचीनकाल,मध्यकाल और आधुनिककाल में भारत के अनेक आंदोलनों का प्रवर्तक रहा है। यहां भी वही बहुस्तरीय समाज दिखाई देता है जिसमें अनेक जातियों ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। पाल और सेना के मध्युगीन राजवंशों ने भारतीय मूर्तिकला की उत्तम कृतियां हमें दी हैं। पड़ोसी क्षेत्रों,विशेषकर बिहार,ओड़िसा और नेपाल की संस्कृतियों पर बंगाल का प्रभाव सुविदित है। बंगाल की जनजातीय संस्कृति ने पुरुलिया छऊ जैसे नाट्यरूप का पोषण किया है जिसकी बिहार और ओड़िसा के इसी वर्ग के नाट्यरूपों से बहुत समानता है। बंगाल,बिहार और ओड़िसा के जनजातीय समाजों के बीच भी अनेक समानताएं हैं।

ऊपर से साधारण दिखाई देने वाली किंतु सशक्त और लोकप्रिय नाट्य रूप यात्रा (जिसे बोलचाल में जात्रा कहा जाता है) पर विचार करते समय इन सब पर और इनके अतिरिक्त कुछ और तथ्यों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। चूंकि इस परिदृश्य की देशगत तथा कालगत रूपरेखाएं सुविदित और सुनिश्चित हैं, अत: हमने जानबूझ कर यहां उनकी विस्तारपूर्वक चर्चा करने का प्रयास नहीं किया है। यह कहना भी आवश्यक प्रतीत नहीं होता कि इस क्षेत्र में सदा ही संस्कृत के अनेक महान लेखक हुए हैं और 10वीं शताब्दी से लेकर 16वीं शताब्दी तक के काल में यहां संस्कृत भाषा के क्षेत्र में उतनी ही गतिविधियां दिखाई देती हैं जितनी नयी विकासशील भाषाओं के क्षेत्र में। इन विकासशील भाषाओं ने ही अंततः मैथिली,बांग्ला और ओड़िआ भाषाओं का रूप ग्रहण किया।

रासलीला, अंकिआ-नाट या भाओना के संदर्भ में हम बंगाल, ओड़िसा, बिहार, उत्तरप्रदेश और असम की समान भाषागत और सांस्कृतिक परंपरा की चर्चा कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार असमिया,अवधी,बांग्ला,गुजराती, मैथिली, ओड़िसा और राजस्थानी – सबका उद्भव अपभ्रंश और लौकिक से हुआ है। हमने मध्यकाल के भारतव्यापी

वैष्णव आंदोलन की सामान्य विशेषताओं को रेखांकित करने का प्रयत्न भी किया है जो विचारों और कलात्मक अभिव्यक्तियों की गतिशीलता का एकमात्र माध्यम तो नहीं, किंतु एक बड़ा माध्यम अवश्य सिद्ध हुआ।

चौदहवीं और 18वीं शताब्दी के बीच के काल में भारत के अनेक भागों में साहित्यिक और नाट्य विधाओं के विकास की पृष्ठभूमि यही समान परंपरा रही है। मध्यकाल की इन गतिविधियों का उत्तर और पूर्वी भारत तथा दक्षिण भारत की भी संस्कृत परंपरा से सदैव संबंध बना रहा है।

जहां उत्तर भारत और पूर्वी भारत के पश्चिमी भागों में ऐसे ही आंदोलन व्यापक रूप से चले हैं, बंगाल, बिहार और ओड़िसा मिल कर एक ऐसा बड़ा वर्ग बनाते हैं जहां एक ही समय में अनेक समानांतर घटनाएं घटती दिखाई देती हैं। जैसे बांग्ला भाषा का मध्यकाल (1350 - 1800 ई) तथा ओड़िआ साहित्य का उत्तर-गंग या उत्तर-सारला काल कहा जाता है, उसमें पारस्परिक प्रभाव और पारस्परिक क्रिया की गति बहुत तीव्र रही। प्रत्येक क्षेत्र और उसकी कलात्मक विधाओं की विशिष्टता के बावजूद सभी क्षेत्रों के धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों, साहित्यिक विधाओं और कलात्मक अभिव्यक्तियों में बड़ा साम्य था।

ओड़िसा और बंगाल के यात्रा नाटक इस साम्य और विशिष्टता के बहुत अच्छे उदाहरण हैं। जहां ओड़िसा में यह विधा लोक विधा और ग्रामीण विधा मानी जाती है, वहीं बंगाल में इसने अत्यधिक व्यावसायिक कस्बाई रंगमंच की प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ली है जिसका आधुनिक रंगमंच के हाल के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

ओड़िआ या बांग्ला यात्रा के उद्‌भव के संबंध में निश्चयात्मक ढंग से कुछ कहना कठिन है। इस को लेकर बहुत मतभेद रहा है और भिन्न भिन्न धारणाएं व्यक्त की गयी हैं।

इन मतभेदों के इतिहास में जाना न तो हमारे लिए आवश्यक है और न ही लाभकर। फिर भी यह कहना प्रासंगिक होगा कि भिन्न भिन्न धारणाओं के बावजूद सभी इतिहासवेत्ता और साहित्यालोचकों ने नाट्यशास्त्र में यात्रा के उल्लेख की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और साथ ही बंगाल, बिहार और ओड़िसा में नाटकीय प्रस्तुति की शुरुआत जयदेव के गीत गोविंद से मानी है। वे इस बात पर भी सहमत हैं कि 15वीं और 16 वीं शताब्दी में एक विशिष्ट काव्य भाषा का आविर्भाव हुआ। जिसे ब्रजबोली कहते थे और जिसे केवल वैष्णव गीतकारों ने प्रयुक्त किया। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार शंकरदेव ने इस भाषा का प्रयोग किया और इसका मथुरा और वृंदावन के साथ क्या संबंध था। बंगाल, ओड़िसा और बिहार में भी अनेक वैष्णव कवियों और लेखकों ने इस भाषा का प्रयोग किया। इनमें मिथिला के उमापति और विद्यापति के नाम सुविदित हैं।

यद्यपि अधिकांश विद्वानों ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट नहीं किया है, तथापि यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्यिक शैलियों के क्षेत्र में जो घटनाएं घट रही थीं उन के साथ साथ संस्कृत भाषा की गतिविधियां भी चल रही थीं। केरल, आंध्र और कर्नाटक के संदर्भ में हम ऐसी ही एक घटना घटते हुए देख चुके हैं। अतः जहां संस्कृत की गतिविधियां विकास की एक रेखा की द्योतक थीं, वहीं क्षेत्रीय भाषा की गतिविधियां एक दूसरी और समानांतर विकास-रेखा की सूचक थीं, जिसकी परत ऊपर चढ़ जाती थी किंतु यह परत पुरानी प्रवृत्तियों को मिटाती नहीं थी।

प्रथम दृष्टि में यही प्रतीत होगा कि यात्रा नाटक जैसे नाट्य रूप का इन घटनाओं से कोई संबंध नहीं हो सकता। परंतु वस्तुतः साहित्य और कला के क्षेत्रों में घटने वाली इन बहुआयामी घटनाओं का उस पर प्रभाव पड़ता है। यात्रा नाटक की अनेक परिपाटियां प्रत्यक्षतः या परोक्षतः संस्कृत नाटक की परिपाटियों से ही निकली हैं। निश्चित रूप से उसकी आधारभूत संरचना संस्कृत परंपरा से ही ग्रहण की गयी है, यद्यपि आगे उसका विकास स्पष्टतः क्षेत्रीय ढंग से हुआ है। ओड़िसा में विद्याधर ने 'एकावली' और गोवर्धन आचार्य ने 'आर्यसप्तशती' की रचना संस्कृत में की। संस्कृत आलोचकों और शास्त्रियों का क्रम बना रहा, यहां तक कि 'साहित्य दर्पण' के लेखक विश्वनाथ और 'सिद्धांत दर्पण' के लेखक सामंतचंद्र शेखर जैसे महान व्यक्तित्वों का उदय हुआ। बंगाल और ओड़िसा में संस्कृत नाटक अभिनीत होते थे। बंगाल और ओड़िसा में 'उत्तररामचरित' और 'मालती माधव' का अभिनय होने के विषय में लिखित संदर्भ उपलब्ध हैं। संभव है कि 'प्रबोध चंद्रोदय' जिसने शंकरदेव को प्रभावित किया था ओड़िसा में लिखा गया और मुरारि मिश्र का 'अनरघराघव' रामकथा पर पहला

शृंखला नाटक था। बंगाल में भी इसी प्रकार की गतिविधियां थीं। स्वाभाविक है कि यात्रा ने (भारत के अन्य भागों की नाट्य विधाओं की भांति) संस्कृत परंपराओं और क्षेत्रीय कलात्मक रूपों – दोनों से प्रेरणा और सामग्री ग्रहण की होगी। यात्रा की साहित्यिक सामग्री और उसकी विधागत तथा शिल्पगत विशेषताओं का विश्लेषण करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

बंगाल में एक गायन शैली थी जिसे 'चर्या' कहते थे। यह शैली 9वीं से लेकर 12वीं शताब्दी तक के काल में बहुत लोकप्रिय थी। अमरकोष के भाष्यों में इसका उल्लेख है और अनुदान से संबंधित कुछ ताम्रपत्रों में इसके कुछ अंश उद्धृत किये गये हैं। इन गीतों की भाषा अबट्ठ के निकट है और ये गीत उन लोगों की रचना माने जाते हैं जो बौद्ध धर्म की महायान शाखा के अनुयायी थे। एक बुद्ध नाटक और कुछ संगीत वाद्यों का उल्लेख भी मिलता है। यद्यपि इस साक्ष्य के आधार पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, फिर भी प्रतीत होता है कि यह एक प्रकार का संगीत नाटक था जो 9वीं शताब्दी से लेकर 12शताब्दी तक के समय में संभवतः प्रचलित था। इसी काल में ओड़िसा में भी 'चर्या पद' लोकप्रिय थे। प्राचीन काल से ओड़िसा बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा केंद्र था। ओड़िआ साहित्य तथा स्थापत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला की कृतियां साक्षी हैं कि बौद्ध धर्म का प्रभाव केवल प्राचीन भारत में ही नहीं, अपितु मध्यकालीन भारत में भी रहा है।

यद्यपि 'चर्या पद' और बौद्ध धर्म के विषयों पर आधारित नाटक आगे के विकास के लिए उपजाऊ भूमि सिद्ध हुए होंगे, तथापि काव्यात्मक, संगीतात्मक और नाटकीय कार्यकलापों की वास्तविक नींव बिहार, ओड़िसा और बंगाल में गीत गोविंद से पड़ी। इसका अद्वितीय और अभिभूतकारी प्रभाव उक्त क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं था, अपितु आंध्रप्रदेश, राजस्थान और आगे चलकर केरल तक पहुंच गया था। श्रीमद्‌भागवत और अन्य पुराणों से भिन्न गीत गोविंद की यह विशेषता थी कि उसमें आख्यान में नाटकीय तत्व का समावेश कर दिया गया था। गीत गोविंद में अंतराल संगीत और वर्णनात्मक अंशों के होते हुए भी और उसका स्वरूप गीतात्मक होने के बावजूद राधा, सखी और कृष्ण नाटक के चरित्र की भांति उभरे हैं। रासलीला के रूपनिर्धारण में उसकी परोक्ष किंतु महत्वपूर्ण भूमिका और दक्षिण भारत की सभी भाषाओं की काव्य रचनाओं पर प्रबंध विधा के प्रभाव से हम अवगत हो चुके हैं। विषय की दृष्टि से और साथ ही काव्य रचना की एक ऐसी नयी शैली के प्रवर्तन की दृष्टि से भी, जिसमें संगीत और नृत्य परस्पर घुलमिल गये हैं, गीत गोविंद के प्रभाव की चर्चा करते हुए गायन और सस्वर पाठ की उन शैलियों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है जो ओड़िसा और बंगाल में प्रचलित थीं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण थीं ओड़िसा की 'चौतिसा' रचनाएं और बंगाल के सिद्धाचार्यों के गीत। गीत गोविंद के उपरांत बांग्ला, ओड़िआ और मैथिली की समस्त काव्य रचनाओं में प्रबंध काव्य स्वरूप का अनुसरण किया जाने लगा और गीत गोविंद का अनुकरण करते हुए अनेक काव्य लिखे गये तथा गीत गोविंद के अनेक अनुवाद हुए। केवल ओड़िसा में कोई आधा दर्जन अनुवाद हुए। इनमें धरणीधर और वृंदावनदास के रूपांतर सर्वाधिक लोकप्रिय हुए। वृंदावनदास ने जयदेव की भांति ही राग और ताल की योजना भी सुलभ कराई।

मिथिला में उमापति (1324 ई.) और विद्यापति (1403 ई.) ने जयदेव के गीत गोविंद के रचना-स्वरूप का निष्ठापूर्वक अनुसरण किया। उमापति का पारिजातहरण एक पौराणिक प्रसंग पर आधारित था जो मध्यकाल में भारत भर में बहुत लोकप्रिय था। उन्होंने इसे संगीतबद्ध गीतों की ऐसी नाटकीय संरचना में प्रस्तुत किया जिससे इसकी नाट्य प्रस्तुति भी हो सकती थी। विद्यापति ने गोरक्षविजय की रचना की जो इसी प्रकार का एक संगीत नाटक था।

बंगाल में बड़ु चंडीदास की रचनाओं में गीत गोविंद की संगीत परंपराओं का अनुसरण किया गया था। श्रीकृष्ण कीर्तन में श्रीमद्‌भागवत पुराण और महाभारत से विषयवस्तु के रूप में प्रचुर सामग्री ली गयी है, किंतु कथा तीन चरित्रों अर्थात कृष्ण, राधा और एक वृद्धा बड़ाई के संगीतात्मक संवादों के माध्यम से प्रस्तुत की गयी है। इस प्रकार की त्रिकोण-पद्धति नाट्य रचना की पद्धति है और मध्यकालीन लेखन तथा नाट्य प्रस्तुति में यह पद्धति प्रायः सर्वमान्य हो गयी थी।

यह एक रोचक तथ्य है कि यद्यपि प्रबंध शैली भारत के अनेक भागों में समान रूप से लोकप्रिय थी, फिर भी रास या रासक जिसकी चर्चा रासलीला के संदर्भ में पहले की जा चुकी है बंगाल में प्रायः प्रचलित नहीं था। ब्रज बोली में कृत्तिवास द्वारा लिखी गयी केवल एक कविता मिलती है जिसे रास या रासो कहा गया है।

साथ साथ गद्य विधाओं का विकास भी हो रहा था। ये दक्षिण भारत की वचन विधाओं के समतुल्य थीं और इन्हें 'वचनिका' कहा जाता था। ये गद्य आख्यान लिखने की विधाएं थीं। ये गद्य आख्यान पौराणिक प्रसंगों और किंवदंतियों पर आधारित होने के साथ साथ इतिहास पर भी आधारित होते थे। ओड़िआ साहित्य और नाट्यगत गतिविधियों के क्षेत्र में इस

दृष्टि से सारलादास का योगदान जितना अधिक रहा है उससे अधिक योगदान जयदेव को छोड़कर किसी और का नहीं है। उन्होंने महाभारत का ओड़िआ में अनुवाद किया जो ओड़िसा की जन-भाषा थी। उन्होंने महाभारत के अनेक प्रसंगों को ऐसा मोड़ दिया और उसमें ऐसे परिवर्तन कर दिये जिनसे उनके अनुवाद में समसामयिक प्रासंगिकता और उपदेशात्मकता आ गयी। उनके पश्चात् अन्य लेखकों ने भी इस प्रकार का साहित्य लिखा। बांग्ला में परमेश्वर दास ने कुछ समय बाद महाभारत लिखा।

लेखक रामायण की कथा में भी रुचि लेने लगे जिसके परिणामस्वरूप लगभग इसी काल में बंगाल और उड़ीसा में रामायण के अनेक रूपांतर हुए। ओड़िसा में बलराम दास ने ओड़िआ रामायण लिखी जिसमें राम को तुलसीदास के ईश्वरावतार रूप राम की अपेक्षा मनुष्य रूप में अधिक चित्रित किया गया है। चरित्रों को स्थानीय और क्षेत्रीय रंग दिया गया और अनेक नयी घटनाएं जोड़ दी गयीं। कुछ समय बाद 16वीं शताब्दी के लगभग मध्य में कृत्तिवास ने बांग्ला रामायण की रचना की। बलराम दास की भांति ही उन्होंने भी कथा और भाषा दोनों में परिवर्तन किया और स्थानीय भाषा का प्रयोग किया जिसे जनता आसानी से समझ सकती थी। इन दोनों ने यात्रा नाटक जैसी नाट्यविधा के लिए श्रेष्ठ साहित्यिक सामग्री सुलभ करा दी।

इस काल में रामायण और महाभारत के साथ साथ श्रीमद्‌भागवत में भी रुचि ली जा रही थी। आयु में छोटे किंतु बलराम दास के ही समकालीन जगन्नाथ दास ने ओड़िआ भागवत की रचना की। उन्होंने कृष्ण के जीवन की घटनाओं का विशाल जनसमुदाय के समक्ष सस्वर पाठ किया। उनके जीवन को लेकर अनेक किंवदंतियां और लोककथाएं बन गयीं जो आज भी प्रचलित हैं।

गीत गोविंद के प्रभाव, चंडीदास, उमापति और विद्यापति के लेखन तथा रामायण, महाभारत और श्रीमद्‌भागवत के अनुवादों के इस वातावरण में चैतन्य महाप्रभु का उदय हुआ। उनका प्रभाव बहुत व्यापक था। वह बंगाल के भी थे और ओड़िसा के भी। एक में उनका जन्म हुआ था और दूसरे में उन्होंने अपने जीवन के अत्यंत महत्वपूर्ण वर्ष बिताए थे।

चैतन्य और उनके अनुयायियों ने भारत के विभिन्न भागों को ऐसे समय में सांस्कृतिक धरातल पर राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बांधा जब ये क्षेत्र बहुत कुछ राजनीतिक और आर्थिक विनाश देख चुके थे। पुनर्जागरण में उनका योगदान सर्वविदित है और उसकी चर्चा यहां आवश्यक नहीं है, यद्यपि इतिहासवेत्ताओं का विचार है कि उसका बड़े धरातल पर पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए। हमारा संबंध यहां उनसे है जिनकी नाटक के रचयिता और निर्देशक के रूप में कोई भूमिका रही है और जिन्होंने सचेतन रूप से धार्मिक-सामाजिक प्रयोजन के लिए नाटक के माध्यम का उपयोग किया है। संभवतः चैतन्य महाप्रभु ने नाटक की एकीकारी जनतंत्रात्मक भूमिका को समझ लिया था और जहां अन्यों ने इस दिशा में प्रयास किये थे और आंशिक रूप से सफल हुए थे, वहीं उन्होंने इन प्रयासों को ऐसी गति दी जिसका व्यापक प्रभाव केवल पूर्वी भारत पर ही नहीं अपितु उत्तर भारत के भी कुछ भागों पर पड़ा। प्रथम सुनिश्चित नाट्य प्रस्तुति का श्रेय उनको और उनके शिष्यों को ही है जिसमें स्वयं चैतन्य ने रुक्मिणी की भूमिका का निर्वाह किया था। कदाचित यह बंगाल और ओड़िसा के समकालीन जात्रा नाटक के पूर्वरूप कृष्ण यात्रा की शुरुआत थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बंगाल और ओड़िसा दोनों नृत्य और नृत्य नाटक की विधाओं से परिचित थे। बंगाल और ओड़िसा में 'नट गीति' विधा का प्रचलन था। गाथा गायन और नृत्य के भी अनेक रूप प्रचलित थे। इनमें से एक महत्वपूर्ण विधा वह थी जिसे आज साहि यात्रा कहा जाता है और जो जात्रा नाटक के वर्तमान रूप की पूर्वगामिनी थी। इसमें दो या अधिक मंडलियां जुलूस के रूप में प्रतियोगात्मक ढंग से आती थीं। ओड़िसा में भागवतघर की भी परंपरा थी जो असम के नामघर के समतुल्य है। इसके अतिरिक्त मंदिरों से संलग्न नाट मंडप भी थे। परंतु इन सभी तत्वों का समावेश करते हुए और विशाल दर्शक समुदाय के समक्ष प्रस्तुत किए जाने योग्य नाटकों की परंपरा की स्थापना निस्संदेह चैतन्य और उनके शिष्यों का ही विशेष योगदान था। उन्होंने नाटक को भागवतघर और नाटमंडप दोनों स्थानों से निकाल कर लगभग बाजार में पहुंचा दिया। ओड़िसा, वृंदावन और अन्य स्थानों का भ्रमण करते हुए उनकी भेंट अनेक अन्य वैष्णव संतों और कवियों से हुई। उनमें से अनेक ने वैष्णव विषयों पर नाटक और संगीत नाटक लिखे। ये सभी कृष्ण यात्रा पर जात्रा की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। चैतन्य के दो प्रमुख शिष्य रूप गोस्वामी और सनातन ऐसे अनेक नाटकों

के लेखक थे। कुछ नाटक कृष्ण से संबध थे और शेष अन्य कृष्ण और राधा विषय से। कहा जाता है कि रूप गोस्वामी के नाटक ललित माधव की प्रस्तुति राधाकांत मठ में हुई थी जो पुरी में चैतन्य का निवास स्थान था। राय रामानंद ने जगन्नाथ वल्लभ की रचना की थी और इसकी प्रस्तुति जगन्नाथ मंदिर के प्रागंण में हुई थी। बाद में मठ में इसकी अनेक प्रस्तुतियां हुईं। मठ चैतन्य के कार्यकलापों का एक और महत्वपूर्ण केंद्र था। जिस प्रकार रुक्मिणीहरण में चैतन्य ने रुक्मिणी की भूमिका की थी उसी प्रकार राय रामानंद ने नायक की भूमिका की। कहा जाता है कि कदाचित चैतन्य का शिष्य बनने के लिए उन्होंने ओड़िसा के शासक का पद त्याग दिया था। अनेक साक्ष्यों से सिद्ध है कि गोष्ठी और यात्रा कहे जाने वाले कितने ही नाटक पुरी में जगन्नाथ मंदिर के बाहर अभिनीत हुए थे। पीयूषलहरी ऐसा ही एक महत्वपूर्ण नाटक है।

इसमें संदेह नहीं कि इन सबके परिणामस्वरूप एक बृहतर धार्मिक-सामाजिक आंदोलन के अंग के रूप में नाटकों के अभिनय की परंपरा स्थापित हो गयी। यह बात महत्वहीन नहीं है कि चैतन्य के समकालीनों और उत्तराधिकारियों द्वारा लिखी गयी उनकी अनेक जीवनियों के अतिरिक्त लघुचित्रों, अलंकरणों और पुस्तकावरणों के रूप में ऐसी बहुत सारी चित्र सामग्री उपलब्ध है जिस में चैतन्य अपने शिष्यों के साथ नाचते-गाते दिखाए गये हैं।

उनके अनुयायियों की नाट्य गतिविधियां महत्वपूर्ण थीं। चैतन्य चंद्रोदय जैसे कुछ नाटक चैतन्य के जीवन पर आधारित थे। अन्य नाटक राधा-कृष्ण के अनेक पक्षों से संबद्ध थे। जयदेव ने राधा का चित्रण किया था जो इस दिशा में प्रारंभिक प्रयास था। उन्होंने उसे विशेष नायिका की प्रतिष्ठा प्रदान की थी। चैतन्य के अनुयायियों ने राधा के चरित्र में वैष्णव धर्म से संबद्ध अनेक आध्यात्मिक और धार्मिक अर्थवेत्ताओं का समावेश किया। इस समस्त नाट्यलेखन में संगीत की भूमिका प्रमुख थी। जगन्नाथ-वल्लभ जो पांच अंकों का संगीत नाटक कहा जाता है, संरचना की दृष्टि से गीत गोविंद के सदृश है। दान-केलि-कौमुदी जो स्वयं को उप-रूपक कोटि का भणित कहता है एक संक्षिप्त एकांकी नाटक है। विदग्ध माधव अधिक बड़ा और नियमित प्रकार का सात अंकों का नाटक है। ललित माधव और भी अधिक जटिल है। उसके कथ्य और कथानक की बुनावट दस अंकों में की गयी है।

सोलहवीं और 17वीं शताब्दी में चैतन्य के ही वैष्णव आंदोलन से दो धाराएं निकलीं। एक कीर्तन गायन की धारा थी और दूसरी धारा थी नाट्य प्रस्तुति की, जो कृष्ण या कृष्ण और राधा के कथ्य पर आधारित होती थी। आगे चलकर मणिपुर ने भी उन दोनों को अपना लिया। इस प्रकार इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में कीर्तन गायन और यात्रा प्रस्तुति की अलग अलग परंपराएं विकसित हुईं। असम में ये घटनाएं थोड़ा पहले या उसी काल में घटीं। ओड़िसा, बिहार, बंगाल, असम और मणिपुर के सभी भागों में 16वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी तक के काल में हुए इस विकास के इतिहास की पूरी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस विकास की कहानी बहुत रोचक है, क्योंकि यह भारत की सांस्कृतिक घटना की उस विशेषता की सूचक है जो क्षेत्रीय शैलियों और विधाओं की एक-दूसरे को प्रभावित करने की प्रवृत्ति में दिखाई देती है। तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश में यक्षगान और भागवतमेला के इतिहास की जानकारी प्राप्त करते हुए हम ऐसी ही पूर्व प्रक्रिया से अवगत हो चुके हैं। इस पारस्परिक प्रभाव और अंतःसंबंध के रहस्य इतने अधिक और इतने जटिल हैं कि यहां उनका उद्घाटन संभव नहीं है।

धीरे धीरे कृष्ण यात्रा गीत गोविंद के तीन चरित्रों अर्थात राधा, कृष्ण और सखी के पुराने रूप या पौराणिक कथाओं तक सीमित नहीं रही। ऐतिहासिक लेखन, सामाजिक व्यंग्य और यथार्थ का उसमें समावेश होने लगा जिसके कारण यह विधा जो पहले गीत और नृत्य से मुक्त और भक्तिभाव को व्यक्त करने वाली एक संगीतात्मक नाट्य विधा थी, समयांतर में गद्य नाटक की विधा में परिवर्तित हो गयी जिसमें संगीत, लय और अंग संचालन के अंश बीच बीच में दिखाई देने लगे। इन नये नाटकों में राम, शिव और कालि की कथाओं से लेकर मनुष्यों की प्रेमकथाएं तक थीं। विभिन्न देवी-देवताओं या नायकों के अनुगामियों के दल एक-दूसरे से स्पर्धा करते हुए अपने अपने नाटकों की प्रस्तुति साथ साथ या विशेष क्रम से करते थे। एक ऐसे यथार्थपरक सामाजिक नाटक का भी इसने रूप लिया जिसमें हिंसा, हत्या और आतंक के तत्व भी सम्मिलित थे। उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारंभ होते होते राम जात्रा, दुर्गा जात्रा, शिव जात्रा आदि की परंपरा बंगाल में विकसित हो चुकी थी। विद्यासुंदर 19वीं शताब्दी का ऐसा ही एक प्रेमाख्यान था जो बंगाल के यात्रा नाटकों का लोकप्रिय विषय था। ओड़िसा में 1834 ई. में लिखा गया एक ऐतिहासिक नाटक पद्मावतीहरण बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ।

इसके पश्चात रघुनाथ परिचा का 'गोपीनाथ वल्लभ' नाटक लिखा गया। रामशंकर रे, जो प्रायः आधुनिक ओड़िआ नाटक के जनक माने जाते हैं, लोकप्रिय ऐतिहासिक प्रेम-नाटक 'कांची-कावेरी' के लेखक हैं। नाटक का कथानक राजा पुरुषोत्तमदेव और रानी पद्मावती के जीवन के चारों ओर घूमता है। बंगाल में यह कथा बहुत प्रचलित थी और इसे आधार बना कर अनेक रंगमंचीय नाटक लिखे गये। रामशंकर ने इसे एक नयी संरचना दी जो अनेक उत्तरवर्ती नाट्य प्रस्तुतियों के लिए माडल बन गयी।

'स्वांग' की भी जानकारी थी जो इस तथ्य से प्रकट है कि बलराम दास ने 16वीं शताब्दी में 'लक्ष्मी पुराण स्वांग' की रचना की थी। स्वांग की परंपरा भी 18वीं शताब्दी तक बनी रही।

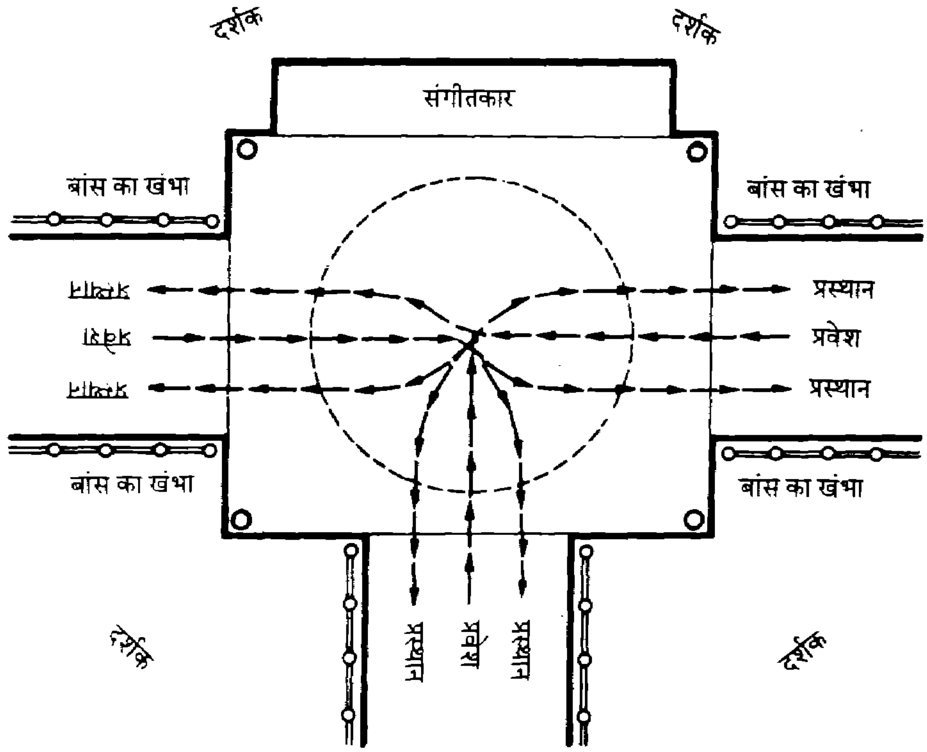
उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव और राष्ट्रीय आंदोलन के आविर्भाव के परिणामस्वरूप दो समानांतर घटनाएं घटीं। एक का संबंध पाश्चात्य तर्ज के आधुनिक रंगमंच के विकास से था और दूसरी का सामाजिक सुधार और राजनीतिक विरोध के लिए परंपरागत रंगमंच का उपयोग करने की इच्छा से। ये दोनों प्रवृत्तियां समानांतर और तर्कसंगत थीं, यद्यपि ऊपर से ये विरोधाभासपूर्ण दिखाई देती थीं। इस प्रकार जहां शेक्सपियर और अंग्रेजी के अन्य नाटककारों के नाटकों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद और अभिनय हुआ, वहीं राष्ट्रीय विचारों और राजनीतिक विषयों की अभिव्यक्ति के लिए यात्रा का उपयोग किया गया। परिणामत: विशेषकर बंगाल में एक विशेष प्रकार के यात्रा नाटकों की विधा विकसित हुई जिसे स्वदेशी यात्रा कहा गया। महात्मा गांधी का असहयोग आंदोलन और अस्पृश्यता निवारण इन यात्राओं के प्रिय विषय थे। यह प्रवृत्ति 1947 ई. के बाद भी बनी हुई है और विद्यासागर, राजा राममोहन राय, हिटलर और अन्य राजनेताओं के जीवन से लेकर ज्वलंत सामाजिक समस्याओं तक सभी प्रकार के सामाजिक-राजनीतिक विषय सशक्त और प्रभावपूर्ण रूप से यात्रा नाटकों में प्रस्तुत किये गये हैं।

यात्रा की पृष्ठभूमि और इस विधा के निर्माण में जिन प्रभावों का योगदान रहा है उनके इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से कदाचित यह स्पष्ट हो गया होगा कि किस प्रकार प्रारंभ में बाधाओं का सामना करती हुई यह विधा धीरे धीरे एक ऐसी विशिष्ट विधा के रूप में विकसित हुई जो समाज के उच्च और निम्न वर्गों, शिक्षित वर्ग और अशिक्षित वर्ग, धार्मिक समुदाय और जनसाधारण – सभी के साथ समान रूप से संबंध स्थापित करने की क्षमता रखती थी। इसने सदैव संस्कृत परंपरा से या क्षेत्र में उसके अवशिष्ट अंशों से अपना नाता बनाए रखा है।

लचक और परिवर्तन का स्वागत करने के अपने अंतर्निहित गुणों के कारण ही यह विधा अस्तित्व-रक्षा और विकास कर सकी तथा परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को बदल सकी। चैतन्य के समय से लेकर 20वीं शताब्दी तक कभी भी यह विधा गतिहीन दिखाई नहीं देती। न्यूनतम परिवर्तनों के साथ यह विधा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचती रही है। यह विशेषता भारत के अन्य भागों की कुछ ही विधाओं में देखने को मिलती है।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ साथ इस सामाजिक तथ्य का उल्लेख भी आवश्यक है कि जहां कुटियट्टम और भागवतमेला पर और रामलीला तथा रासलीला में राम, कृष्ण, सीता और लक्ष्मण की भूमिकाओं पर ब्राह्मणों का एकाधिकार है वहीं यात्रा में ऐसा कोई जाति-भेद नहीं है। और न ही इसमें मयूरभंज छऊ या पुरुलिया की भांति ब्राह्मणेतर किसी विशेष जाति या वर्ग के ही अभिनेता रखने का विधान है। यात्रा के अभिनेता समाज के सभी वर्गों से आते हैं। इनमें ब्राह्मण भी हैं, क्षत्रिय भी हैं और वैश्य भी। वे किसान भी हो सकते हैं और फेरी वाले भी, जमींदार भी हो सकते हैं और क्लर्क भी। कुछ अभिनेता व्यावसायिक होते हैं और कुछ शौकिया जो यात्रा मंडलियों में निश्चित अवधि और निश्चित प्रस्तुतियों के लिए सम्मिलित होते हैं। जात्रा-रंगमंच ग्रामीण भी है, कस्बाई भी और नगर नगरीय भी। समाजशास्त्रीय अर्थों में उसे न तो लोक नाटक की संज्ञा दी जा सकती है और न ही शास्त्रीय नाटक की। इसके कारण कदाचित उसके विचित्र इतिहास और धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों से उसके संबंध में निहित हैं।

रंगमंच के रूप में सोलह वर्ग फुट का मंच बनाया जाता है जिस की ऊंचाई ढाई फुट होती है। इसे 'आसर' कहते हैं। दो ओर लगभग दो फुट की ऊंचाई पर दो रपटे होते हैं। एक पर ताल वाद्य बजाने वाले ढोलक, करताल और घंटे लेकर बैठते हैं। दूसरे पर अन्य वादक बैठते हैं जिनमें एक शहनाईवादक, एक बांसुरीवादक भी होता है। रंगमंच के एक कोने से बांस के टुकड़ों और रस्सी से बनाया गया एक गलियारा निकलता है। लगभग साठ फुट लंबा गलियारा नेपथ्य और रंगमंच के बीच संपर्क का माध्यम बनता है। पुरुलिया छऊ में भी ऐसा ही गलियारा होता है। गलियारे से कई उद्देश्यों की पूर्ति होती है।



यह किसी सड़क, राजमार्ग, मंदिर मार्ग, वास्तविक अभिनय क्षेत्र में पहुंचने से पहले किसी जुलूस या सेना के एकत्र होने के स्थल का आभास दे सकता है। रंगमंच के चारों ओर खंभे खड़े किये जाते हैं जो बत्ती लटकाने के लिए होते हैं। पहले इन पर नामघर रंगमंच की भांति तेल से जलने वाली बत्तियां टांग दी जाती थीं। अब खंभों पर बल्ब और दूसरी बत्तियां लगा दी जाती हैं। कभी कभी खंभों से बांधकर रंगमंच पर एक चंदोबा भी तान दिया जाता है। अतिरिक्त प्रकाश के लिए पतली रस्सियों पर प्रकाश की लड़ियां बांध दी जाती हैं। दर्शक चारों ओर बैठते हैं, किंतु एक पार्श्व में केवल स्त्रियां बैठती हैं। अंकिआ-नाट या भाओना में जैसा साज-सामान होता है वैसा यहां कुछ नहीं होता। सामान्यतः केवल एक कुर्सी रंगमंच पर रखी रहती है जिससे अनेक प्रकार के काम लिये जाते हैं। यदि कुछ वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है तो अभिनेता स्वयं उन्हें लेकर रंगमंच पर आते हैं और स्वयं अपने साथ ले जाते हैं।

अन्य नाट्य विधाओं की भांति ही मुख्य यात्रा प्रस्तुति से पहले कुछ पूर्वरंग कार्यकलाप होते हैं। परंतु यह पूर्वरंग कार्यकलाप न तो नेपथ्य में संपन्न होते हैं (जैसा कि यक्षगान में होता है) और न ही यवनिका के पीछे (जैसा कि कृष्णाट्टम, अंकिआ-नाट या रासलीला में होता है)। इनके अंतर्गत किसी राग का गायन होता है और अनेक वाद्यों का वादन। राग अनेक हैं जिनमें श्याम कल्याण, बिहाग, पूरवी आदि राग सम्मिलित हैं। वाद्य वादन के बाद वही राग फिर गाया जाता है। इस संगीत प्रसंग के समाप्त होते ही नर्तकों की एक टोली गलियारे से तेजी से निकल कर आती है और नाचने लगती है। बहुधा सामूहिक नृत्य के पश्चात एक एकल नृत्य भी होता है। ये नृत्य नाट्यशास्त्र के पूर्वरंग और पिंडीबंध के ही अवशिष्ट रूप हैं।

इसके पश्चात कृष्ण, शिव या दुर्गा के जीवन से संबद्ध पौराणिक प्रसंगों का अभिनय आरंभ होता है। एक लोकप्रिय

प्रसंग है महिषासुरमर्दिनी। इसकी प्रस्तुति में नृत्य और रंग बिरंगे नाटकीय प्रभावों की बहुलता रहती है। सभी चरित्रों की झांकी जैसी स्थिर स्थिति के साथ यह खंड समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात तुरही और ढोलक तथा घंटियों के ऊंचे स्वरों के बीच नाटक प्रारंभ होता है। पूर्वरंग, मूकाभिनय तथा वाद्य संगीत – इन सबसे उसी उद्देश्य की पूर्ति होती है जिस उद्देश्य की पूर्ति कथकलि में परुपाद्‌ु से और यक्षगान में वास्तविक क्रिया से पूर्व के अन्य प्रारंभिक प्रसंगों से होती है। अभिनेता शैलीकृत चाल और मुद्राओं के साथ प्रवेश करते हैं। यद्यपि अंग संचालन की कोई निश्चित अभिव्यक्ति पद्धति नहीं होती और अंगिकाभिनय का अभाव रहता है, तथापि अंगसचालन करने, चलने और नृत्य करने की एक निश्चित यात्रा शैली भावुकतापूर्ण और अतिनाटकीय है। भागवतमेला की तरह नाटक के अंशों का सस्वर पाठ या गायन किया जाता है और उसमें गेय पद्यांश होते हैं। चंपु और वचन की प्रणाली दोहराई जाती है। कहा नहीं जा सकता कि पुराने कृष्ण जात्रा या कालियदमन जात्रा का भी यही स्वरूप था या नहीं, किंतु प्रचुर गायन और नृत्य के साथ अभिनय की अतिनाटकीय शैली इसकी विशेषता है।

यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि यात्रा को रूप देने में संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका रही है तो यह बात समझ में आ जायेगी कि समय के साथ इसकी मद्धम सुरों वाली काव्यात्मकता या गीतात्मकता कम होती गई है और अधिक संगीतात्मकता तथा नगरीयता के लिए उसका आग्रह बढ़ता गया है। यात्रा के मुख्य अभिनेता प्रसिद्ध एकल गायक बने और नाटक के विभिन्न गीत शास्त्रीय हिंदुस्तानी संगीत के अत्यधिक जटिल रागों में बांध कर गाये जाते थे। झूमर (नृत्य और संवाद के साथ युगलगान जो असम और ओड़िसा में भी लोकप्रिय हैं), के वर्तमान रूप, गायन की कीर्तन शैली, शुद्ध सस्वर पाठ (कविगान) पांचाली (एक प्रकार का एकल गायन जो पटगायकों के रूप में अभी जीवित है) की विधियां और कथाकार तथा चारण द्वारा कुछ अंग संचालन के साथ कविता का सस्वर पाठ – प्रारंभ में इन सबका प्रयोग होता था। इसके कारण यात्रा में बहुत वैविध्य आ गया था। जटिल राग पर समानुपात-रहित निर्भरता के कारण नाटकीय कार्य-व्यापार में लंबे अंतराल आ जाते थे। जुडि पद्धति का प्रारंभ एक स्वाभाविक विकास था जिसमें रंगमंच पर पद्य गायन अभिनेताओं द्वारा नहीं अपितु उन संगीतकारों द्वारा किया जाता था जो रपटों पर या रंगमंच के चार कोनों पर बैठते थे। अभिनेता केवल पहली पंक्ति गाता था और फिर रंगमंच के एक कोने में जाकर बैठ जाता था जबकि प्रत्येक कोने के गायक उस पंक्ति के आगे बारी बारी से गाने लगते थे। इस प्रकार यह भाग एक संगीत गोष्ठी का रूप ले लेता था जिसमें चार गायक एक ही राग का वैयक्तिक जटिलताओं और निर्वचनों के साथ गायन करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि शब्द और संगीत स्वर का वह संबंध टूट गया जो सभी अन्य नाट्य परंपराओं का अभिन्न अंग है। जुडि गायकों को मुख्तयार (फारसी शब्द मुख्तार का बांग्ला रूप) कहा जाता है। इनके पद्य गायन की तुलना रामलीला या रासलीला के व्यास या स्वामी के गायन से नहीं की जा सकती, जैसा कि कुछ आलोचकों ने वास्तव में किया है। रामलीला या रासलीला में सूत्रधार या सूत्राधिकारी या व्यास या स्वामी संयोजक अंश सुलभ कराता है जो दृश्य-परिवर्तन या कथा-विकास में संक्रमण अवस्थाओं का संकेत देते हैं। इस बिंदु पर नाटक का कार्य-व्यापार सहसा रुक जाता है और अभिनेता विश्राम करने, गप्प करने या धूम्रपान करने के लिए रंगमंच के विभिन्न भागों में लौट जाते हैं। इधर कुछ समय से जुडि पद्धति समाप्त कर दी गयी है।

दोहर या दोहा गाने की भी एक परिपाटी है जो आज भी लोकप्रिय है। मूलत: यह एक ऐसी छंद योजना थी जो प्राचीन बांग्ला, अवधी, राजस्थानी आदि में समान रूप से उपलब्ध थी। यहां इसकी स्थिति एक टेक की हो गयी है जिसे जनता में से कुछ लोग दुहराते हैं। कुल मिला कर इस सब से विधा कुछ संपन्न हुई है, किंतु उसकी कठोर संरचना में ढीलापन भी आया है।

हमने देखा कि यात्रा में सूत्रधार या भागवतर जैसा कोई चरित्र नहीं है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में माथुर शाह ने एक नवीन तत्व का समावेश करके इस कमी को पूरा किया। उन्होंने इसमें विवेक का चरित्र जोड़ दिया। विवेक परंपरागत संस्कृत रंगमंच के सूत्रधार और विदूषक का मिला जुला रूप था। वह चाहे जब कभी और जहां कहीं आ सकता था और अलग खड़े रह कर इस नाटकीय घटना पर टीका-टिप्पणी कर सकता था। वह अभिनेता से इस ढंग से बातचीत कर सकता था मानो अभिनेता के मन में उठे प्रश्नों और अंतर्द्वंद्वों का उत्तर दे रहा हो। उसकी आवाज न्याय, नैतिकता और अंत:करण की आवाज थी। वह प्राय: रंगमंच से लगे गलियारे में खड़ा रहता था और किसी कक्ष, राजभवन या वाटिका के सूचक अपने अभिनय क्षेत्र में प्रवेश करता था और फिर गलियारे में लौट जाता था। वह भूत, वर्तमान और भविष्य – तीनों कालों में उपस्थित रहता

था और नाटक के देश तथा काल में निर्बाध रूप से विचरण करता था। कुछ उसे एक पृथक चरित्र नहीं मानते थे। वे यह भूमिका नाटक के ही किसी चरित्र को दे दिया करते थे, विशेषकर ऐसे चरित्रों को जो जीवन को दार्शनिक रूप से प्रस्तुत कर सकते थे और उपदेश दे सकते थे। महाभारत के भीष्म और रामायण के विभीषण द्वारा इस भूमिका का निर्वाह उत्तम रीति से होता था। फिर भी दुहरी भूमिका का निर्वाह अर्थात नाटक के किसी चरित्र की भूमिका के साथ साथ टीकाकार और कोरस की भूमिका का निर्वाह आसान काम नहीं था और आज भी यह आसान नहीं है। नाटक के बाहर होने की स्थिति में विवेक को अधिक स्वतंत्रता मिलती है और वह अधिक सार्थक भूमिका निभा सकता है। स्वभावतः यह भूमिका ऐसे सिद्धहस्त अभिनेताओं द्वारा की जाती है जो गा सकते हैं और दर्शकों का पूरा ध्यान आकर्षित कर सकते हैं। समकालीन नाटककारों या निर्देशकों में से कुछ तो इस युक्ति से काम लेते हैं और कुछ नहीं लेते।

यात्रा के अभिनेता सभी पुरुष होते हैं, जैसा कि भारत की अनेक अन्य नाट्य विधाओं में भी होता है। अभिनेता की योग्यता इस बात से आंकी जाती है कि वह नारी की भूमिका कितनी सफलता से निभा सकता है। नारी की भूमिकाएं करने वाले अभिनेता प्रायः अपने नाम के आगे 'रानी' शब्द जोड़ लेते हैं जिससे केवल पुरुषों की भूमिका करने वाले अभिनेताओं से उन्हें पृथक समझा जा सके।

यात्रा की वेशभूषा पद्धति रोचक है। उस पर अनेक काल खंडों की छाप है। यात्रा के अभिनेता या तो ऐसी पोशाकें पहन सकते हैं जो अस्पष्ट रूप से कालबद्ध होती हैं या ऐसी पोशाकें जिनका वास्तविक जीवन से कोई संबंध नहीं होता। रूपसज्जा की पद्धति प्रभावपूर्ण और सशक्त है, किंतु उसमें यक्षगान या कथकलि जैसा परिष्कार और शैलीकरण नहीं है। रूपसज्जा में सभी प्रकार के रंग-रोगन का प्रयोग किया जाता है जिनमें ग्रीस, प्राकृतिक रंग, रासायनिक रंग, सफेद सीसा, काजल और लाल रोगन सम्मिलित हैं। चेहरे पर धारियां और रेखाएं चरित्र के अनुसार अंकित की जाती हैं। राक्षसों का ऊपरी होंठ, जहां रंग कर दांत बनाए जाते हैं विशेष रूप से भयावह होता है। इस रूपसज्जा में उनकी गुर्राहट और दांत पीसने का भाव डरावना हो जाता है। यद्यपि यात्रा की रूपसज्जा प्रभावपूर्ण है, फिर भी उसमें सेराएकला छऊ के मृदु और सुखद मुखौटों, अन्य रूपसज्जा पद्धतियों के शैलीकरण और ख्याल, भवाई आदि की नैसर्गिक रूपसज्जा जैसी कोई बात नहीं है।

एक ओर दक्षिण भारत के नृत्य नाटक की विधाओं से और दूसरी ओर रामलीला और रासलीला की विधाओं से तुलना करने पर यात्रा को एक पृथक श्रेणी में रखना पड़ेगा। यात्रा में संगीत और नृत्य के होते हुए भी और इसके बावजूद कि विभिन्न घटना स्थलों का निर्देश करने की उसकी अपनी विधियां हैं और रंगमंचीय साज-सामान तथा इस प्रकार के अन्य अवलंबों का यहां अस्तित्व नहीं है, यात्रा नाटक ही अधिक है और नृत्य नाटक या ओपेरा कम। आज इसका कोई कर्मकांडगत स्वरूप नहीं है। और इसमें संदेह है कि निकट अतीत में इसका ऐसा स्वरूप रहा होगा। समय के साथ इसका संगठनात्मक ढांचा व्यापारिक हो चुका है। गैर-सरकारी व्यक्तियों का इस पर नियंत्रण है और मंडलियां दलालों के माध्यम से नाट्य प्रस्तुति के लिए बुलाई जाती हैं। प्रत्येक मंडली में स्थायी कलाकारों की संख्या दस से बारह तक होती है। अन्य कलाकार ठेके पर रखे जाते हैं। एक सफल यात्रा अभिनेता प्रति मास 1000 से 3000 रुपए तक कमा सकता है।

यात्रा ने कलात्मक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से जैसे प्रगतिशील और द्रुत परिवर्तन का परिचय दिया है वैसा अनेक अन्य रूपों में दिखाई नहीं देता। एक धरातल पर इसने स्वयं को समयानुकूल बनाया है और हमें इस पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि आधुनिक निर्देशक और प्रस्तुतकर्ता जितना इसकी ओर आकृष्ट हुए हैं उतना तमाशा को छोड़कर कुछ ही अन्य रूपों की ओर हुए होंगे। एक ओर कुटियट्टम और दूसरी ओर ब्रज रास के बीच यात्रा अन्य छोर पर है। परंतु दो छोरों पर होते हुए भी इनकी परिधि एक ही है और ये एक दूसरे से असंबद्ध स्वतंत्र रूप नहीं हैं।

यात्रा भारतीय साहित्य, भाषाओं ओर नाट्य रूपों के वंश वृक्ष की एक महत्वपूर्ण शाखा है। जिस रूप में यह हम तक पहुंचा है, उसने आधुनिक बांग्ला रंगमंच को एक नयी दिशा दी है।

भवाई और तमाशा की भांति ही इसने नये रंगमंच को एक भारतीय स्वरूप प्रदान किया है। संभवतः यात्रा में नयी रुचि जागृत होने का कारण यूरोप से महाकाव्यात्मक रंगमंच की नयी विधा का आगमन था। चाहे जो भी कारण रहे हों, यूरोपीय प्रभाव के कारण भारतीय परंपराओं के प्रति नयी रुचि जागृत हुई। भारत के आधुनिक रंगमंच के लिए स्वदेश लौटने की एक शिक्षाप्रद यात्रा थी।

12

भवाई

रासलीला और अंकिआ-नाट की चर्चा करते हुए हमने गुजराती भाषा के विकास का भी उल्लेख किया था। गुजराती का उद्‌भव अपभ्रंश से हुआ या नहीं, इसको लेकर विद्वानों में मतभेद है। फिर भी यह स्पष्ट है कि 13वीं शताब्दी के आसपास एक ऐसी भाषा बन चुकी थी जो एक पृथक भाषा के रूप में पहचानी जा सकती थी।

भारत के अन्य भागों की भांति ही गुजरात में भी छठी शताब्दी से लेकर 13वीं-14वीं शताब्दी तक के काल में दो समानांतर धाराएं दिखाई देती हैं। एक धारा थी संस्कृत साहित्य की जिसके अनेक लेखक इस काल में गुजरात में हुए। इन में भोज, हेमचंद्र, सोमेश्वर और रामचंद्र जैसे प्रसिद्ध लेखक सम्मिलित थे। दूसरी ओर देशी भाषाओं का उद्‌भव हुआ जो इस क्षेत्र की अनेक बोलियों और अपभ्रंश के उत्तरवर्ती रूपों का मिश्रण थीं।

इसी काल में जैन लेखकों ने भी प्रचुर मात्रा में साहित्य की रचना की। हम जैन परंपरा के रासक और रास के उद्‌भव की चर्चा कर चुके हैं। 12वीं शताब्दी की शैल भद्र की कृति 'भारतेश्वर बाहुबली रासो' और 14वीं शताब्दी की तरुण प्रभा आदि की रचनाएं गुजराती साहित्य की प्रारंभिक महत्वपूर्ण रचनाएं हैं।

यह क्षेत्र रास से बहुत पहले परिचित हो चुका था और गुजरात की अभीर, सर्यात और वृष्णि जनजातियां गोपाल के रूप में कृष्ण की पूजा करती थीं। रास नृत्य के साथ गाने के लिए जिन गीतों की रचना हुई थी वे शौरसेनी की प्राकृत की एक बोली में थे। 13वीं शताब्दी में जब प्राचीन गुजराती की पुस्तक 'सप्तक्षेत्री रास' के लेखक ने रास का वर्गीकरण करने और पाला-रास तथा लकुटा-रास में भेद करने के लिए यह पुस्तक लिखी होगी तो उस समय तक इस प्रकार का साहित्य प्रचुर परिमाण में लिखा जा चुका होगा। पाला-रास ताली बजाते हुए नृत्य करने का द्योतक था और लकुटा-रास छड़ी लेकर नृत्य करने का।

गरबी या गरबा एक स्थानीय नृत्य था जो मिट्टी के घड़े 'गरबी' या लकड़ी के एक चौखटे 'मांडवी' के चारों ओर किया जाता था। लकड़ी का यह चौखटा कोई तीन फुट ऊंचा होता था जिस पर पत्रियों की सजावट होती थी और जिसमें बहुत-से दिए जगमगाते रहते थे। यह सारा आयोजन अंबा या अंबिका देवी के सम्मानस्वरूप किया जाता था। यह नृत्य नौ या दस दिन तक चलने वाले नवरात्रि पर्व का एक अंग था। इसका कृषि और कर्मकांड की दृष्टि से बहुत महत्व है।

देशी भाषाओं का आविर्भाव, अमीरों आदि का कृष्णपूजक बनना, गरबी उत्सव का प्रचलन – इन सबके परिणामस्वरूप एक विशेष प्रकार के साहित्य की रचना हुई जिसे 'रास' या 'रासक' या 'रासो' या 'फागु' कहा गया। 14वीं शताब्दी के आते आते 'रास' शब्द के अर्थ में बहुत परिवर्तन आ चुका था। यद्यपि हरिवंश और भागवतपुराण के अस्पष्ट स्मृति चिह्न बने हुए

थे, फिर भी यह शब्द मात्र शुद्ध नृत्य की रचना का द्योतक नहीं रह गया था। इसका प्रयोग लंबी वर्णनात्मक तुकांत कविता के अर्थ में होता था। इस साहित्यिक रचना में अपभ्रंश के छंदों का प्रयोग होता था। इसमें संगीतबद्ध, अधिकांशतः देशी रागों में बंधी तुकांत कविताओं जैसे दोहा और चौपाई की कल्पना निहित थी। इस काल के संगीत ग्रंथों में, विशेषकर सारंगदेव कृत संगीतरत्नाकर में इस प्रकार के रागों का विस्तृत उल्लेख हुआ है।

शुद्ध नृत्य के वर्णनात्मक नाटकीय गायन में बदल जाने से वह प्रक्रिया पूर्णता को पहुंच रही थी जो संस्कृत नाटक में 'कथित' शब्द के स्थान पर 'गेय' शब्द को अधिक महत्व देने के रूप में घटित हो रही थी। कालिदास और राजशेखर के नाटकों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। इसके परिणामस्वरूप नाटक में संप्रेषण का मुख्य आधार गेय शब्द बन गया और कथित शब्द या गद्यांशों की अपेक्षाकृत उपेक्षा की गयी। साथ साथ गीत गोविंद और उसकी रचनाविधा 'प्रबंध' का प्रभाव भी प्रत्यक्ष रूप से या कभी कभी परोक्ष रूप से काम कर रहा था। साहित्यिक रचना के लिए राग और ताल के प्रयोग की प्रणाली भारत के सभी भागों में प्रचलित हो गयी।

चौदहवीं शताब्दी के आते आते 'रासक' और 'फागु' साहित्य और संगीत की लोकप्रिय रचना विधाओं का रूप ग्रहण कर चुके थे और ये रचना विधाएं जैन परंपरा और हिंदू परंपरा दोनों का ही समान रूप से अंग थीं। 14वीं-15वीं शताब्दी में लिखित सोमसुंदर की 'रंगसागर नेमिफागु' इस विधा की एक सुंदर कृति है। 'वसंतविलास' भी इसी प्रकार की एक महत्वपूर्ण काव्य रचना है जिसका काल 15वीं शताब्दी है। इसमें स्पष्टतया 'गीत गोविंद' के स्वरूप का अनुसरण किया गया है, यद्यपि इसके कुछ अंश सुस्पष्ट शृंगारिक बिंब सृष्टि की दृष्टि से 'गीत गोविंद' से अधिक श्रेष्ठ हैं। इस काव्य रचना से प्रेरित होकर इस विषय पर अनेक सुंदर सचित्र पांडुलिपियां सामने आयीं। 'नटऋषि' का फागु भी इसी विधा की एक और उत्कृष्ट कविता है जिसका रचनाकाल 15वीं शताब्दी है।

गद्य लेखन का भी प्रचलन था और अनेक जैन साधुओं ने कथाएं लिखी थीं जिन्हें रास, रासक और फागु के गीतात्मक गेय ढांचे में नहीं बांधा गया था। इन कथाओं के विषयों में नीतिपरक विषयों से लेकर धर्मनिरपेक्ष विषय तक सम्मिलित थे और इनमें व्यंग्य का अंश भी बहुत अधिक था। तरुण प्रभा और सोमसुंदर भी इसी विधा के लेखक थे। इन्होंने अनेक स्रोतों से सामग्री ग्रहण की थी और बहुधा कथाएं ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन की घटनाओं पर आधारित होती थीं। इस प्रकार 15वीं शताब्दी में अनेक साहित्यिक और नाट्य विधाओं का प्रचलन था और इनके बाद एक और विधा का आविर्भाव हुआ। यह विधा गाथा गीतों की थी। 14वीं और 15वीं शताब्दी में लिखित रणमल्लचंद और कान्हडदे प्रबंध तथा 17वीं शताब्दी में लिखित विजयसेना का रेवंतगिरि रासु और गंगविजय का कुसुम श्रीरास संगीतात्मक रचना के स्थान पर वीर रस और ऐतिहासिक अंतर्वस्तु को गाथा गीतों का रूप देने की इस नयी प्रवृत्ति के विशिष्ट उदाहरण हैं।

इस संक्षिप्त साहित्यिक इतिहास के साथ साथ गुजरात के राजनीतिक इतिहास पर भी ध्यान देना आवश्यक है जो आक्रमणों और युद्धों से भरा हुआ है। सोमनाथ मंदिर का लूटा जाना, दिल्ली सल्तनत की स्थापना और गुजरात में घटने वाली अन्य घटनाएं सुविदित हैं और यहां उनको दुहराना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। परंतु यह बात स्मरण रखने योग्य है कि राजनीतिक अशांति और उथल-पुथल के इस युग में कलाओं, विशेषतः साहित्य, लघु चित्र और नाट्य कला की बहुत उन्नति हुई। स्थापत्यकला के क्षेत्र में बड़े कार्यों के लिए समय अनुकूल नहीं था, यद्यपि माउंट आबू आदि के मंदिरों का निर्माण इसी काल के प्रारंभिक चरण में हुआ था। स्वभावतः कलात्मक अभिव्यक्तियों में भी समय का प्रतिबिंब दिखाई दे रहा था, यद्यपि प्रकटतः उनका सरोकार केवल अतीत से ही जुड़ा हुआ प्रतीत होता था। रासक आदि के परंपरागत ढांचे में अनेक ऐतिहासिक चरित्रों और सामाजिक घटनाओं के यथार्थ चित्र प्रस्तुत किये गये।

कलाकारों ने नाटक की भाषा के माध्यम से जनता तक अपनी बात पहुंचाई और शिक्षा के एक सशक्त माध्यम के रूप में इसका प्रयोग किया। पौराणिक प्रसंगों को पुनरुज्जीवित किया गया और इस प्रकार पुराने कवच के माध्यम से नया संदेश दिया गया। अंत में भक्ति आंदोलन के व्यापक प्रभाव और नरसिंह मेहता, भालण और अखो जैसे गायकों और संत कवियों के योगदान का उल्लेख आवश्यक है।

संस्कृति के क्षेत्र में 19वीं शताब्दी तक जो घटनाएं घट रही थीं और जिनका विशद विवेचन हम स्वांग, नौटंकी आदि की चर्चा करते हुए करेंगे, उसी प्रकार की घटनाएं गुजरात में भी घट रही थीं अर्थात् क्षेत्रीय संस्कृति बाह्यतत्वों को ग्रहण करके और पुरानी विधाओं को पुनरुज्जीवित कर नये विचारों को आत्मसात कर रही थीं।

गुजरात में भालण इन प्रवृत्तियों के प्रवक्ता थे। पुरानी विषयवस्तु और प्राचीन विधाओं को नया अर्थ देने की यह इच्छा उनकी समस्त रचनाओं में व्यक्त हुई है। जहां उन्होंने महाभारत और कृष्णलीला चरित्र से विषयगत प्रेरणा ली वहीं उन्होंने गरबी रूप का भी निर्बाध रीति से प्रयोग किया, विशेषता श्रीकृष्ण के जीवन पर आधारित अपनी कृतियों में। वह गुजरात में एक नये आंदोलन के प्रवर्तक हुए। इस परंपरा को महान संत कवियों ने, विशेषकर मीराबाई (जो राजस्थानियों के मतानुसार राजस्थानी रचनाकार मानी जाती हैं) और नरसिंह मेहता ने आगे बढ़ाया।

एक ऐसी नाट्य विधा के आविर्भाव को समझने के लिए, जिसका प्रकटतः गुजरात के साहित्यिक इतिहास से कोई संबंध नहीं है और जो एक विशुद्ध लोक नाट्य विधा मानी जाती है तथा जिसे सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए एक वर्ग अर्थात 'भवाई' का ही संरक्षण प्राप्त है, गुजराती साहित्य की इस सामान्य रूपरेखा को ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है। साहित्यिक साक्ष्य तथा नगरीय संरक्षण के अभाव ने भी निःसंदेह इस विधारणा को पुष्ट किया है। इस शताब्दी के छठे दशक से पूर्व इस विधा को किसी भी प्रकार का नगरीय संरक्षण प्राप्त नहीं था।

तथापि हम देखेंगे कि मंदिरों, समाज के प्रतिष्ठित वर्ग तथा साहित्यिक नाटक के पृथक रहते हुए भी इस विधा ने संस्कृत परंपरा और गुजरात की अनेक विशिष्ट विधाओं की विशेषताओं को आत्मसात किया है।

भवाई के सामाजिक इतिहास से ही कदाचित यह स्पष्ट हो जायेगा कि इस विधा में इस प्रकार का अलगाव क्यों रहा है और भारत के अन्य नृत्य नाटकों की प्रवृत्ति के विपरीत इसमें पौराणिक विषयों की अपेक्षाकृत उपेक्षा क्यों की गयी है। कहा जाता है कि भवाई का जन्मदाता असिता या असाइता नामक एक आदित्य ब्राह्मण था जो मेहसाणा जिले के उंझा गांव का निवासी था। भवाई संप्रदाय के सदस्य उसके ही वंशज हैं। उनके कथनानुसार असिता या असाइता एक पुरोहित था जिसे एक कणबी लड़की को किसी मुसलमान के घर से छुटकारा दिलाने और फिर उससे विवाह कर लेने के अपराध में जाति से बहिष्कृत कर दिया गया था। वह एक अच्छा अभिनेता-गायक था। इस घटना के बाद वह भवाई की रचना और प्रस्तुति करने लगा। उसके वंशजों ने एक बड़े संप्रदाय का रूप ले लिया है जो भवाई संप्रदाय कहलाता है। वे तरगला भी कहलाते हैं। इनके उपवर्ग भी हैं जो भोजक या नायक और भवाया नामों से जाने जाते हैं। भोजक कभी कभी स्वयं को व्यास भी कहते हैं। भवाई दस दस या पंद्रह पंद्रह व्यक्तियों की मंडली बनाकर गांव गांव घूमते रहते हैं और अक्तूबर से जून तक नाट्य प्रस्तुति करते रहते हैं। ग्रामवासियों द्वारा उनका पोषण किया जाता है जिनसे उन्हें नाट्य प्रस्तुति के लिए पारिश्रमिक मिलता है।

राजस्थान में भी इसी प्रकार की एक कहानी प्रचलित है, यद्यपि यहां बहिष्कृत व्यक्ति ब्राह्मण नहीं अपितु एक जाट है। कहा जाता है कि राजपूतों और जाटों ने नागाजि नामक एक व्यक्ति को बहिष्कृत कर दिया था, क्योंकि वह संगति और नृत्य का प्रेमी था। उन्होंने उसे एक नगाड़ा और भुंगल दिया जो आज भी भवाई के विशेष वाद्य हैं। साथ ही, उन्होंने उसे एक जाजम (जाजिम) भी दिया और उसे राजपूतों और जाटों का घुमक्कड़ मांड भवाई बनने का आदेश दिया। नागाजि के वंशज राजपूताना के भवाई अभिनेता के रूप में जाने जाते हैं।

गुजरात के असिता और उसके वंशजों की भांति ही नागाजि और उसके वंशज भी अंबादेवी या शीतला देवी के भक्त थे। कुछ विद्वानों का मत है कि भवाई शब्द की व्युत्पत्ति 'भू-आयि' शब्द से है जिसका अर्थ है शीतला (चेचक) से ग्रस्त। अन्य विद्वानों ने इसे एक साहित्यिक अर्थ देने का प्रयास करते हुए 'भाव' और 'वही' दो भागों में विभक्त किया है और इसे भाव का वहन करने वाला कहा है। इस संप्रदाय के पूर्वजों और इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में जो भिन्न भिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत की गयी हैं उनसे दो सामान्य निष्कर्ष निकलते हैं। पहला निष्कर्ष तो यह है कि भवाई की प्रस्तुति करने वाला संप्रदाय सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से अधोमुख गतिशीलता का द्योतक है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि वे सभी किसी न किसी देवी

के पूजक हैं, चाहे वह अंबा हो या शक्ति हो या शीतला हो। साथ ही यह बात भी है कि भवाई की प्रस्तुति करने वाले घुमक्कड़ लोग हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहते हैं।

परंतु भवाई की प्रस्तुति केवल इसी विशेष बहिष्कृत वर्ग तक सीमित नहीं है। तुरि और भील जैसी जनजातियां भी भवाई की प्रस्तुति करती हैं। साथ ही, नवरात्रि पर्व के अवसर पर गरबा और गरबी की प्रस्तुति के साथ साथ भवाई की प्रस्तुति का भी महत्व है। यहां यह अंबादेवी की पूजा से संबद्ध कर्मकांड का एक भाग है। इस कर्मकांड में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी भाग लेते हैं। अन्य जातियां भी, जैसे काछिया (सब्जी बेचने वाले), हज्जाम (नाई), दरजी, तेली, कोली और वाघरी अंशकालिक व्यवसाय के रूप में या शौकिया मनोरंजनात्मक कार्यकलाप के रूप में भवाई की प्रस्तुति करती हैं।

ऊपर की चर्चा से स्पष्ट हो गया होगा कि सामाजिक स्तर की दृष्टि से भी बहिष्कृति की परंपरा के बावजूद भवाई किसी संप्रदाय तक सीमित नहीं है। शहरी ब्राह्मण और 19वीं शताब्दी तक राजवंश के कुछ व्यक्ति तथा कोली समान रूप से इसी प्रकार की पूजा और प्रस्तुति में भाग लेते रहे हैं।

इस सामाजिक पृष्ठभूमि से उभरने वाली नाट्य विधा के संबंध में यह अपेक्षा स्वाभाविक ही प्रतीत होगी कि आंशिक रूप से जहां उसका स्वरूप कर्मकांडीय होगा, वहीं उसमें सामाजिक टीका-टिप्पणी और व्यंग्य करने की संभावना भी होगी। यहां नाट्य परिदृश्य किसी ऐसे एकीकारी मंच के रूप में नहीं उभरता है जिसमें समाज के सभी वर्ग सम्मिलित होते हैं, यद्यपि ऐसा भी होता है। यहां हमारे सामने एक ऐसा शुद्ध कला रूप आता है जिसमें अनेक वर्ग अलग अलग अपने अध्यात्मिक और ऐहिक विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं, किंतु प्रायः सभी वर्ग नवरात्रि के अवसर पर ही इस आयोजन में सम्मिलित होते हैं और अधिष्ठात्री देवी अंबा या शक्ति होती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि असिता या असाइता और नगरीय ब्राह्मण दोनों ही रास, रासक, कथा और बाद की संस्कृत परंपरा के संगीत नाटक से अवश्य परिचित रहे होंगे। गुजरात का भवाई रूप असाइता ठाकुर की बहिष्कृति के परिणामस्वरूप सहसा ही उत्पन्न नहीं हो गया होगा। उसने अत्यधिक परिश्रमशीलता से इन सभी विधाओं का उपयोग करते हुए एक नयी विधा का निर्माण किया जिसने न केवल पूर्ववर्ती विधाओं की अनेक विशेषताओं को अपनाया और आगे बढ़ाया, अपितु कुछ नयी विशेषताओं का प्रवर्तन भी किया, विशेषकर कलाबाजी के अंश का जो गांवों में एक सामान्य दृश्य रहा होगा। इनमें बेड़ा नृत्य (मटकी आदि लेकर नृत्य करना) की परंपरा भी थी जो भारत के अनेक भागों में शताब्दियों से चली आ रही है। केरल या तमिलनाडु के एक या अनेक मटकियों के साथ कूतु के चित्र किदंगुर मंदिर तथा केरल के अन्य मंदिरों के पत्थरों पर अंकित हैं और 17वीं तथा 18वीं शताब्दी के अनेक राजस्थानी चित्रों में भी यह देखे जा सकते हैं। कलाबाजी के अन्य करतब भी इस विधा में मिला लिये गये हैं। कुछ तत्व साहित्यिक स्रोतों से ग्रहण किये गये हैं और अन्य तत्व कलाबाजी के करतबों से। इन सबको मिलाकर एक नए नाट्य रूप की सृष्टि की गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भवाई के निर्माण में अनेक तत्वों का योग रहा है। प्रकटतः यह तत्व एक दूसरे से पृथक, विभिन्न सामाजिक स्तरों और कला धाराओं से संबंध रखने वाले, तथा परस्पर विरोधी किंतु इस नयी विधा में यह सब एक दूसरे में एकदम घुलमिल गये हैं। एक नया नमूना बुनने के लिए ताने-बाने की इतनी सारी लड़ियों और रंगों की मिलावट के कारण ही समाजशास्त्रियों और कलाविदों ने भवाई तथा अन्य संबद्ध विधाओं को या तो अधम लोक नाटक कहा है या भारतीय नाटक की महान परंपराओं की सीधी उत्तराधिकारिणी के रूप में उसकी सराहना की है। वास्तव में चित्र बहुत जटिल और पेचीदा है तथा समाजशास्त्र या कला के मानदंड अलग अलग इस समस्या का समाधान नहीं कर सकते। दोनों पर सम्मिलित रूप से विचार करने की आवश्यकता है।

प्रस्तुति चाहे मंदिर के निकट हो या किसी खुले स्थान पर, उसका आयोजन बड़े उत्साह के साथ नवरात्रि पर्व के अंग के रूप में किया जाता है। अनेक मंडप या पंडाल बनाए जाते हैं जिन्हें खजूर के पत्तों, फूलों आदि से सजाया जाता है। खिगली और गोटे-पट्टे लगाकर भी सजावट की जाती है और चाक्ल पद्धति से दीवारों को अलंकृत किया जाता है। बहुधा चारों कोनों पर मनकेदार परदे खंभों पर टांग दिये जाते हैं। गरबी अर्थात् मिट्टी का एक घड़ा या मांडवी (जिसके बारे में ऊपर बताया जा चुका है) अंबा या शक्ति की समाधि के प्रतीक रूप में रखा जाता है। कभी गरबी को पंडाल में एक ओर रखा जाता है और

संगीतकार उसके सामने बैठते हैं और कभी मिट्टी का दीया और गरबी नेपथ्य में रखे जाते हैं जो अभिनय क्षेत्र से कोई सौ फुट की दूरी पर होता है। यहां एक त्रिशूल की आकृति बना दी जाती है जो अंबा के अस्तित्व का प्रतीक होती है। दीया जलाना, त्रिशूल की आकृति बनाना तथा प्रस्तुति के आरंभ से पूर्व अभिनेताओं का उसे प्रणाम करना आदि ऐसे कर्मकांड हैं जो यक्षगान और छऊ जैसे अन्य नाट्य रूपों में भी मिलते हैं। नेपथ्य हो या रंगमंच, भवाई अभिनेता (चाहे वह भवाया हो या भील या ब्राह्मण) का पहला काम गरबी को प्रणाम करना और अंबा देवी से आशीर्वाद की याचना करना होता है।

उर्वरता के प्रतीक के रूप में 'घट' का महत्व सुविदित है। मंगल घट प्राचीन भारतीय कला में दृष्टिगत होता है और अनेक शताब्दियों तक इसका अस्तित्व बना रहा है। प्रदर्शनकारी कलाओं में भी इसकी भूमिका समान रूप से महत्वपूर्ण है। मयूरभंज और सेराएकला छऊ में इसकी कर्मकांडगत अर्थवत्ता हम देख चुके हैं। इन नाट्य रूपों में घट संबंधी कर्मकांडों का अधिक व्यापक रूप है, किंतु जहां तक मिट्टी के घड़े के शक्ति और पूर्णता का प्रतीक होने का प्रश्न है यह आधारभूत प्रतीकात्मकता सर्वत्र दिखाई देती है, चाहे पूर्वी भारत हो या पश्चिमी भारत। जनजातीय वर्गों के संदर्भ में भी ऐसा ही है, क्योंकि घट-प्रतीकात्मकता की कर्मकांडगत और कलागत अभिव्यक्ति का कृषि की क्रिया से भी कुछ संबंध है। नायक नाट्य प्रस्तुति का निर्देशक और आयोजक होता है। ऊंचा वर्गाकार मंच सुलभ न होने की स्थिति में वह बीस फुट व्यास वाला एक वृत्त बना देता है और यही अभिनय क्षेत्र होता है। एक ओर संगीतकार बैठ जाते हैं और दर्शक अभिनय क्षेत्र के चारों ओर बैठते हैं। रेखा खींच कर वृत्त बनाने की क्रिया से ही प्रस्तुति क्षेत्र निर्धारित हो जाता है और अपने आप ही उसके साथ एक प्रकार की पवित्रता जुड़ जाती है।

अभिनेता नायक और संगीतकार के गायन द्वारा गरबी को नमन करते हैं। इसके पश्चात् अभिनेता नेपथ्य में चले जाते हैं। प्रस्तुति के ठीक पूर्व का यह एक संक्षिप्त और प्रभावपूर्ण कर्मकांड है। इसके बाद गायक वादकों के साथ साथ आवणि या आवणु का गायन करते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ 'प्रवेश' होता है। इस गायन का स्वरूप भागवतमेला रूपों के प्रवेश द्वार जैसा ही है। इसके बाद तांबे का एक सुषिर वाद्य जिसे भुंगल कहते हैं, बजाया जाता है और यह रंगमंच पर एक या अधिक प्रसंग प्रस्तुत करने के लिए अभिनेता के पुन: प्रवेश की घोषणा होती है। प्राय: शुरुआत गणेश के आह्वान से होती है जिसे 'गणेश वेश' कहते हैं। भवाई का गणेश कोई मुखौटा नहीं पहनता। वह मुखौटे के स्थान पर चेहरे के आगे पीतल की एक पट्टी टांगे रहता है और प्रस्तुति के दौरान उसे निरंतर हिलाता डुलाता रहता है।

अभिनय क्षेत्र (जिसे पौध कहते हैं) में प्रवेश और वहां से प्रस्थान के लिए अभिनय क्षेत्र और नेपथ्य के बीच में एक संकरा गलियारा होता है। गणेश के आह्वान के साथ साथ प्रभावशाली नृत्य करने के बाद अभिनेता नेपथ्य में लौट जाता है।

इसके पश्चात् एक ब्राह्मण स्टाक चरित्र 'ब्राह्मण वेश' का आगमन होता है और ठीक उसके पीछे पीछे एक तीसरा प्रसंग 'कबा और उसकी पत्नी जटडि' प्रस्तुत किया जाता है। किसी एक कथा या कथाओं की प्रस्तुति के पूर्व के ये तीन आवश्यक प्रसंग हैं। नवरात्रि पर्व के विशेष दिनों के लिए विशिष्ट प्रसंग भी निश्चित किये जाते हैं।

इस चरणबद्ध प्रारंभिक भाग की प्राय: वही गति होती है जैसी अधिक प्राचीन और विशाल सर्जनात्मक तथा शास्त्रीय साहित्य से पोषित समुन्नत नाट्य विधाओं में देखने को मिलती है। भवाई की गति मिट्टी के घड़े की अमूर्त प्रतीकात्मकता से अधिक मूर्त गणेश पूजा की ओर होती है। इसमें सुंदर शैलीकरण होता है। अब आयाम परिवर्तन होता है, मनोदशा बदलती है और कुटियट्टम के चार पुरुषार्थों के उपहास की भांति यहां भी ब्राह्मणों पर पहला मृदु व्यंग्य सुनने को मिलता है। धरातल एक बार फिर बदलता है और इस बार साधारण घरेलू जीवन की झांकी देखने को मिलती है। इसे धार्मिक नाटक कहा जाए या धर्मनिरपेक्ष नाटक?

संगीतकार निरंतर एक ओर बैठे रहते हैं। वादक दल में एक भुंगलवादक, एक ढोलवादक (पखवाजी), एक सारंगीवादक, एक झांझवादक और अब एक हारमोनियमवादक भी होता है। नायक गायक भी होता है और वादक भी तथा साथ ही वह कथावाचक और निर्देशक भी होता है। दक्षिण भारत के नाट्य रूपों के नट्टुवनर जैसी भूमिका का निर्वाह भी वह करता है, क्योंकि प्रस्तुति के आरंभ में और बीच बीच में भी जब अभिनेता नृत्य कर रहे होते हैं तो बोल भी उसे ही गाने पड़ते हैं। कभी कभी प्रस्तुति के अंत में उसे भाषण भी देने पड़ते हैं।

उपर्युक्त तीनों संक्षिप्त प्रसंगों के उपरांत नाटकीय प्रसंग होते हैं जिनमें छोटे,बड़े सभी प्रकार के प्रसंग होते हैं । ये वेश कहलाते हैं और विभिन्न चरित्र वर्गों के लिए केरल,कर्नाटक,आंध्र,गुजरात आदि में इसी शब्द का प्रयोग किया जाता है । भवाई में इसका अर्थ चरित्र वर्ग या रूपसज्जा का प्रकार नहीं होता । यहां इसका अर्थ कथ्य होता है,चाहे वह लंबा हो या छोटा । गुजरात में अनेक प्रवेशों की रचना का श्रेय असाइता को दिया जाता है । राजस्थान में इनके लेपन का श्रेय अन्यों को दिया जाता है ख्याल की भांति ही,किंतु दक्षिण के कुछ नाट्य रूपों के विपरीत कथ्य पौराणिक कथाओं तक ही सीमित नहीं रहते । सामाजिक कथ्य,राजनीतिक प्रसंग और ऐतिहासिक प्रेमकथाएं बहुत लोकप्रिय विषय हैं ।

काना-गोपी (कृष्ण-गोपी),राम-रावण और अर्धनारीश्वर जैसे कुछ मिथकीय कथ्य हैं । जस्माओडणा,रामदेव,जयसिंह आदि ऐतिहासिक कथ्य हैं । अधिकांश कथ्य सामाजिक हैं और उनका उद्देश्य सभ्य समाज के पाखंड की पोल खोलना है । कहा जाता है कि असाइता ने इस प्रकार के 350 वेषों या नाटिकाओं की रचना की थी । इनमें सामाजिक कुरीतियों जैसे किसी वृद्ध पुरुष का किसी युवती से विवाह या बहुविवाह प्रथा पर टीका-टिप्पणी की गयी है या बनियों आदि की कलई खोली गयी है । प्रहसन,खरमस्ती,व्यंग्य,वाग्विदग्धता,कला प्रेम,नृत्य आदि भवाई प्रस्तुति की विशेषताएं हैं । जूठण मियां और झंडा झुलण इस प्रकार के दो अत्यंत लोकप्रिय नाटक हैं । दर्शक खूब ठहाके लगाते हैं और उनकी प्रशंसा से प्रेरित होकर अभिनेता नये नये अंश जोड़ता जाता है । रंगलो विदूषक है जो जब चाहे रंगमंच पर आ जाता है और जब चाहे बाहर निकल जाता है । जिस प्रकार कुटियट्टम का विदूषक अतीत को वर्तमान से जोड़ता है उसी प्रकार भवाई का विदूषक भी अंतःकरण की आवाज है और एक निस्संग बुद्धिमान प्रेक्षक है । यात्रा के विवेक की भांति उसकी भूमिका भी नाटक के ही किसी पात्र को सौंपी जा सकती है ।

भवाई में दोहा,चौपाई,गीत और गद्यांश का उपयोग किया जाता है । बीच बीच में नायक के बोल,उसका गायन और उसकी टीका टिप्पणी होते हैं । चरित्र के प्रवेश या विकास से संबद्ध नाटकीय संरचना में या गायन आदि में भवाई सामान्य पद्धति का ही अनुसरण करता है । वर्णन पद्धति कलाओं से ली गयी है,गायन शैलियां संगीत नाटकों से ग्रहण की गयी हैं और स्वच्छंद गीतात्मकता साहित्यिक परंपरा के रासकों की देन है ।

अन्य नाट्य रूपों की भांति भवाई में भी नारी भूमिकाएं पुरुषों द्वारा की जाती हैं । जलते हुए दीपों के साथ विशेष नृत्य, नारी-पात्र के प्रवेश की विशेषता है । इस नृत्य को 'कांचलिया' कहते हैं । जलते हुए दीए 'काकडा' कहलाते हैं । नारी भूमिका करने वाला अभिनेता गलियारे के रास्ते से प्रवेश करता है । वह अपने अंगूठे और एक उंगली से जलते हुए दीए पकड़े रहता है और इस क्रिया के द्वारा वह प्रतीकात्मक रूप से अंबादेवी और अपने गुरु 'नायक' के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है । वह वाद्यकारों को प्रणाम करता है और तब भूमि पर घुटनों के बल बैठ जाता है । पहले ढोल के स्वर पर वह संगीतकार अपनी पंक्तियां गाता है । इसके पश्चात संगीतकार बहुधा उसकी पंक्तियों का गायन करते हैं और वह गायन के अनुरूप मूकाभिनय करता है । इसमें मुखज अभिनय (चेहरे के हावभाव) की बहुलता रहती है । इसके बाद एक संपूर्ण शास्त्रीय नृत्य क्रम संपन्न किया जाता है । इसकी प्रस्तुति उसी रीति से की जाती है जिस प्रकार किसी अन्य शैली में नृत्य की और इसमें पदसंचालन की प्रधानता होती है । तालवाद्यों,विशेषकर पखावज और कभी कभी ढोलक के तालों पर वह अनेक लयात्मक विन्यासों की रचना करता है । बोलों के सामान्य गुच्छ एक समकालिक या असमकालिक विन्यास में मूलराग या ताल के अनुरूप गाये जाते हैं । नर्तक अंग संचालन,विशेषतः पद संचालन द्वारा इनकी व्याख्या करता है । कथक आदि की 'तोड़ा टुकड़ा' रचना जो दक्षिण की शैलियों के 'जीत' या 'सोलुकट्टु' के समतुल्य है यहां भी देखने को मिलती है । परंतु इन लयात्मक प्रसंगों की निष्पत्ति में नर्तक की भंगिमाएं शैलीकृत नहीं होतीं जब कि इन नृत्य रूपों में से कुछ में यह शैलीकरण मिलता है । नर्तक के दीए या पात्र पकड़े रहने की स्थिति ही सीधी खड़ी मुद्रा का निर्धारण करती है । अन्य स्थितियों में कूल्हों का स्वच्छंद संचालन किया जाता है और ऊपरी अंगों तथा बाहुओं का संचालन न्यूनतम होता है । देखने और सुनने में एक ओर भवाई और ख्याल, दूसरी ओर भवाई और तमाशा के नृत्त वाले अंशों में अंग संचालन और लयात्मक रचना का एक अस्पष्ट-सा सादृश्य है, यद्यपि ब्यौरे की दृष्टि से ये सभी एक दूसरे से एकदम भिन्न हैं । भवाई नृत्य में चरण का तल भाग भूमि से चिपका हुआ रहता है । तमाशा की अपेक्षा भवाई में पंजे या एड़ी का अधिक उपयोग किया जाता है । यही कारण है कि कोई बहुत कुशल नर्तक

कथक के सदृश होने का भाव जगाता है। परंतु भवाई शैली की अपनी विशेषताएं हैं और इनसे किसी अन्य शैली का धोखा नहीं हो सकता। भुंगल द्रुत घिटनियों के उपरांत स्वराघात या यति के क्षण सुलभ कराता है और वाद्य वृंद पखावजवादक तथा नर्तक के बीच की इस लय को सहारा देता है। भवाई में स्त्री भूमिका करने वाले अभिनेता का एकल नृत्य ही नहीं है, अपितु उसमें अनेक सामूहिक नृत्य भी हैं किंतु इनमें भी अधिकांशतः स्त्री भूमिका करने वाले अभिनेता ही होते हैं। इनमें गरबा और गरबी के विशिष्ट अंग संचालन विन्यासों का निर्बाध रूप से उपयोग किया जाता है। बहुधा एक नाटकीय चरण को दूसरे नाटकीय चरण तक इसी प्रकार के नृत्यों के द्वारा संक्रमित किया जाता है। नाटक की संरचना में भी उस समय इसका प्रवेश हो जाता है जब अभिनेता गायन के साथ साथ अंग संचालन करने लगता है और नृत्य की चाल तथा गति से रंगमंच पर चलता है। अन्य नाट्य रूपों की भांति यहां भी नाट्य परिदृश्य का एक अभिन्न अंग है। उसकी स्थिति ऐसी सजावट की नहीं है जिसके बिना भी काम चलाया जा सके।

अंकिआ-नाट या भाओना, ख्याल और यक्षगान आदि की भांति ही यहां भी संगीत रचनाएं हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के रागों और तालों से लेने के साथ साथ ग्रामीण या स्थानीय रागों और तालों से भी ग्रहण की गयी हैं। रागों में देश, सारंग, पूर्वी, रामकली, आसावरी लोकप्रिय हैं। रास, गरबा, भजन और गजल के परंपरागत रागों का भी बहुत उपयोग किया जाता है। विभिन्न प्रकार की संगीत रचनाओं का मिला जुला रूप देखने को मिलता है जिसका एक अंश जहां अत्यधिक संरचनाबद्ध होता है वहीं दूसरा अंश स्वच्छंद होता है। फिर भी, इन दोनों अंशों की एक सामंजस्यपूर्ण गति होती है। इस प्रक्रिया के दर्शन हम भारत भर की प्रायः सभी नाट्य कृतियों में कर चुके हैं। बाह्य आकार और शिल्प की यह संरचनागत विशेषताएं ही इन नाट्य रूपों को भीतर से एकता के सूत्र में बांधती हैं। यद्यपि कथ्य, अंतर्वस्तु और भाषा की दृष्टि से वे एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं।

यात्रा और ख्याल की भांति ही भवाई की वेशभूषा भी अनेक कालखंडों के सहअस्तित्व का दृश्य प्रस्तुत करती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उसमें काल दोष पाए जाते हैं। राजा की पोशाक किसी विशेष काल के अनुरूप हो सकती है, किंतु उसमें गुजरात की समकालीन ग्रामीण पोशाकों के कुछ तत्व भी जुड़े दिखाई दे सकते हैं। ब्राह्मण की पोशाक सुनिश्चित प्रकार की होती है। वह धोती पहने रहता है और छाती पर कोई वस्त्र नहीं होता। जनेऊ और कंधे पर एक गमछा भी डाले रहता है। अन्य पात्र, जैसे सिपाही आदि आधुनिक वस्त्र पहन सकते हैं। ख्याल और भवाई में प्रायः 16वीं और 17वीं शताब्दी के काल से संबद्ध नाटक में भी सिपाही को आज के वस्त्र पहने देखा जा सकता है। जूठण मियां और रंगलो जैसे स्टाक चरित्रों और कुछ अन्य पात्रों की पहचान उनकी विशिष्ट वेशभूषा और रूप सज्जा से की जा सकती है, किंतु इनका संबंध वास्तविक जीवन से न होकर केवल रंगमंच की वास्तविकता से होता है। भौंहों और मूंछों की अतिरंजित आकृति बनाने के सामान्य प्रयास को छोड़कर अन्य चरित्रों की कोई विशेष रूप सज्जा नहीं होती। परंतु जूठण मियां और रंगलो जैसे स्टाक चरित्रों की कभी कभी विशेष रूप सज्जा की जाती है। जूठण मियां की भूमिका के लिए खड़िया से माथे पर, भौंहों और बांसे के किनारे किनारे रेखाएं खींची जाती हैं और गालों पर लाल तथा काली बिंदियां लगा दी जाती हैं। कुल मिलाकर इस बात का सचेतन प्रयास किया जाता है कि चरित्र इस संसार का प्राणी प्रतीत न होकर नाट्य संसार का चरित्र लगे। जूठण मियां को बहुधा तुर्की या अफगानी कुलाह (शंक्वाकार टोपी) पहना दी जाती है और उसके चारों ओर पगड़ी बांध दी जाती है। दोनों ओर फुंदने लटकते रहते हैं। संक्षेप में यह कि रूपसज्जा द्वारा चरित्र को असली संसार से अलग दिखाने का प्रयास किया जाता है। उस की अन्य पोशाकें – पगड़ी, ढीला-ढाला पायजामा (शलवार से मिलता जुलता), ऊपरी कमीज और फतूही आदि गुजरात के सुलतानी दौर के चरित्रों का स्मरण कराती है।

नारी पात्रों के वस्त्र विभिन्न प्रकार के होते हैं। उन्हें साड़ी से लेकर लहंगा तक पहनाया जाता है, किंतु विशिष्ट गुजराती ओढ़नी अनिवार्य है। जहां चक्कर खाने और फिरनी खाने की स्थिति की दृष्टि से लहंगा नर्तक के लिए बहुत सुविधाजनक है, वहीं ओढ़नी का उपयोग कई प्रकार से नाटकीय प्रयोजन के लिए किया जाता है। यदि मुख ओढ़नी से ढका हुआ है तो विवाहित होने का संकेत दिया जा सकता है और यदि ढका हुआ नहीं है तो अविवाहित होने का और ओढ़नी को फेंक देने से अन्य संकेत दिए जा सकते हैं। पात्रों की पगड़ियां उनकी सामाजिक स्थिति, उनके व्यवसाय और उनकी चरित्रगत

विशेषताओं की सूचक होती हैं। थोड़ा झुकाव, कोण में परिवर्तन, किसी विशेष प्रकार की धोती के साथ कोई और विशेष प्रकार का ऊपरी वस्त्र पहनना, पगड़ी बांधने की शैली – ये सब किसी न किसी विशेष तथ्य के सूचक होते हैं। इससे किसी विशेष इलाके का संकेत मिल सकता है या सामाजिक स्थिति अथवा किसी चरित्रगत विशेषता की जानकारी मिल सकती है। यह युक्तियां चाहे जान बूझ कर बनाई गयी हों या इन्होंने धीरे धीरे भवाई में प्रवेश पाया हो, अपने दर्शकों तक अपनी बात पूरी तरह से पहुंचाने की दृष्टि से भवाई के लिए ये बहुत प्रभावी और अनिवार्य सिद्ध हुई हैं।

प्रकाश की व्यवस्था हज्जाम (नाई) करता है। लकड़ी या बांस के खंभों पर लगी जलती हुई मशालें लिये वह रंगमंच या अभिनय क्षेत्र (पौध चाचर) के पिछले भाग में बीचोंबीच खड़ा रहता है। नाटकीय क्षणों में वह मशाल का प्रकाश अभिनेताओं के चेहरों पर केंद्रित करता है और अभिनयरत कलाकारों के पीछे पीछे रंगमंच पर बेरोकटोक चलता है। प्रस्तुति की समाप्ति पर दीयों को रखने में वह नृत्यांगना की सहायता करता है और किसी भाव या नृत्य गति को विशेष रूप से प्रदीप्त करने के लिए प्रकाश को नर्तकों के मुख पर केंद्रित करता है। हम इसी प्रकार की प्रकाश व्यवस्था अंकिआ-नाट या भाओना में भी देख चुके हैं। आधुनिक विद्युत प्रकाश व्यवस्था से जिस उद्देश्य की पूर्ति होती है वह उद्देश्य मशालों और प्रदीपन की इन युक्तियों से तथा कुटियट्टम या कथकलि आदि में केंद्रीय दीपक के निकट आने से पूरा होता था। खुले वातावरण या बंद अहाते का मद्धिम प्रकाश इन आकस्मिक प्रदीपनों के साथ नाटकीय भ्रम उत्पन्न करने का सदा ही एक प्रभावी साधन सिद्ध होता है और इन नाट्य रूपों के ऐसे कितने ही तत्व जो विद्युत प्रकाश की पृष्ठभूमि में बहुत चटकीले, अतिरंजित और भड़कदार लगते हैं, अपनी परंपरागत प्रकाश व्यवस्था में सुखद और अभिव्यक्तिशील प्रतीत होते हैं। समरस सफेद फुटलाइट और उपरला पुंजप्रकाश तथा पेट्रोमेक्स प्रकाश का विवेकहीन प्रयोग निस्संदेह एक नकारात्मक प्रभाव ही डालता है। स्वदेशी प्रकाश व्यवस्था नाटक का उसी प्रकार एक अभिन्न अंग है जिस प्रकार उसकी कथावस्तु, गायन, नृत्य, वेशभूषा और रूप सज्जा की शैलियां।

नौटंकी, ख्याल और कुछ अंशों में यात्रा तथा तमाशा की भांति भवाई के इतिहास में भी अनेक उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं जो सामाजिक- आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुए हैं। जहां नवरात्रि पर्व के एक आवश्यक अंग के रूप में भवाई की प्रस्तुति ब्राह्मणों और क्षत्रियों द्वारा अंबादेवी के मंदिरों के सामने की जाती रही, विशेषकर भावनगर और बड़ौदा में, वहीं व्यावसायिक भवाया समुदाय ने भवाई को अनपढ़ नुक्कड़ नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जो लगभग भोंडा और कुरुचिपूर्ण था। हम देख चुके हैं कि यात्रा और नौटंकी के साथ भी कमोबेश ऐसा ही हुआ था। यद्यपि एक भिन्न संदर्भ में किंतु काफी हद तक तमिलनाडु के 'सदिर नृत्य' और उत्तर भारत के 'नौच' को भी ऐसी ही स्थिति का सामना करना पड़ा था। ऐसी स्थिति में एक ऐसी प्रतिभा और किसी ऐसे जागरूक सृजनशील बुद्धिजीवी की आवश्यकता थी जो इस नाट्य रूप को एक नयी गति और एक नया अर्थ दे सके। इस दृष्टि से इस शताब्दी के चौथे और पांचवें दशकों में जयशंकर भोजक 'सुंदरी' का कार्य उतना ही महत्वपूर्ण रहा है जितना कि कथकलि के संदर्भ में वल्लथोल या भरतनाट्यम के संदर्भ में रुक्मिणी देवी का। पुराने अनुभवी अभिनेता जयशंकर 'सुंदरी' ने गुजराती नाटकों की प्रस्तुति भवाई शैली में की और नारी पात्र की भूमिका स्वयं की। आगे चलकर दीना गांधी से उन्हें उपयुक्त बल मिला। छठे दशक के प्रारंभ में उन दोनों ने संयुक्त रूप से 'मेन गुर्जरी' प्रस्तुत किया। यह आधुनिक पुनरुत्थान के इतिहास में और भवाई को सड़क तथा ग्रामीण नाटक के धरातल से उठाकर ईर्ष्या योग्य आधुनिक रंगमंच का रूप देने की दृष्टि से भी एक महत्वपूर्ण घटना मानी जायेगी। दो प्रवृत्तियां साथ साथ चलती रहीं। एक का संबंध नगरीय क्षेत्रों में प्रयोग करने और नवीनता उत्पन्न करने की दृष्टि से आधुनिक रंगमंच के लिए इस विधा का उपयोग करने से था। दूसरी का संबंध विधा को उसके कुछ भोंडेपन और गंवारूपन से धीरे धीरे मुक्त कराने से था। दीना गांधी और शांता गांधी ने क्रमशः 'मेन गुर्जरी' और 'जसमा ओडण' की अपनी अत्यधिक सफल प्रस्तुतियों में पहली प्रवृत्ति का परिचय दिया है। गुजरात में प्राण सुखनायक और विट्ठलदास नायक तथा राजस्थान में देवीलाल सामर दूसरी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि रहे हैं। भिन्न भिन्न दृष्टियों से संपन्न इन महानुभावों के समानांतर प्रयत्नों से भारतीय रंगमंच की बृहतर धारा में इस नाट्य रूप की समृद्धि का समावेश हो सका है। गत दो-तीन दशकों में दिल्ली, अहमदाबाद और बंबई के युवा रंगमंच निर्देशकों ने इस नाट्य रूप में अनेक प्रयोग किये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 16वीं शताब्दी में जन्मी एक नाट्य विधा का संबंध उसके जन्म से शताब्दियों पूर्व की साहित्यिक और नाटकीय घटनाओं से है और 9वीं या 10वीं शताब्दी की रासक जैसी विधाओं के संबंध में तो यह बात और भी निश्चित रूप से कही जा सकती है। यह प्रक्रिया कर्मकांडीय रंगमंच तथा नवरात्रि के जननक्षमता अनुष्ठानों के तत्वों के समावेश से प्रारंभ हुई। आगे चलकर यह अंबादेवी की उपासना से जुड़ गयी और साथ ही उसने उत्तरकालीन संस्कृत रंगमंच की 'सत्तक' परंपरा तथा जैन रंगमंच की संगीतक, रासक और रासो परंपरा के शैलीगत तथा प्राविधिक तत्व भी अर्जित कर लिये। धीरे धीरे यह नाट्य विधा पौराणिक कथाओं के अपने साहित्यिक आधार को छेदती चली गयी और केवल सामाजिक रूपों को अग्रता देने लगी, यद्यपि पूर्ववर्ती रंगमंच के रूपगत तत्व बने रहे। लिखित साहित्य न होने के कारण इसने मौखिक परंपरा पर आधारित अलिखित नाटक का रूप ले लिया और मुख्यतः विशेष सामाजिक स्तरों पर विशेष अवसरों तक सीमित होकर रह गयी। राष्ट्रीय आंदोलन और देशज रूपों की खोज ने इसे पुनरुज्जीवित किया और समयांतर में यह नये रंगमंच की आकांक्षाओं और आदर्शों का एक अंग बन गयी।

भवाई के इतिहास की इस संक्षिप्त रूपरेखा से कदाचित एक बार फिर यह स्पष्ट हो जायेगा कि न तो संकल्पनात्मक दृष्टि से और न ही वास्तविक स्थिति की दृष्टि से तथाकथित 'मार्गी' और 'देशी' दो अलग अलग खंड थे। वस्तुस्थिति इसके विपरीत थी। दोनों ही एक दूसरे के पूरक रहे हैं और दोनों एक ही वृत्त के दो ऐसे खंडों के समान दिखाई देते हैं जो सामाजिक परिवेश में परिवर्तन होने, साहित्यिक लेखन या किसी अन्य कारण से एक दूसरे के साथ मिल सकते हैं, एक दूसरे का रूप ग्रहण कर सकते हैं और एक दूसरे के तत्वों को आत्मसात कर सकते हैं। नाट्यधर्मी (शैलीकरण, अमूर्तन), तथा लोकधर्मी (यथार्थ, लोकप्रिय), इन दोनों संकल्पनाओं का संबंध शैली, रस और भाव से था, न कि मात्र सामाजिक स्तर से। छऊ रूपों का स्तर सामाजिक है और साहित्यिक कृतियों का आधार न होने के कारण उन्हें आज देशी कहा जा सकता है। परंतु उनकी प्रस्तुति शैली पूर्णतः नाट्यधर्मी है जिसमें अत्यंत परिष्कृत अभिव्यंजना पद्धति के साथ साथ अमूर्तन की अनेक परिपाटियों और विधियों का प्रयोग किया जाता है। नवरात्रि पर्व के अवसर पर अंबा देवी की पूजा से संबद्ध अनुष्ठान और नाट्य विधा के रूप में जब भवाई की प्रस्तुति ब्राह्मणों और राजवंश के सदस्यों द्वारा की जाती है तो सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से इसे मार्गी कहने का कुछ औचित्य हो सकता है, किंतु मात्र सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से ही ऐसा कहा जा सकता है, कलात्मक दृष्टि से नहीं। भवाया, कोली और कंसरा जातियों द्वारा भवाई प्रस्तुत होने की स्थिति में निश्चित रूप से सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से इसे देशी कहा जायेगा। फिर भी, जहां तक नाटकीय शैली का संबंध है समस्त स्थितियों में यह नाट्यधर्मी की अपेक्षा लोकधर्मी के अधिक निकट है, यद्यपि रंगमंच संबंधी अनेक परिपाटियां लोकधर्मी क्षेत्र की ही हैं, नाट्यधर्मी क्षेत्र की नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रंगमंच का शास्त्रीय रूप और लोक रूप में वर्गीकरण यहां भी पूर्णतः लागू नहीं होता। शास्त्रीय रूप और लोक रूप जैसे शब्द केवल सापेक्ष रुचि और विशेष रस के द्योतक हैं। वे एक दूसरे से एकदम कटे हुए क्षेत्रों के सूचक नहीं हैं। गतिशीलता का यह स्वरूप एक दूसरे को प्रभावित करने और परस्पर घुलमिल जाने की यह प्रक्रिया भारतीय संस्कृति के अनेक क्षेत्रों में दिखाई देती है, किंतु नाटक के क्षेत्र में यह प्रवृत्ति अविश्वसनीय रूप से सक्रिय दिखाई देती है। सामाजिक स्तरबद्धता का लंघन करने वाली अंतर्निमित गतिशीलता की इस व्यवस्था की अधिक संपूर्ण जानकारी हमें ऐसी अवधारणाओं तक ले जा सकती है जो समाजशास्त्रियों और कलाविदों की अब तक की अवधारणाओं से एकदम भिन्न हो सकती है। प्रस्तुति के विभिन्न स्तर किसी मंडलक की रेखाओं की भांति हैं जिसमें ये समस्त रेखाएं एक बृहतर वृत्त के ही भाग हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुजरात में संस्कृत परंपरा, देशी भाषाओं का विकास, जैन-परंपरा के रासकों का विकास और सभी परंपराओं की कथाएं साहित्यिक दृष्टि से एक मंडलक की विभिन्न रेखाएं हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी ब्राह्मणों के कर्मकांड, किसानों और कणबी आदि जनजातियों के रीति-रिवाज इसी मंडलक की विभिन्न रेखाएं हैं। प्रदर्शनकारी कलाओं के संदर्भ में कलात्मक दृष्टि भवाई जैसी एक विशेष विधा ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर वर्गों के बीच एक संपर्क-सूत्र का काम करती है। विधागत ढांचे में मार्गी और देशी, नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी – इन सब परंपराओं की समान भूमिका रहती है, यद्यपि देशी और लोकधर्मी रंगों की प्रधानता रहती है। अंत में यह भी उल्लेखनीय है कि राजस्थान जैसे संलग्न क्षेत्रों की सहधर्मी विधाओं से और दूरस्थ बंगाल के यात्रा नाटक जैसे रूपों से भी इसका संबंध है।

13

स्वांग, ख्याल, नौटंकी

यात्रा संबंधी अध्याय में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार राम और कृष्ण की कथाओं तथा भक्तिपूर्ण कीर्तन गायन से प्रारंभ होने वाली एक नाट्य विधा क्रमशः ऐसे सामाजिक नाट का रूप ग्रहण करती गयी जो समसामयिक, सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों से युक्त ऐतिहासिक कथ्यों पर आधारित था। रामलीला और रासलीला के शृंखला नाटकों का ढांचा जुलूस के सिलसिले की भांति एक ही कथ्य की प्रस्तुति माला में बदल गया।

सोलहवीं और 17वीं शताब्दी में रासलीला, रामलीला और अंकिआ-नाट या भाओना के कुछ समय बाद उत्तर और पश्चिम भारत के अधिकांश भागों में और साथ ही ओड़िसा तथा मध्यप्रदेश में भी कुछ ऐसी नाट्य विधाएं विकसित हुईं जो उत्तरवर्ती यात्रा या जात्रा से बहुत मिलती जुलती विधाएं थीं। कुछ विद्वानों के मतानुसार ओड़िसा के स्वांग और ओड़िसा के बंगला प्रेरित यात्रा में अनेक तत्वों की समानता है। सामाजिक चेतना इन सब की प्रमुख विशेषता थी और यद्यपि उनकी विषय सामग्री अभी भी पुराणों से ली जा रही थी तो भी ये विधायें राम और कृष्ण के शाश्वत कथ्यों से कट चुकी थीं। उत्तरप्रदेश में यह विधा नौटंकी कही जाती थी; उत्तरप्रदेश और राजस्थान में ख्याल; मध्यप्रदेश में नाच या मंच; उत्तरप्रदेश, पंजाब और अन्य क्षेत्रों में स्वांग के नाम से जानी जाती थी। यद्यपि प्रत्येक क्षेत्र की विधा का अपना विशिष्ट स्वाद था और विभिन्न भाषायी क्षेत्रों में अलग-अलग भाषा का प्रयोग हो रहा था, तथापि उद्देश्य की दृष्टि से ये सभी एकता के सूत्र में बंधी हुई थीं और कथावस्तु, नाटकीय संरचना तथा नाट्यगत प्रविधियों की दृष्टि से भी उनमें बहुत समानता थी।

इन नाट्य विधाओं के उद्गम स्रोत गाथागायकों, चारणों और भगतों के गायन तथा कथाकारों के वार्ता कथन और संस्कृत परंपरा के संगीतक और उपरूपक के अवशिष्ट रूपों में ढूंढ़े गये हैं। इन्हें सड़क रंगमंच के रूप भी कहा गया है, क्योंकि इनमें जहां रासलीला, रामलीला और भगत के प्रायः सभी कर्मकांडगत पूर्वरंगों का परित्याग किया गया है, वहीं इनकी प्रस्तुति न तो मंदिर में की जाती है और न ही मंदिर प्रागंण में।

ऐतिहासिक दृष्टि से इनका उद्‌गम काल अधिक से अधिक 18वीं शताब्दी का अंतिम चरण या 19वीं शताब्दी का प्रारंभ माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि इनके उद्‌गम का काल वही है जो ब्रिटिश सत्ता के आविर्भाव और भारत के उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी भागों की विभिन्न भाषाओं में घटित होने वाली गतिविधियों का है। इस इतिहास को जानने के लिए हमें सुदूर साहित्यिक या सांस्कृतिक अतीत पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं है।

'स्वांग' शब्द ओड़िआ के छद्‌म या छऊ का ही प्रतिरूप है जिसका व्यवहार तीनों छऊ रूपों में होता है और जिससे असम भी परिचित है। इसका अर्थ छद्‌मवेश, छद्‌मावरण आदि भी है। यह शब्द ओड़िसा, बिहार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान,

मध्यप्रदेश, पंजाब और हरियाणा के साथ साथ कश्मीर में भी प्रचलित था। उत्तर भारत के अनेक भागों में रंग बिरंगी पोशाकें पहने स्वांग दल आज भी होली के अवसर पर घूमते दिखाई देते हैं। साथ ही, विवाह के अवसरों पर कन्या पक्ष की महिलाएं एक मनोरंजक हास्य प्रसंग की प्रस्तुति करती हैं जो स्वांग कहा जाता है। संभव है कि नाटक या नाटिका तथा प्रहसन जैसे रूपों से भिन्न संस्कृति का कोई सशक्त नाट्य रूप स्वांग का पूर्व रूप रहा हो। 17वीं-18वीं शताब्दी की लीला और रास प्रस्तुतियों से ये रूप असंबद्ध भी नहीं हैं।

हाल में जगदीशचंद्र माथुर, दशरथ ओझा और रामनारायण अग्रवाल जैसे विद्वानों ने इन रूपों के इतिहास की खोज की दिशा में बहुमूल्य कार्य किया है। कुछ मत वैभिन्नय के साथ इन विद्वानों की धारणा है कि 'स्वांग' शब्द की व्युत्पत्ति 'संगीत' शब्द से है जो आज भी प्रचलित है और 'संगीत' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'संगीतक' से है। उनका यह भी विचार है कि इसकी एक वैयक्तिक नाट्य प्रस्तुति 'भगित्य' (बहुरूपिया से उद्‌भूत) और कीर्तनिया के कीर्तन गायन की परंपरा से (जिसका उल्लेख **आइने-अकबरी** में मिलता है) स्पष्ट संबंध है। रामनारायण अग्रवाल ने अपनी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'संगीत' में उत्तरप्रदेश, राजस्थान, पंजाब और हरियाणा में स्वांग, भगत, ख्याल और नौटंकी के नाट्य रूपों के इतिहास का व्यवस्थित प्रयास किया है। इस विस्तृत पुनर्निमित वृतांत से प्रकट होता है कि यद्यपि ये रूप नये प्रतीत होते हैं, किंतु इनका भारत की 15वीं या 16वीं शताब्दी या कदाचित इससे भी पूर्व की कलात्मक गतिविधियों से जीवंत संपर्क रहा है।

वस्तुस्थिति जो भी रही हो, आज स्वांग ग्रामीण भारत में ही सिमट कर रह गया है, यद्यपि कस्बाई और नगरीय क्षेत्रों को इससे अछूता भी नहीं कह सकते। होली के उत्सव पर आज भी पंजाब में 'झांकी' और 'स्वांग' की प्रस्तुति प्रतियोगी दलों द्वारा की जाती है। ये प्रस्तुतियां पंजाब की हों या हरियाणा की, राजस्थान की या उत्तरप्रदेश की, इनकी मुख्य विशेषता वेशभूषा और वह वाकयुद्ध है जो दो टोलियों या दो पात्रों के बीच होता है। हरियाणा में इसका रूप एक संवाद का है जो दो पात्रों के बीच होता है और जिसमें पहले एक लंबा प्रश्न किया जाता है और फिर उसका उत्तर दिया जाता है। राजस्थान में स्वांग की परिधि बहुत विस्तृत है। विवाह के अवसर पर झमतरे, तूंतिया और तुंतिकी की प्रस्तुति की जाती है। होली आदि के अवसर पर अन्य रूपों की प्रस्तुति की जाती है। और कुछ अन्य रूप भी हैं जो ढोला-मारु जैसे लोकप्रिय विषयों पर आधारित होते हैं।

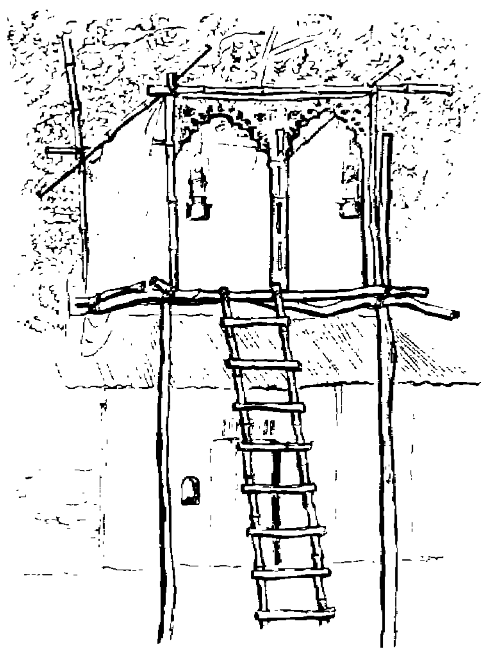
इनमें जहां संवाद तीखे और गायन शैली प्रांजल होती है, वहीं नाटकीय तत्व सीमित होता है। अर्थ की बहुस्तरीयता या कथानक और चरित्र के विकास की बहुत कम संभावना होती है। प्रस्तुति जब खुले मैदान में की जाती है तो नगाड़ा बजाकर इसकी सूचना दी जाती है। घरेलू आयोजनों में इसका प्रयोग नहीं किया जाता। कथाएं लोकप्रिय गाथाओं से लेकर ऐतिहासिक घटनाओं तक पर आधारित होती हैं। सामाजिक व्यंग्य और तीखी आलोचना संवादों में गुंथी होती है और प्रायः एक ही अभिनेता अनेक भूमिकाएं कर सकता है।

उत्तरप्रदेश का ख्याल और आज मुख्यतः राजस्थान का ख्याल एक अधिक विकसित रूप है जिसकी जड़ें सामाजिक वाग्विदग्धता और हास्य में जितनी गहरी हैं, उतनी ही इसी नाम की साहित्य विधा में। इसके उद्‌गम स्रोत भी रास, चर्चरी, फागु आदि में ढूंढ़े गये हैं। रासलीला के संदर्भ में हम इनकी चर्चा कर चुके हैं। इन रूपों ने सामाजिक नाट्य रूपों को जन्म दिया जो रमत, खेल, ख्याल आदि नामों से पुकारे जाते हैं। 18वीं शताब्दी में ख्याल जितना एक संगीत रचना था उतना ही एक काव्यात्मक और नाटकीय रचना भी और इस नये प्रकार के मनोरंजन का केंद्र आगरा था। धीरे धीरे जहां इसी स्रोत से उत्तरप्रदेश में नौटंकी का विकास हुआ, वहीं राजस्थान में ख्याल लोकप्रिय हो गया। इससे स्पष्ट है ये दोनों विधाएं घनिष्ठ रूप से एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं। दोनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने से जहां दोनों में अनेक समानताएं देखी जा सकती हैं, वहीं दोनों के अपने अपने विशिष्ट स्वरूप की पहचान भी की जा सकती है।

आज ख्याल की अनेक शैलियां हैं और बहुत अंशों में इसे व्यावसायिक संगीतकारों और अभिनेताओं के एक विशेष वर्ग का परिरक्षण प्राप्त है। इनमें से कुछ तो भांड, गंधर्प आदि वर्गों के हैं और अन्य का संबंध विभिन्न हिंदू जातियों से है। अनेक शैलियों का नामकरण या तो क्षेत्र के आधार पर हुआ है या समुदाय के आधार पर या प्रस्तुति के स्वरूप और शिल्प के आधार पर।

मेवाड़ी ख्याल, जयपुरी ख्याल, कुचमनी, शेखावटी ख्याल, हाथरसी ख्याल आदि नाम इसी विशेषता के सूचक हैं। इसी प्रकार गंधर्प ख्याल समुदाय विशेष के नाम का द्योतक है। कथावाचक ख्याल, अभिनय ख्याल आदि नाम अंग चालन को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देने के सूचक हैं। तुरा कलगी ख्याल, अली बख्श ख्याल आदि अपने अपने रचनाकारों के नाम का संकेत देते हैं। दंगली ख्याल प्रस्तुति के प्रकार का संकेत देता है।

प्रत्येक शैली ने अपने लिए विशेष रंगमंच प्रणाली और आधारभूत रंगसज्जा विकसित की है। निस्संदेह विभिन्न शैलियों की अलग अलग पहचान जितनी अंतर्वस्तु, भाषा, बोली और संगीत शिल्प के आधार पर की जा सकती है उतनी ही रंगमंच के आकार प्रकार पर भी की जा सकती है।



तथापि रंगमंच की आधारभूत विशेषताएं एक सी हैं। ये हमें संस्कृत नाटक के रंगमंच के निर्माण के सिद्धांतों का हल्के से स्मरण कराती हैं। हमें यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि संस्कृत नाटक की प्रस्तुति सुयोजित रूप से बनायी गयी रंगशाला में की जाती थी जिसमें स्थान विभाजन की कुछ कठोर परिपाटियों का पालन आवश्यक था। 'कक्ष-विभाग' के यही सिद्धांत और परिपाटियां भारतीय नाट्य परंपरा के तथाकथित लोक नाट्य रूपों में जीवित चले आ रहे हैं। प्राय: तीन या चार फुट ऊंचा एक मंच होता है। रंगमंच के चारों कोनों को केले के पेड़ के तनों से सजाया जाता है। इनके गिर्द दस से बारह फुट तक की उंचाई पर झालरों की एक रेखा सी चली जाती है। एक ओर मंच के ठीक सामने जमीन पर विशेष दृश्यों के लिए सफेद चादरें बिछा दी जाती हैं। तीन ओर दर्शक बैठते हैं। प्राय: रंगमंच के पीछे एक और बारह से बीस फुट तक की ऊंची बालकनी जैसी संरचना भी होती है। नाट्य प्रस्तुति में इन संरचनाओं से अनेक काम लिये जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि ये संस्कृत रंगमंच के अनेक स्तरों से विकसित हुई हैं। मुख्य रंगमंच पर पात्रों के उतरने के लिए सीढ़ी का प्रयोग किया जाता है। बहुधा इस प्रकार की बाल्कनियां दो से अधिक भी होती हैं। यह एक विचित्र बात है कि ये बाल्कनियां हमें एलिजाबेथ-युगीन रंगमंच का स्मरण कराती हैं जिसमें बाल्कनियों का बहुत अधिक प्रचलन था। चार-पांच फुट ऊंचे मुख्य मंच से थोड़ी दूरी पर एक खंभा अखाड़े या नाटक मंडली के नाम को बताता है। प्रकाश व्यवस्था के लिए मशालें एक स्थान पर बांध दी जाती हैं जैसा कि अंकिआ-नाट और भाओना की प्रस्तुतियों में भी हम देख चुके हैं। मुख्य मंच पर ही नाट्य निर्देशक अर्थात उस्ताद के बैठने के लिए विशेष स्थान होता है जहां एक कुरसी या कोई अन्य आसन रख दिया जाता है। हम पहले बता चुके हैं कि पुरुलिया छऊ के निर्देशक या प्रशिक्षक को भी उस्ताद ही कहा जाता है। कभी कभी मुख्य मंच के सामने सफेद चादरों के स्थान पर एक छोटा और कम ऊंचा मंच ही बना लिया जाता है। इसे लघु रंगमंच कहते हैं। बाल्कनी और मुख्य रंगमंच के पीछे नेपथ्य आदि होते हैं।

हमने देखा कि किस प्रकार ख्याल का रंगमंच एक सुनियोजित रंगमंच है जिसमें विविध प्रकार की नाट्यगत स्थितियों को प्रस्तुत करने का सामर्थ्य है। स्पष्टत: इसमें तीन स्तर हैं – बाल्कनी, मुख्य रंगमंच और लघु रंगमंच अथवा भूमि का वह भाग जिसमें सफेद चादरें बिछी रहती हैं।

संस्कृत रंगमंच के 'कक्ष विभाग' की परिपाटियों का अनुसरण यहां किया जा सकता है और प्राय: किया भी जाता है, यद्यपि प्रथम में हमें यह दिखाई नहीं देता है।

खंभा गाड़ने का संस्कार वास्तविक नाट्य प्रस्तुति से लगभग एक मास पूर्व संपन्न किया जाता है। आज यह नाट्य

प्रस्तुति के लिए स्थान आरक्षण और रंगमंच का निर्माण कार्य प्रारंभ होने का ही सूचक है। मूलतः इसका संबंध कृषिगत क्रिया से रहा होगा और साथ ही इसका कर्मकांडीय स्वरूप भी रहा होगा। छऊ नाट्य रूपों में इस संस्कार का जो महत्व है उसके साथ साथ नाट्यशास्त्र में उल्लिखित 'जर्जर' की ओर इस संदर्भ में हमारा ध्यान जा सकता है। भारत के सड़क नाटक तथा अन्य धर्मनिरपेक्ष कहे जाने वाले नाट्य रूप आज भी परंपरा का निर्वाह कर रहे हैं, किंतु मूल क्रिया या कर्मकांड से वे असंपृक्त अवश्य हो गये हैं।

प्राचीन परंपरा के अनेक तत्व आज भी ढूंढ़े जा सकते हैं, यद्यपि समय ने उन्हें धूमिल कर दिया है। इन अवशेषों के आधार पर ही हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तथाकथित 'लोक रूप' और 'शास्त्रीय रूप' एक दूसरे से सर्वथा भिन्न वर्ग नहीं माने जाने चाहिए। उनमें भिन्नता अवश्य है, किंतु वे एक दूसरे के पूरक भी हैं और परस्पर विरोधी होने की अपेक्षा वे एक दूसरे पर आश्रित अधिक हैं। भरत के समय से ही हमारे शास्त्रकार इस निरंतरता के प्रति सजग थे और उन्होंने इसे एक ऐसा प्रतिमान प्रदान किया जो आज भी मान्य है।

नृत्य नाटक के अन्य सभी रूपों की भांति ख्याल की प्रस्तुति का प्रारंभ भी नगाड़ा बजा कर और विशिष्ट राजस्थानी वाद्य यंत्रों के वादन तथा गायन द्वारा किया जाता है। नगाड़ा, ढोलक और मंजीरा तथा अब हारमोनियम भी ख्याल के मुख्य वाद्य यंत्र हैं। पात्र रंगमंच पर आकर अपना परिचय देते हैं, यद्यपि इसके लिए किसी विशेष आचरण या 'धरण' की अपेक्षा गायन की अधिक सहायता ली जाती है। परंतु बहुधा यात्रा की भांति प्रारंभ में नृत्य का बहुत अधिक आश्रय लिया जाता है। कथक और उत्तर भारत के अन्य नृत्य रूपों के पद संचालन के साथ इसका एक धुंधला सादृश्य है। इस अंश को 'अदायगी' कहते हैं और यह पात्र विशेष की अभिनय शैली का निर्धारण करता है। यह उसकी प्रमुख चरित्रगत विशेषताओं का परिचायक भी होता है। यह भागवतमेला के प्रवेश द्वार का समतुल्य किंतु अधिक सरलीकृत रूप है।

प्रारंभ में गणेश वंदना या सरस्वती वंदना भी की जा सकती है, किंतु ऐसा करना आवश्यक नहीं है। यात्रा की भांति ख्याल का प्रारंभ भी अतिनाटकीय ढंग से होता है और पावन मानी जाने वाली वस्तुओं और आस्थाओं पर खूब कटाक्ष और व्यंग्य किया जाता है। राजस्थानी कठपुतलियों के लिए ख्याल की शैली में लिखे गये नाटकों में भी ये रूढ़ियां प्रवेश कर गयी हैं। रामलीला, रासलीला और अंकिआ-नाट के विपरीत किंतु भागवतमेला, यक्षगान और कुटियट्टम की भांति ख्याल में भी विदूषक या उसके सदृश किसी अन्य पात्र की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। वह मुख्य पात्र के आचरण पर टीका टिप्पणी करता है, संकट के क्षणों में हास्य द्वारा वातावरण को हल्का करता है और साथ ही समाज तथा सत्ताधारी वर्ग के पाखंड और ढोंग का पर्दाफाश करता है। उसे फेर-बदल करने और किसी भी समय रंगमंच पर आकर अभिनय करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। वह यात्रा के 'विवेक' से मिलता जुलता ही एक पात्र है।

नाटक की प्रस्तुति गद्यांशों, सस्वर पाठ किये जाने वाले अंशों तथा गेय अंशों और नृत्त के द्वारा की जाती है। इसे हम भारतीय नाटक का मानक ढांचा भी कह सकते हैं। जिन छंदों का प्रयोग किया जाता है वे हैं दोहा, कविता, सेहेरा तथा सोरठा। परंतु चौपाई का प्रचलन लगभग नहीं है, यद्यपि उत्तर भारत के रामायण नाटकों में इसका प्रयोग अनिवार्य है। राजस्थानी लोक संगीत की धुनों का प्रयोग कुछ पात्रों द्वारा और संवाद के कुछ अंशों में किया जाता है। अन्य काव्यांश हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के रागों जैसे सारंग, कल्याण, भूपाली, तोड़ी, ललित, भैरवी आदि में बांधे जाते हैं। तालों में भी बहुत वैविध्य होता है और कई प्रसंगों में नृत्त की परिणति तिहाई में होती है। परंतु यहां शब्द और संगीत के बीच तथा संगीत के बोलों और अभिनय के बीच एककालिकता का वैसा घनिष्ठ संबंध नहीं है जैसा कि दक्षिण भारत के रूपों में होता है। इस विशेषता के अभाव के आधार पर ही शास्त्रीय नाटक को अनेक संदर्भों में लोक नाटक से भिन्न माना गया है या आलोचकों ने विभिन्न नाट्य रूपों को कला की दृष्टि से विभिन्न श्रेणियों में बांटने की चर्चा की है।

अनेक अन्य नाट्य रूपों की अपेक्षा ख्याल में रंगमंच के 'कक्ष विभाग' की परंपरा का बहुत अधिक निर्वाह किया गया है। महारानी के निवास के रूप में बाल्कनी की योजना आदि के अतिरिक्त रंगमंच पर विभिन्न घटना स्थलों का संकेत देने वाले अलग अलग क्षेत्र निर्धारित कर दिए जाते हैं। इसी प्रकार ख्याल में लघु रंगमंच का विधान भी है।

छऊ, यक्षगान, भागवतमेला, कुटियट्टम, यात्रा तथा अन्य नाट्य रूपों की भांति ही ख्याल में भी नारी पात्रों की भूमिकाएं

सिद्धहस्त पुरुष कलाकार निभाते हैं और ये भूमिकाएं सफल होने के साथ साथ कला की दृष्टि से भी बहुत संतोषप्रद होती हैं। शब्दगत और आंगिक संप्रेषण भी उच्च कोटि का होता है और क्षण भर को भी जादू टूटने नहीं पाता।

पहले भी कहा जा चुका है कि ख्याल की विषय सामग्री पौराणिक कथाओं, दंत कथाओं या ऐतिहासिक कथाओं से ली जाती है। साथ ही, समसामयिक घटनाओं से भी विषय सामग्री ग्रहण की जाती है। रुक्मिणी मंगल, हरिश्चंद्र तथा नल दमयंती जैसे ख्यालों के साथ पृथ्वीराज चौहान, अमरसिंह राठौड़ जैसे ऐतिहासिक नाटकों का भी बहुत अधिक प्रचलन है। 'लैला मजनूं', 'ढोला मारु', 'पठान शहजादी' आदि प्रेम कथाएं भी बहुत लोकप्रिय हैं। नरसी भगत तथा अन्य संतों के जीवन पर आधारित ख्याल भी हैं। इन थोड़े से शीर्षकों से भी स्पष्ट होगा कि जहां कुछ विषय सामग्री भारतीय साहित्यिक तथा नाट्य परंपराओं से ग्रहण की गयी है, वहीं कुछ सामग्री विशुद्ध रूप से क्षेत्रीय है और मौखिक परंपराओं से ली गयी है।

ख्याल की वेशभूषा और रूपसज्जा की विधियां सहज और नैसर्गिक हैं। समय सापेक्ष पोशाक इस्तेमाल की जाती है और यद्यपि बालों की विशेष प्रकार की टोपी का प्रचलन है किंतु उसमें कोई शैलीकरण नहीं है। जैसा कि कुछ अन्य नाट्य रूपों में होता है, ख्याल में न तो मुखौटों का प्रयोग किया जाता है और न ही अत्यधिक रूप सज्जा के द्वारा चेहरों को बदला जाता है।

ख्याल के अनेक लेखक हुए हैं जिनका संबंध राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों से है। गत 150 वर्षों के दौरान इन्होंने प्रचुर मात्रा में ख्याल साहित्य की रचना की है। इस प्रकार ख्याल को मार्गी या देशी के रूप में वर्गीकृत करने में अनेक दृष्टियों से कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसकी कुछ विशेषताएं निस्संदेह इसे संस्कृत रंगमंच की परंपरा से, विशेषकर संगीतक से जोड़ती हैं। कुछ अन्य विशेषताएं बाद की उपज हैं जिन्हें पुराने रूपों का अभिन्न अंग बना लिया गया है। जहां यह अपेक्षाकृत नवीन और धार्मिक वातावरण से मुक्त है, वहीं इसमें अन्य प्रकार की निरंतरता दृष्टिगत होती है। इसका संबंध उत्तर भारत के एक बृहत समूह से है, किंतु पूर्वी भारत के वर्तमान नाट्य रूपों के साथ इसकी अनेक समानताएं हैं, चाहे प्रथम दृष्टि में हमें ये दिखाई न दे सकें। रामलीला और रासलीला से तुलना करके देखें तो यह किसी वृत्त के अक्ष से उसके ध्रुवों की दूरी जैसी स्थिति का आभास हमें होगा। मध्यप्रदेश का 'मंच' या 'माच' राजस्थान के ख्याल का एक समानांतर रूप है। उज्जैन, ग्वालियर और अन्य स्थानों के अखाड़े इसके पोषक रहे हैं। गुरु गोपाल जी, बालमुकुंद गुरु, कालूराम उस्ताद, राधाकृष्ण गुरु आदि अनेक नाटककारों तथा प्रस्तुतकर्ताओं ने ऐसे अनेक नाटक लिखे हैं जिनकी विषयवस्तु में पौराणिक प्रसंगों तथा इतिहास से लेकर समसामयिक सामाजिक व्यंग्य तक के विषयों का समावेश है। राजा हरिश्चंद्र की कथा विशेष रूप से लोकप्रिय है। यही स्थिति उन नाटकों की भी है जो राजा विक्रमाजीत जैसे ऐतिहासिक चरित्रों को आधार बनाकर लिखे गए हैं।

जहां तक रंगमंच के स्वरूप का संबंध है, मंच और ख्याल दोनों में एक ही प्रकार के रंगमंच का प्रयोग किया जाता है। एकस्तरीय और द्विस्तरीय दोनों ही रंगमंच होते हैं। 'खंब थापन' (स्तंभ स्थापना) एक महत्वपूर्ण प्रारंभिक अनुष्ठान है। गायकों के लिए एक विशेष स्थान होता है जिसे 'तेक की पट' कहते हैं और दीक्षित व्यक्तियों के लिए एक पवित्रीकृत स्थान होता है जिसे 'बड़ा घंत का पट' कहते हैं।

विधा के अन्य रूपों की भांति ख्याल में भी पूर्वरंग जैसी कुछ अनिवार्य प्रारंभिक क्रियाएं होती हैं। आह्वान के तुरंत पश्चात एक भिश्ती आता है। उसके साथ ही या उसके पीछे पीछे एक फर्राश (दरी बिछाने वाला) और एक चोबदार भी आता है। इसके पश्चात पात्रों का प्रवेश होता है और उनका समुचित परिचय दिया जाता है। चाल आदि में शैलीकरण दिखाई देता है।

समवेत गान में एक निश्चित पद्धति का अनुसरण किया जाता है जिसमें अलग अलग स्थितियों के लिए भिन्न भिन्न धुनों का उपयोग किया जाता है। ये धुनें 'रंगत' कहलाती हैं। इन धुनों अर्थात् रंगतों को अनेक नामों से जाना जाता है, जैसे – 'गिर', 'उदप', 'छोटी रंगत', 'बड़ी रंगत', 'लंगड़ी रंगत', 'झूला' आदि। ये अंकिआ-नाट के धेमाली के विभिन्न रूपों के समान ही हैं। ढोलक का बहुत अधिक महत्व है और इससे अनेक काम लिये जाते हैं।

नौटंकी भी निकट का एक समानांतर रूप है और यही स्थिति मध्यप्रदेश के मंच या माच की है। इन सब का उद्गम

स्रोत एक ही है। नौटंकी का विकास भी चारणों और कथाकारों के गाथा गायन तथा उत्तर भारत, विशेषतः उत्तरप्रदेश में प्रचलित अनेक संगीत, नृत्य तथा नाट्य रूपों से हुआ। संस्कृत परंपरा का संगीतक रूप इसका जनक रहा है।

इसकी प्रस्तुति चार-पांच फुट ऊंचे मंच पर की जाती है। ख्याल के रंगमंच के विपरीत इसका रंगमंच अनेक स्तरीय नहीं होता और इसमें छज्जा या निचला छोटा रंगमंच नहीं होता। फिर भी, विभिन्न घटना स्थलों का संकेत देने के लिए गांव के चौक या बाजार के घरों की छतों, छज्जों और खिड़कियों का उपयोग प्रायः नौटंकी में किया जाता है।

नाटक का प्रारंभ संगीतकारों के प्रवेश से होता है। इनमें ताल वाद्य, सुषिर वाद्य और तंत्री वाद्य – तीनों प्रकार के वाद्य यंत्रों के वादक होते हैं। नगाड़ा, ढोलक, सारंगी और शहनाई के साथ साथ अब हारमोनियम का वादन भी अनिवार्य रूप से होता है। सर्वप्रथम कृष्ण, सरस्वती, शिव या गुरु की वंदना गायी जाती है। रासलीला और नौटंकी के वंदना गीत ऐसे ही हैं जैसे गुरु विष्णु आदि की वंदनाएं। इस अंश को 'भेंट' कहा जाता है। इसके बाद रंगा (सूत्रधार, व्यास और स्वामी का समतुल्य रूप) का प्रवेश होता है। वह गीतों के द्वारा नाटक के कथ्य का तथा नाटक के पात्रों का परिचय देता है। इसके पश्चात 'चौबोला' का गायन होता है जिसमें चार पंक्तियां होती हैं और प्रत्येक पंक्ति में 28 मात्राएं होती हैं। चौबोला गायन की समाप्ति के साथ ही 'दौर' का गायन होने लगता है। यह भी चार पंक्तियों का और तुकांत शैली में होता है। पहली तीन पंक्तियों में बारह मात्राएं और अंतिम पंक्ति में 28 मात्राएं होती हैं। इस समस्त गायन के दौरान लयात्मक विन्यास में नगाड़ा संगति देता रहता है। इसके पश्चात पात्र रंगमंच पर प्रवेश करते हैं और अपनी अपनी भूमिका का गायन करते हैं। हम यात्रा के संदर्भ में देख चुके हैं कि उसमें 'जुडी' पद्धति का उपयोग किया जाता है जिससे कि समस्त दर्शक गीत सुन सकें। नौटंकी में एक अन्य युक्ति का उपयोग किया जाता है। पात्र प्रत्येक पंक्ति को रंगमंच के चारों कोनों पर गाता है जिससे कि रंगमंच के तीनों ओर बैठे हुए दर्शक उसे सुन सकें। यात्रा में गीत विकर्णतः एक जुडी गायक से दूसरे जुडी गायक तक पहुंचता है तो नौटंकी में पात्र स्वयं विकर्णतः आमने-सामने के कोनों में पहुंचता है। गायन के साथ साथ या पृथक रूप से अभिनेता स्थिति या पात्र की मनोदशा के अनुरूप नृत्य की प्रस्तुति भी करता है। ख्याल की भांति इसमें भी अनेक रोचक नृत्यपरक विन्यासों और विविध लयगत रूपों के दर्शन होते हैं। इसमें अभिनेता को अपने नृत्य कौशल का प्रदर्शन करने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है। संगीत का वेग प्रायः त्वरित कर दिया जाता है जिसमें दो या चार विभिन्न सरगमों को एक ही सुर में बजाया जाता है और परिणामस्वरूप अनेक रोचक तथा प्रभावपूर्ण संगीतात्मक विन्यासों की सृष्टि होती है।

गीत अवधी, राजस्थानी, ब्रज भाषा और उर्दू छंदों में हैं जैसे दोहा, सोरठा आदि। साथ ही अनेक गद्यांश भी होते हैं। इनमें फारसीनिष्ठ उर्दू और खड़ी बोली हिंदी के शब्दों का प्रयोग और विभिन्न रागों का प्रयोग किया जाता है। मंगलाचरण में ध्रुपद का तो अन्य प्रसंगों में दादरा, लावणी, कव्वाली आदि का उपयोग किया जाता है। कुछ राग हिंदुस्तानी शैली से लिये गये हैं और कुछ उत्तरप्रदेश के लोक संगीत से। ख्याल और अन्य रूपों में भी ऐसी ही पद्धति हम देख चुके हैं। लोकप्रिय राग हैं – पीलू, बिलावल, भैरवी और खमाज।

अतिनाटकीयता, भाषण, गायन और नृत्य के साथ साथ नाटक की कहानी द्रुत गति से आगे बढ़ती है। इसमें शैलीकृत अंगिकाभिनय का कोई पुट नहीं होता। इसमें 'मुंशीजी' की वही भूमिका रहती है जो ख्याल, यात्रा, यक्षगान आदि में विदूषक तुल्य किसी पात्र की होती है। वह विशेष शैली में अभिनय करता है। अन्य रूपों की भांति यहां भी समयान्विति और स्थानान्विति का निर्वाह नहीं किया जाता। इन सभी नाट्य रूपों में पौराणिक प्रसंगों, दंतकथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं तथा सामाजिक जीवन की प्रस्तुति की जाती है।

नौटंकी की विषय सामग्री विपुल है और इस अवधि में उसने अनेक नवीन साहित्यिक रचनाओं को भी अपना लिया है। ख्याल की भांति, नौटंकी में भी हरिश्चंद्र (समस्त नाट्य रूपों की एक लोकप्रिय कथा) आगा हसन अमानत रचित 'इंद्र-सभा', ऐतिहासिक कथाओं जैसे 'अमरसिंह राठौर', 'पृथ्वीराज चौहान', 'पन्ना धाम', 'दुर्गा देवी', 'टीपू सुल्तान' आदि की प्रस्तुति की जाती है। साथ ही 'स्याहपोश' और 'नौटंकी' (जिससे इस विधा ने अपना नाम ग्रहण किया है) जैसी रूमानी कथाएं भी हैं। 'नौटंकी' एक साधारण व्यक्ति भूपसिंह और राजकुमारी नौटंकी की प्रेम-कथा है। नौटंकी के नामकरण के विषय में अन्य मत भी हैं। 'श्रवणकुमार', 'नल-दमयंती', 'राम वनवास', जैसे पौराणिक नाटक और 'सुलताना डाकू', 'रेशमी

रूमाल', 'शाही लकड़हारा', 'त्रिया चरित्र' जैसे सामाजिक नाटक नौटंकी में अभिनीत किये जाते हैं।

नौटंकी के अभिनेताओं का संबंध अखाड़ों से होता है जहां उन्हें गायन, अभिनय, नृत्य और कुश्ती तक की शिक्षा दी जाती है। अन्य नाट्य रूपों की भांति नौटंकी में भी स्त्री-पात्रों की भूमिका पुरुष पात्र ही निभाते हैं। कुछ नौटंकियों में गायन जीवी स्त्रियों ने भी अभिनय किया है। ख्याल की भांति, नौटंकी में भी समय के साथ अनेक संप्रदाय बन गये हैं। उदाहरण के लिए, हाथरस की नौटंकी और कानपुर की नौटंकी। हाथरस की नौटंकी में शास्त्रीय गायन पर अधिक बल दिया जाता है जबकि कानपुर की नौटंकी में संवाद और उच्च नाटकीयता पर। कन्नौज, मुजफ्फरनगर आदि अन्य संप्रदाय हैं। नौटंकी के कलाकार विभिन्न वर्गों से आते हैं, किसी विशेष जाति से नहीं। ये सभी व्यवसायी होते हैं। इनकी आय यात्रा के कलाकारों जितनी तो नहीं होती, किंतु पर्याप्त होती है।

नौटंकी ने अनेक उतार चढ़ाव देखे हैं। उसके अभिनेताओं में उच्च कोटि के कलाकार भी हुए हैं और फूहड़ तथा निकृष्ट कोटि के नाट्यकर्मी भी। नौटंकी की प्राणवत्ता ने हबीब तनवीर जैसे अनेक आधुनिक नाटककारों तथा नाट्य निर्देशकों को आकृष्ट किया है। उन्होंने 'मृच्छकटिकम्' (मिट्टी की गाड़ी) जैसे संस्कृत नाटकों को भी नौटंकी की शैली में प्रस्तुत किया है। नौटंकी एक जीवंत नाट्य विधा के रूप में जीवित रह सकेगी या नहीं, यह इस पर निर्भर है कि आधुनिक नाट्य निर्देशक इसे सामाजिक नाटक का एक सशक्त माध्यम बनाने में कहां तक सफल हो सकेगा। साथ ही, इस पर भी कि नौटंकी से जुड़े परंपरागत कलाकार नौटंकी की शैलीगत विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए कहां तक इसे बदलने और विकसित करने में सफल हो सकेंगे।

हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ़ी ग्राम नाट्य रूप 'माच' को भी आधुनिक और सुपरिष्कृत प्रस्तुति का माध्यम बनाया है। उनके अभिनेताओं ने जिस वैविध्य और कौशल का परिचय दिया है उसने यह सिद्ध कर दिया है कि ग्राम और कस्बाई रंगमंच एक संवेदनशील नाट्य-निर्देशक का संरक्षण पाकर एक आधुनिक और सही अर्थों में धरती से जुड़े भारतीय रंगमंच का आधार बन सकता है। बंबई, कलकत्ता तथा भारत के अन्य बड़े नगरों में आज नाटक के क्षेत्र में जो कुछ हो रहा है उससे प्रकट होता है कि आधुनिक कलाकारों के लिए इन नाट्य रूपों में कितना अधिक आकर्षण है। पुरानी विधा के माध्यम से समकालीन अंतर्वस्तु और समस्याओं की अभिव्यक्ति की गयी है। यदि इन विधाओं को मात्र लोक विधा और ग्राम विधा मान लिया जाये तो भी यह स्पष्ट है कि अर्ध शिक्षित और अशिक्षित की यह 'तुच्छ परंपरा' किस प्रकार शिक्षित और नगरीय समुदाय को प्रभावित कर रही है। ये युगों से चली आ रही परंपरा के अवशिष्ट रूप हैं जो कला की दृष्टि से नुक्कड़ नाटक में रूपांतरित होने से पूर्व गत दो शताब्दियों के दौरान ग्रामीण और कस्बाई परिवेश में सीमित रहे हैं और इस दौरान इन्हें बहुत थोड़ा संरक्षण और प्रोत्साहन प्राप्त रहा है। इस नये बोध का पोषण बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए, क्योंकि इस क्षेत्र में बहुत अधिक उत्साह हानिप्रद भी हो सकता है।

यह स्मरण रखना भी उपयोगी होगा कि महाकाव्यों तथा पुराणों पर आधारित रंगमंच अर्थात रामलीला, रासलीला और अंकिआ-नाट उस रंगमंच से सर्वथा भिन्न विधा नहीं है जो समसामयिकता और दैनंदिन सामाजिक समस्याओं पर विशेष बल देती है और जिसने धार्मिक या कर्मकांडीय रंगमंच से एकदम भिन्न लौकिक रंगमंच की संज्ञा अर्जित कर ली है। स्वांग या सांग, ख्याल, मंच, नौटंकी आदि और इनके पूर्ववर्ती रूप जैसे भगत और कीर्तन एक दूसरे से अंतर्संबद्ध हैं और चाहे अंतर्संबंध की रेखाएं बहुत स्पष्ट न हों, किंतु ये सभी रूप एक ही बृहद समूह से संबद्ध हैं। ये सभी पूर्व के यात्रा से और पश्चिम के भवाई या तमाशा से जुड़े हुए हैं। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी और भौगोलिक दृष्टि से भी ये विधाएं सैलानी नाट्यकर्मियों की छोटी छोटी टोलियों की विविक्त सृष्टि नहीं हैं।

इनकी अंतर्वस्तु और शैलीगत विशेषताओं के संबंध में इतना अधिक लिखा जा चुका है कि यहां इन तकनीकी पक्षों का विवेचन आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ। हमारा उद्देश्य इन्हें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना तथा अन्य रूपों से इनकी संबद्धता का ज्ञान प्राप्त करना रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये रूप तरुण होते हुए भी ऐसी परंपराओं के वाहक हैं जिनका संबंध कुछ स्थितियों में 18वीं शताब्दी से तथा अन्य स्थितियों में इससे भी अधिक पुराने काल से है। 13वीं से 18वीं शताब्दी तक के काल में अनेक भारतीय भाषाओं के विकास से, विशेषकर 16वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक के काल में विकसित भारतीय भाषाओं से

इन नाट्य रूपों का बहुत गहरा संबंध है ।

इनकी अंतर्वस्तु बहुत भिन्न प्रकार की है और ऐतिहासिक, सामाजिक तथा रूमानी कथाओं को महत्व देने के कारण इसमें प्रतीक और रूपक की सहायता के बिना ही समसामयिकता धारण करने की क्षमता आ जाती है । पौराणिक नाटकों की बहुस्तरीयता के विपरीत यहां द्विस्तरीयता या एकात्मता तक दृष्टिगत होती है ।

थोड़े पार्थक्य के साथ इन सबका ढांचा एक सा ही है । ये सभी रूप उत्तरवर्ती संस्कृत नाटक या संगीतक के सिद्धांतों का अनुसरण करते हैं और इस दृष्टि से राम नारायण अग्रवाल का इन समस्त रूपों को 'संगीत' का विधागत नाम देना सही प्रतीत होता है ।

इन नाट्य रूपों की तकनीकी विशेषताओं का निर्धारण उनके अपने सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश द्वारा तथा समाज के उन वर्गों द्वारा हुआ है जिनके बीच ये प्रस्तुत किये जाते थे ।

अतः जहां एक दृष्टि से वे लोकधर्मी हैं, वहीं उनमें अनेक नाट्यधर्मी विशेषताएं भी हैं । सहज रंगसज्जा, टेक आदि की सहायता से यथार्थ चित्रण करने की अपेक्षा इनमें सांकेतिकता, आह्वान आदि की शैलीगत विशेषताओं पर अधिक बल दिया जाता है । भाषाओं के विकास और संबद्ध नाट्य रूपों के विकास को एक ही वृक्ष की शाखाओं के रूप में देखना चाहिए ।

ऐतिहासिक दृष्टि से इन नाट्य रूपों के विकास और समकालीन गतिविधियों का सार एक ऐसे चार्ट के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें इन नाट्य रूपों के पारस्परिक संबंध की मुख्य धाराओं और बिंदुओं का स्पष्ट संकेत हो ।

संस्कृत

|

प्राकृत/ अपभ्रंश

पूर्वी मागधी			सौरशेनी	
असमिया	बांग्ला	ओड़िआ	गुजराती	ब्रज भाषा
ब्रज बोली	जात्रा	जात्रा	रासो	अवधी
मैथिली	कीर्तन	स्वांग	रासक	रासो
भाओना		कीर्तन	गरबा	रास
अंकिआ-नाट			भवाई	रास
कीर्तनिया				रमत
				रामलीला
				रासलीला
				ख्याल
				स्वांग
				नौटंकी

दक्षिण की भांति यहां भी नाट्य प्रस्तुति के विभिन्न स्तर हैं जिनमें कथित शब्द, गेय शब्द, शृंखला प्रस्तुति या प्रत्यक्ष आख्यान रंगमंच का अलग अलग महत्व है । हम इसे निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं :

1.	कथाकार	एकाभिनय		
2.	भगत	बहुरूपिया		
3.	कीर्तनिया	कीर्तन		
4.	वचनकार			
5.	रास	रासक	संगीतक	रासलीला
6.	ऐतिहासिक नाटक	स्वांग, नौटंकी		

नाट्य रूप

रामलीला — भवाई — ख्याल माच

नृत्य और नृत्य नाटक के स्तर और विधाएं इस प्रकार हैं :

	बिहार बंगाल	ओड़िसा	गुजरात	असम	राजस्थान और उत्तरप्रदेश
जनजातीय	संथाल हो, आदि	जुआंग साओरा	कण्बी अभीर सरयात	बोदो आदि	संसी आदि धोबी आदि
ग्राम समुदाय और आख्यान रूप	कथाकार	कथाकार	चारण	चारण	कथाकार
शृंखला नाटक	रामलीला	रामलीला	रासक	भाओना	रामलीला रासलीला
जुलूस	यात्रा	यात्रा	रासो रासक	अंकिआ-नाट	संगीत स्वांग नौटंकी
अर्धनागर रंगमंच			फागु भवाई		ख्याल भवाई माच
नृत्य-रूप	पुरुलिया छऊ सेराएकला छऊ	मयूरभंज छऊ	गरबा बेडा नृत्य	सत्तरा नृत्य ओजा-पल्ली	नृत्य नाचनी
मंदिर और मंदिर प्रागंण नाट्य रूप		गोटीपुअ	मंदिर-भवाई	देवधनी	ब्रज रास कथक
कठपुतली	पुतुल खेला	रावणछाया	–	पुतुल-नाच	कठपुतली

14

तमाशा

अब तक जिन नाट्य रूपों की चर्चा हमने की है उनसे कुछ भिन्न चित्र महाराष्ट्र के 'तमाशा' का इतिहास हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है, यद्यपि यह भी भारत के विभिन्न भागों की कलागत परंपराओं के वैविध्यपूर्ण चित्र का ही एक पहलू है। यद्यपि मराठी साहित्य के प्रारंभिक इतिहास से तमाशा का संबंध असंदिग्ध है, तथापि जिस प्रकार रामलीला, रासलीला और अंकिआ-नाट का विकास भारतीय भाषाओं के विकास के साथ जुड़ा हुआ है उसी प्रकार तमाशा के उद्‌गम स्रोत ज्ञानेश्वर, रामदास, नामदेव आदि संत कवियों की रचनाओं में या एकनाथ अथवा श्रीधर के धर्मनिरपेक्ष आख्यान लेखन में नहीं ढूंढ़े जा सकते। इस काव्य और आख्यान लेखन से हमें नृत्य तथा संगीत की अनेक शैलियों के अस्तित्व का पता चलता है। 'रामायण' और 'महाभारत' के कथ्यों में मध्ययुगीन मराठी लेखक की रुचि सुस्पष्ट है, परंतु 18वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में उत्पन्न नाट्य रूप 'तमाशा' पर प्राचीन और मध्ययुगीन मराठी साहित्य का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। तमाशा के मूल को समझने के लिए हमें कीर्तनिया के समकालीन मध्ययुगीन परंपराओं, मौखिक परंपरा के 'पौराणिक' तथा विविध संगीत रूपों पर दृष्टिपात करना होगा जिनकी जानकारी महाराष्ट्र को थी। साथ ही महाराष्ट्र के 18वीं शताब्दी के राजनीतिक इतिहास पर भी ध्यान देना आवश्यक होगा। 19वीं शताब्दी के मराठी रंगमंच तथा तंजौर में प्रचलित तमाशा और अन्य रूपों के कुछ तत्वों के बीच जो समानताएं दिखाई देती हैं उनके कारण मराठा राज्य के उद्‌भव और इसके परिणामस्वरूप होने वाली पारस्परिक सांस्कृतिक क्रियाओं में किसी सीमा तक ढूंढ़े जा सकते हैं। तमांशा के इस विशिष्ट स्वरूप को देखते हुए मराठी भाषा के 11वीं शताब्दी और उससे आगे के काल के विकास का सिंहावलोकन या 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध (जब एक पृथक विधा के रूप में तमाशा का आविर्भाव हुआ) से पूर्व के काल में मराठी साहित्य के विकास की दिशा निश्चित करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

तथापि यह स्मरण रखना आवश्यक है कि महाराष्ट्र में गायन और लेखन की अनेक शैलियां प्रचलित थीं। अन्य प्रदेशों की भांति महाराष्ट्र में भी संस्कृत लेखन और मराठी लेखन की समानांतर धाराएं थीं। तमाशा के जनक राम जोशी (1762-1812 ई.) को संस्कृत पुराणों और कीर्तनियों के गायन की भी उतनी ही जानकारी थी जितनी कि गांव गांव में प्रचलित लोकप्रिय नाट्य रूपों की। मराठी के समकालीन उत्कृष्ट लेखक मोरोपंत जैसे महान व्यक्तित्व से आगे चलकर राम जोशी का संपर्क हुआ जिसके परिणामस्वरूप मोरोपंत के 'आर्यों' को लोकप्रिय बनाने के लिए लावणी छंद गायन का प्रयोग किया जाने लगा।

नैतिक और उपदेशात्मक प्रयोजन के लिए प्रचलित गायन शैलियों का प्रयोग करने के राम जोशी के प्रयत्नों के बावजूद

लोक मनोरंजन की एक विधा भी फलती फूलती रही जिसे बाजी राव द्वितीय (18वीं शताब्दी के अंतिम चरण) के शासन काल में राज प्रश्रय भी मिला। बाजी राव द्वितीय की तुलना वाजिद अली शाह से की गयी है जिसने कलाओं के प्रति असीम अनुराग के कारण अपना राज्य खो दिया था। उसके दरबार के गायक और नर्तक-नर्तकी समाज के सभी वर्गों के थे, किंतु समयांतर में यह वर्ग केवल महार और मंग जातियों में सीमित होकर रह गया। ये दोनों ही राजस्थान और गुजरात के भवाया की तरह अछूत जातियां थीं। आज भी तमाशा मंडलियों में मुख्यतया महार और मंग जातियों के व्यक्ति ही होते हैं, यद्यपि पत्थे बापू राव जैसे अनेक ब्राह्मण भी इन मंडलियों में रहे हैं। हाल के कुछ वर्षों में पी.एल. देशपांडे, वसंत बापट और विजय तेंदुलकर जैसे ब्राह्मणों ने तमाशा की रचना की है और अनेक ब्राह्मणों ने तमाशा में काम किया है।

गणेश रंगानाथ दंडवते जैसे विद्वानों के मतानुसार तमाशा के पूर्ववर्ती रूप 'गोंधल' (एक प्रकार का धार्मिक प्रवचन) और लावणी छंद (जिसका प्रयोग अधिकांशतया गायन में किया जाता था और जो प्रश्नोत्तर पर आधारित संवादों में मनोरंजन का एक लोकप्रिय साधन था) रहे होंगे।

'गोंधल' या 'गोंधक' की परंपरा पुरानी है और इसके उद्गम स्रोत पुराणों में ढूंढ़े जा सकते हैं। संभवतया इस शब्द की व्युत्पत्ति 'गण दल' ('भक्त गण' का पर्यायवाची शब्द) से है। भक्ति गायन का संबंध मुख्यतया शिव और गणेश की पूजा से और आगे चलकर शक्ति पूजा से था। महाराष्ट्र में अनेक शताब्दियों तक शैव मत और शक्ति पूजा बहुत लोकप्रिय रहे थे। इस पूजा की अंबा पूजा से बहुत समानता है। भवाई के संदर्भ में अंबा पूजा की चर्चा पहले की जा चुकी है। अंबा देवी की वेदी के सामने की गयी प्रस्तुति को गोंधल कहा जाने लगा। नामदेव के काव्य तथा अन्य रचनाओं में इसका उल्लेख मिलता है। दो प्रकार के गोंधल लोकप्रिय थे। एक था सामूहिक भक्ति गायन। दूसरा रूप वह था जिसमें किसी पौराणिक प्रसंग की नाटकीय प्रस्तुति की जाती थी। गोंधल मंडली में चार सदस्य होते थे। एक मुख्य गायक होता था जिसे नायक कहते थे। दूसरा नायक की शोभा बढ़ाने के लिए होता था। तीसरा 'तुनतुने' वाद्य यंत्र का वादक होता था। चौथा भी वादक होता था जो 'संबल' बजाता था। यद्यपि प्रस्तुति अधिकांशतया संगीतीय (ओपेरेटिक) प्रकार की थी, तथापि दो गायकों के कथोपकथन के माध्यम से नाटकीय तत्वों का समावेश भी इसमें कर दिया जाता था। इस प्रकार के गायन और कर्मकांडीय प्रस्तुति की जानकारी संभवतया ज्ञानदेव तथा अन्यों को थी, क्योंकि उन्होंने गोंधल गायन और अभिनय का उल्लेख किया है। अन्य साहित्यिक तथा ऐतिहासिक संदर्भ स्रोतों में भी इस कर्मकांड और प्रस्तुति की चर्चा की गयी है जिससे गोंधल की पुरातनता सिद्ध हो जाती है। गोंधल गायक चारण, भाट और पौराणिक जैसे ही गायक थे जो गाथा गीतों और पौराणिक कथाओं का गायन और सस्वर पाठ किया करते थे।

साथ साथ लावणी का विकास भी हुआ। यक्षगान और भागवतमेला के संदर्भ में हम चंपु और चूर्णिका की चर्चा कर चुके हैं। लावणी इनका ही उत्तरवर्ती रूप है। समयांतर में यह मात्र गायन विधा बनकर रह गयी। मध्यप्रदेश, गुजरात और उत्तरप्रदेश के कुछ क्षेत्रों में इसका प्रचलन था, यद्यपि इनमें से अनेक क्षेत्रों में इसका लोप हो चुका है।

गोंधल और लावणी का संबंध दो भिन्न भिन्न परिवेशों से था। गोंधल का संबंध कर्मकांडगत तथा धार्मिक परिवेश से था तो लावणी का धर्म निरपेक्ष और रूमानी परिवेश से। परंतु दोनों में इस दृष्टि से समानता थी कि दोनों में ही संवादों की प्रधानता थी। तुनतुने, ढोलक, डफ, झांझ, मंजीरा आदि के वादन के साथ साथ प्रश्नों और उनके उत्तरों का गायन लावणी में अनेक रूप और शैलियां ग्रहण कर सकता था। 'कलगी तुरार' शिव और शक्ति के बीच या विभिन्न मतों के अनुयायियों के बीच संवाद हो सकता था। लावणी के अन्य प्रकार विशुद्ध रूप से दैनंदिन जीवन के विषयों से जुड़े हुए थे। वे दो ऐतिहासिक चरित्रों या किसी रूमानी कथा के नायक-नायिका के संवादों पर आधारित हो सकते थे। लावणी के छंदों का प्रयोग गुजराती, राजस्थानी और हिंदी, सभी क्षेत्रों के कवि करते थे।

इन सभी क्षेत्रों की काव्य रचनाओं में लावणी की जो महत्वपूर्ण भूमिका रही है उसके विषय में अधिक विस्तृत चर्चा कदाचित आवश्यक नहीं है। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि महाराष्ट्र लावणी का पोषक रहा है, फिर भी यह विधा मराठी साहित्य तक ही सीमित नहीं रही है।

इसके अतिरिक्त तमाशा के संदर्भ में दो अन्य विधाओं की चर्चा आवश्यक है। एक है पवाड़ा की गाथा गायन की

परंपरा और दूसरी है दशावतार की नाट्य विधा जो महाराष्ट्र और कर्नाटक में प्रचलित थी और जो गोआ तथा कोंकण क्षेत्रों में आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए है। फिर भी एक और विधा थी जो पवाड़ा और दशावतार दोनों से पुरानी थी। यह थी 'गवलण' की विधा। मराठी के संत कवियों, विशेषतः वैष्णव कवियों ने इसका व्यापक स्तर पर उपयोग किया था। मथुरा और वृंदावन की लीलाओं की भांति ही 'गवलण' में कृष्ण और गोपियों की लीलाओं का वर्णन किया जाता था। 'दाणलीला' और 'मानलीला' के पक्षों पर बल दिया जाता था, किंतु इन सबके मूल में भक्ति की भावना थी।

तमाशा विशुद्ध रूप से एक लौकिक नृत्य नाटक है जिसमें कभी कभी अश्लील और अशिष्ट तत्वों का समावेश भी होता रहा है। इस कारण एक शताब्दी या इससे भी अधिक समय तक वह घृणा की दृष्टि से देखा जाता रहा है। फिर भी मराठी साहित्य, गायन और नाट्य विधा की समृद्ध परंपरा के अनेक पुष्पों के साथ तमाशा का संबंध असंदिग्ध है। तमाशा की सामाजिक स्थिति ऐसी रही है कि समाज के निम्न वर्गों तक वह सुगमता से पहुंच सका है। चाहे ऐसा महार और मंग जातियों के संपर्क के कारण हुआ हो या एक पतनशील शासक के दरबारी परिवेश से संबद्ध होने के कारण या सैनिकों के मनोरंजन के साधन के रूप में उपयोग किये जाने के कारण। परंतु किसी संवेदनशील और प्रतिभाशाली सर्जक के स्पर्श मात्र से इसमें ऐसे संरचनागत तत्वों का समावेश किया जा सकता था जिनके माध्यम से किसी भी विषय या अंतर्वस्तु की अभिव्यक्ति की जा सकती थी।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि राम जोशी तमाशा के प्रथम लेखक हो सकते हैं और उनके ठीक बाद अनंतफंदी जिन्होंने प्रसिद्ध 'फटका' का प्रवर्त्तन किया, किंतु भारत और महाराष्ट्र के अन्य भाग भी संभवतः अनेक शताब्दियों से तमाशा से परिचित थे। कबीर तथा 16वीं और 17वीं शताब्दी के अन्य कवियों ने इसका उल्लेख किया है और इसके पक्ष में अन्य साहित्यिक तथा ऐतिहासिक साक्ष्य भी हैं। तमाशा की प्रस्तुति पर विचार करते समय हमें इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए। तमाशा एक नवीन विधा अवश्य है, किंतु यह एक विशिष्ट विधा है जिसका पुराने काल से एक जीवंत संबंध है और जिसका निर्माण पूर्ववर्ती शताब्दियों में प्रचलित भिन्न भिन्न विधाओं के योग से हुआ है। 18वीं शताब्दी के तमाशा लेखकों और निर्देशकों ने एक ऐसी विधा को पुनरुज्जीवित किया जो लोकप्रिय होने के साथ साथ पहले से ही ऊर्जा संपन्न और पूर्णतः लौकिक प्रकृति की थी।

तमाशा (यह एक फारसी शब्द है) की प्रस्तुति कहीं भी की जा सकती है। गांव के चौक, घर के आंगन, खुले मैदान या अग्रमंच (प्रोसीनियम स्टेज) पर इसका अभिनय किया जा सकता है। आज तमाशा की लगभग 80 कंपनियां हैं जिनमें लगभग 3,000 कलाकार और अभिनेता काम करते हैं। गांव की विशेष मंडलियों, महारों और मंगों या अन्य व्यावसायिक कलाकारों द्वारा गांवों तथा नगरों में तमाशा अभिनीत किया जाता है। इसकी प्रस्तुति छोटे से छोटे गांव से लेकर बड़े शहरों तक में की जाती है। पूना और बंबई में तमाशा नियमित रूप से खेला जाता है। बंगाल के यात्रा नाटक की भांति तमाशा के दर्शक बहुत अधिक संख्या में होते हैं। अभिनेता लोकप्रिय होने के साथ साथ प्रायः आर्थिक दृष्टि से संपन्न भी होते हैं। गांव के किसी प्रांगण में कुछ जगह घेर कर एक नीचा या ऊंचा मंच बना लिया जाता है और यही अभिनय क्षेत्र होता है। यह किसी आधुनिक रंगशाला का अग्रमंच भी हो सकता है। कहा नहीं जा सकता कि नेपथ्य में कोई पूर्वरंग क्रिया भी संपन्न की जाती है या नहीं। संभवतः अंबा देवी की पूजा की परंपरा अब कुछ मंडलियों में त्याग दी गयी है जबकि कुछ अन्य मंडलियां इसका निर्वाह करती हैं।

कुछ नृत्य नाटकों की भांति तमाशा का प्रारंभ भी संगीतकारों के प्रवेश से होता है। पहले दो ताल वाद्य-वादक प्रवेश करते हैं – ढोलक वाला और हलगी वाला। ढोलक वाला ढोलक बजाता है। महाराष्ट्र में यह ढोलक एकदम अलग ढंग का है जो दक्षिण भारत के मडलम और उत्तर भारत के पखावज का मिश्र रूप है। हलगी वाला बड़े आकार का एक डफ बजाता है जो खंजरी जैसा एक वाद्य है जो प्रायः लघुचित्रों में दिखाई दे जाता है। ढोलक मूल लय सुलभ कराता है और सामान्य ताल वादन उस पर होता है। हलगी से तीक्ष्ण स्वर उत्पन्न करने का काम लिया जाता है। दोनों मानो सुर-संगीत के लिए समक्रमिक तथा असमक्रमिक लय विन्यास उत्पन्न करते रहते हैं। ढोलक और हलगी की तमाशा में वही भूमिका है जो 'चेंदा' और 'मडलम' की कथकलि और यक्षगान में। इनके द्वारा गायन प्रारंभ होने की घोषणा की जाती है। मंजीरा वाला और

तुनतुने बजाने वाला – दो और वादक आ जाते हैं। तुनतुने या तुनतुनिंगा भारत के अन्य क्षेत्रों के 'एकतारा' से मिलता हुआ वाद्य है। अंतर केवल इतना है कि एकतारा का पेंदा लकड़ी या लोहे के तिकोने मिजराब से बजाया जाता है। अंत में गायक प्रवेश करता है और मंडली के सामने बैठ जाता है। मंजीरा वादक और तुनतुने वादक गायक भी होते हैं और बहुत उच्च स्वर में टेक में साथ देते हैं। इसके अतिरिक्त 'सुरतिया' भी होता है जो प्राय: गायन में साथ देता है।

ढोलक तथा हलगी वादन के समाप्त होने पर और मंडली में मुख्य गायक के स्थान ग्रहण करने के पश्चात गणेश वंदना गायी जाती है। संगीतकारों की पूरी मंडली दर्शकों की ओर अपनी पीठ किये आगे बढ़ती है और फिर पीछे हटती है। यह क्रम कुछ देर तक चलता रहता है। कभी कभी शिव और पार्वती की वंदना भी गायी जाती है। इस गायन को गान कहते हैं और वंदना की रचना को आह्वान। भवाई के संदर्भ में हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रारंभिक क्रियाएं 'आवणिस' कही जाती थीं। परंतु तमाशा की आह्वान और गान की क्रियाएं भागवतमेला के प्रवेश दारु या छऊ के धरण के समतुल्य नहीं हैं। प्रवेश दारु तथा धरण से पात्रों का परिचय देने का काम लिया जाता है। 'गान' के गाने की शैली की गोंधल प्रकार की संगीत रचना से बहुत अधिक समानता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। संवाद प्रणाली गोंधल और लावणी दोनों में उपलब्ध थी और यहां मुख्य गायक तथा उसके सहायक आह्वान में संवाद प्रणाली का प्रयोग करते हैं। इसमें कलगी तुरा प्रकार के प्रश्नोत्तर करने का अवकाश मिल जाता है और शिव तथा शक्ति के गुणों का सापेक्ष चित्रण किया जा सकता है। इस प्रकार की संवाद शैली 14वीं-15वीं शताब्दी में बहुत प्रचलित थी और सूफी साहित्य में भी इसके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। मुख्य गायक (जो आदि से अंत तक सूत्रधार की भूमिका निभाता है) द्वारा 'गान' गाने के दौरान तमाशा का एक और महत्वपूर्ण पात्र सोंगाडिया या विदूषक प्रवेश करता है और गायन में सम्मिलित होता है।

गान के पश्चात 'गवलण' या 'गौलणि' की प्रस्तुति की जाती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, गवलण या गौलणि मराठी के धार्मिक साहित्य में कृष्ण लीला का ही प्रतिरूप है जिसमें कृष्ण के जीवन के विभिन्न प्रसंगों का वर्णन, गायन और संभवत: अभिनय किया जाता था। तमाशा में यह परंपरा बनी रहती है, किंतु एकदम परिवर्तित रूप में। भक्ति की मनोवृत्ति का स्थान साधारण प्रेम, छेड़छाड़, ललचाव आदि का वातावरण ले लेता है। गवलण (ग्वालिन) प्रवेश करती है। तमाशा में यह भूमिका कोई पुरुष अभिनेता स्त्री वेश धारण करके नहीं निभाता जैसा कि अन्य नाट्य रूपों में किया जाता है। यहां यह भूमिका नटी अर्थात् नाटक की नायिका निभाती है। वह सूत्रधार अर्थात मुख्य गायक से संवाद करने लगती है। उसकी साड़ी का आंचल उसके सिर पर होता है और वह आंचल को ऊपर उठे हुए दोनों हाथों से पकड़े रहती है। दर्शकों के लिए यह कुतूहल और उत्सुकता से भरा क्षण होता है, क्योंकि वे अभिनेत्री का चेहरा देखने को लालायित हो उठते हैं। वह दर्शकों की ओर पीठ किये प्रवेश करती है और लययुक्त चाल से रंगमंच पर चारों ओर घूमती है और इस दौरान वह संगीतकारों से घिरी रहती है जो उसके आगे पीछे चलते हैं। सोंगाडिया (विदूषक) कृष्ण होने का ढोंग करता है और गवलण तथा सोंगाडिया के बीच कहा-सुनी होती है। मंजीरा वादक, तुनतुने वादक आदि सभी संवाद में भाग लेते हैं और गवलण को नृत्त प्रदर्शन का तथा सभी पात्रों को कामुकतापूर्ण कथोपकथन का अच्छा अवसर मिल जाता है। दाणलीला का प्रसंग, जिसमें कृष्ण गोपियों से अपना हिस्सा मांगते हैं, छेड़छाड़, मूर्खतापूर्ण आचरण तथा कुछ अंशों में व्यंग्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। नाटक के द्वारा गंभीर धार्मिक विषयों को साधारण सांसारिक रीति से प्रस्तुत करना भारत और एशिया के कुछ भागों की अपनी ही विशेषता है। इस धारणा के अनुसार देवी-देवता किसी अन्य लोक के ऐसे वासी नहीं हैं जिनकी मात्र पूजा ही की जाये। वे जनसाधारण की तरह विनोदी स्वभाव के भी हैं और जनसाधारण की भांति ही आमोद-प्रमोद, छेड़-छाड़ और हास-परिहास उनको भी प्रिय हैं। विद्वानों ने इस विषय के ऐहिकीकरण पर टीका-टिप्पणी की है और गवलण का प्रसंग विशेष जिस अधोगति का द्योतक है उसकी निंदा भी उन्होंने की है। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय संदर्भ में धार्मिकता, भक्ति और ऐहिकता एक दूसरे के विरोधी अर्थात देह और आत्मा के संघर्ष के द्योतक नहीं हैं, अपितु एक ही सत्य के विभिन्न स्तर हैं जो एक दूसरे के पूरक हैं। तमाशा जैसी स्थूल और यथार्थ प्रस्तुति में भी यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। नृत्य और सूत्रधार, गवलण या नटी, संगीतकारों, सोंगाडिया और उसके सहायक 'पांइडिया' (जो एक विकलांग पांवफिरे पात्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता है) के बीच हास-परिहास के तुरंत पश्चात् प्रश्नोत्तर प्रकार के लावणी गायक के माध्यम से

एक अत्यंत गंभीर विवेचन होने लगता है। हास्य का स्थान दार्शनिकता ले लेती है और नैतिक प्रश्नों तथा शाश्वत समस्याओं की चर्चा की जाती है। गान की भांति यहां भी लावणी में शिव और शक्ति के बीच तथा नैतिक प्रवृत्तियों और भारतीय विचारधारा तथा पुराणों के दोहरे अविरोधी स्तरों के प्रतीकों के बीच बहस होती है। कलगी तुरार की पुरानी संवाद पद्धति का प्रभाव यहां सुस्पष्ट है। रोचक बात यह है कि इस अंश को 'झगड़ा' या सवाल-जवाब प्रकार की लावणी भी कहते हैं। झगड़े या सवाल-जवाब पद्धति का उपयोग लावणी में केवल दार्शनिक समस्याओं या दैवी शक्तियों और प्रतीकों की विशेषताओं के लिए किया जाता है। मनुष्य के संदर्भ में इसका उपयोग नहीं किया जाता है। दर्शकों तक किसी नैतिक संदेश को पहुंचाने की निस्संदेह यह बहुत उत्तम रीति है। इसका एक लाभ यह भी है कि इसमें दर्शकों के धैर्य की परीक्षा भी नहीं लेनी पड़ती।

गंभीर लावणी की मनोदशा शीघ्र ही बदल जाती है और अब तीसरी तथा अंतिम पूर्वरंग क्रिया की प्रस्तुति की जाती है। यह एक सीधा-सादा प्रहसन होता है जिसे 'रंगबाजी' कहते हैं। इसका विषय कोई सामाजिक स्थिति होता है। यह गांव की किसी लड़की का किसी व्यापारी से प्रेम हो सकता है या किसी स्त्री के घर में तीन डाकुओं का घुस आना या इसी तरह का कोई और विषय। इन तीन पूर्वरंग क्रियाओं में आह्वान, अध्यात्मिक तथा सांसारिक प्रसंग एक साथ आते हैं। इनकी तुलना भवाई के गणेश आह्वान और प्रहसन प्रसंगों से की जा सकती है। दोनों में ही ढोल वादन, गायन और प्रहसन दर्शकों को कोई गंभीर नाटक देखने के लिए तैयार करते हैं। इस संबंध में हम छऊ के काजी-पाजी का स्मरण भी कर सकते हैं।

'वग' नाटक का मुख्य भाग होता है। यह किसी पौराणिक कथा, दंतकथा, ऐतिहासिक प्रेमकथा या सामाजिक अन्याय के किसी विषय पर आधारित हो सकता है। इस प्रकार तमाशा की विपुल विषय सामग्री में पौराणिक विषयों से लेकर संत तुकाराम, झांसी की रानी, दामाजी, छैल बताऊ तक के विषय सम्मिलित हैं। दामा जी तथा छैल बताऊ भवाई के भी विषय हैं।

नाटक (वग) की प्रस्तुति संवाद के माध्यम से की जाती है। संवाद गद्य में होते हैं और प्रायः ये कामचलाऊ किस्म के होते हैं और अभिनेताओं को आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन करने की छूट रहती है। वर्णनात्मक अंश सूत्रधार (सरदार) द्वारा गाये जाते हैं। और ये संयोजक अंश का काम करते हैं। लावणी संगीतकारों द्वारा गायी जाती है।

मुख्य गायक प्रथम लावणी के द्वारा पात्र का परिचय देता है और कहानी के मुख्य कथानक का सार बताता है। संगीतकार पीछे से टेक देते हैं या प्रायः पात्र पर टीका-टिप्पणी करते हुए उसकी दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हैं। यह प्रसंग कुलीन वर्ग पर तीखा व्यंग्य करने का अच्छा अवसर प्रदान करता है। अभिनेता अपनी भूमिका के अनुरूप गद्य संवाद बोलते हैं और अगली लावणी कथा को और आगे बढ़ाती है। संवाद और लावणी के बीच बीच में नायिका या अन्य अभिनेत्रियों के नृत्य होते हैं। वग के दौरान उच्च स्वर में 'जी जी जी' सुनाई देता रहता है। यह पवाड़े की एक विशेषता है। साथ ही, किसी बात पर बल देने के लिए 'है है है' की ध्वनि भी उच्चरित की जाती है। गद्यांशों की तुलना में दक्षिण भारतीय नाट्य रूपों की 'वचन' परंपराओं से की जा सकती है और लावणी का चंपु तथा चूर्णक से साम्य है, यद्यपि यह साम्य बहुत अधिक नहीं है। नाटक की संरचना और शिल्प अन्य नाट्य रूपों की संरचना और शिल्प जैसे ही हैं। एक काल की स्थिति से निकल कर दूसरे काल की स्थिति तक पहुंचने में और एक घटना स्थल से निकल कर दूसरे घटना स्थल में प्रवेश करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। समस्त अंतर्वस्तु, कथित शब्द, गायन, ढोल वादन, अंग संचालन, नृत्य तथा शैलीकृत गति के समान मेल के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है।

पुरुष अभिनेता और सूत्रधार (सरदार) तथा प्रायः संगीतकार भी शैलीकृत चाल से रंगमंच पर चलते हैं और ढोल के लयात्मक विन्यास के अनुसार अपनी गति का नियमन करते हैं। नृत्य का अंश सब से कम रहता है। नाटक के नृत्य अंश की प्रस्तुति मुख्यतः अभिनेत्री करती है। पूर्वरंग में नृत्य प्रस्तुत करने के अतिरिक्त वग में भी उसकी यही भूमिका रहती है। तनी भंगिमा से संपन्न तथा तगड़ी महार और कोल्हटी स्त्रियां तमाशा की ऊर्जस्वी नर्तकी होती हैं। इन नृत्यों में लयात्मक अभिव्यक्ति की बहुत क्षमता है। कथक नृत्य की तरह पूरा पैर पटक कर ध्वनि उत्पन्न करने की बजाय यहां पंजे और एड़ी के प्रयोग पर बल दिया जाता है। लयात्मक योजना भिन्न भिन्न प्रकार की होती है और भवाई या उत्तर भारत के नट नृत्य के

कलाकार की भांति यहां मूल ताल योजना पर अनेक आकृतियां बुनी जा सकती हैं। कभी कभी एड़ी के प्रबल आघात से सम की स्थिति उत्पन्न की जाती है। पद संचालन प्रभावशाली होता है और भवाई की भांति यहां भी बोलों की निश्चित योजना होती है। पूरे चक्कर बहुत कम लिए जाते हैं। छोटे-छोटे डग लेकर बड़े वृत्त तोड़ दिए जाते हैं। लयात्मक बोल अंतिम बोल पर तिहाई के साथ समाप्त हो जाते हैं। भवाई, नाट्च तथा कथक के नृत्यों और रासलीला के कुछ अंशों में एक अस्पष्ट सा पारिवारिक साम्य है, किंतु इनमें स्पष्ट भेद किया जा सकता है। तनी भंगिमा, घुंघरुओं का उपयोग, पद संचालन पर बल, शरीर के अन्य अंगों का उपयोग न करना आदि विशेषताएं तीनों में समान रूप से दृष्टिगत होती हैं। परंतु कूल्हे के प्रयोग, बाहु संचालन की निश्चित योजना के अस्तित्व या अनस्तित्व तथा शब्द-ध्वनि-भंगिमा संबंध की सीमा और स्तर के आधार पर इनमें स्पष्ट भेद किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक का अपना एक विशिष्ट स्वरूप है।

नृत्य प्रसंग के अतिरिक्त तमाशा में गीत का एक और माध्यम कलाबाजी है जो प्रचुर मात्रा में नटी, सोंगाडिया और अन्य पात्रों द्वारा प्रदर्शित की जाती है। इस दृष्टि से यदि भवाई का प्रथम स्थान है तो तमाशा का द्वितीय। कलाबाजी के कुछ रूपों की महाराष्ट्र के ही अनेक चक्करदार लोक नृत्यों से बहुत अधिक समानता भी है।

तमाशा की संगीत रचनाओं की एक विशिष्टता यह है कि उनमें निश्चित राग योजना और अनेक देसी तथा लोक धुनों का एक साथ प्रयोग किया जाता है। हिंदुस्तानी रागों में यमन, भैरवी और पीलु अधिक प्रचलित है, किंतु और भी अनेक रागों का उपयोग किया जाता है।

पूर्वरंग क्रिया, प्रहसन, व्यंग्य, नृत्य और संगीत के इस भव्य सम्मेलन का समापन आरती से मिलती-जुलती एक क्रिया पर होता है और अंत में यह उच्च नैतिक आदर्श निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि अच्छाई और सत्य की विजय होती है तथा दुष्टता और झूठ का सर्वनाश होता है।

तमाशा के अभिनेताओं की वेशभूषा के लिए अनेक नाम हैं जैसे गम्मट, फड़ आदि (प्रत्येक का नामकरण प्रस्तुति की विशेष श्रेणी या गायन शैली के आधार पर हुआ है)। अन्य नाट्य रूपों के विपरीत तमाशा की वेशभूषा की योजना किसी काल विशेष से बंधी हुई नहीं है। महाराष्ट्र के विभिन्न सामाजिक वर्गों के लोग जो पोशाकें पहनते हैं, अधिकांशतः उनका ही उपयोग तमाशा में किया जाता है। संगीतकार और बहुत से दूसरे पात्र धोती और साधारण कुरता अथवा लंबा कुरता तथा कुरते के ऊपर फतुही पहनते हैं। सामान्यतः एक कमरबंद भी बांधते हैं जिसे शेला कहा जाता है। पगड़ी या फेटा बांधना आवश्यक होता है। फेटा की अनेक किस्में होती हैं और प्रायः फेटा बांधने की रीति से ही पात्र की सामाजिक स्थिति का अनुमान लगाया जाता है। अभिनेत्रियां भी सभी प्रकार की भूमिकाओं के लिए साधारण आठ या नौ गज की साड़ी मराठा तर्ज पर बांधती हैं। रूपसज्जा सामान्य प्रकार की होती है और मुखौटे या शैलीकृत रेखांकन का प्रयोग नहीं किया जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि तमाशा का प्रारंभ बहुत तुच्छ रीति से हुआ और उसकी सामाजिक स्थिति भी निम्न कोटि की थी तथा उसका अधिक आग्रह सामाजिक नाटक और ऐहिक विषयों पर था, तथापि वह संस्कृत नाटक तथा उसकी शाखाओं 'उप-रूपक' और 'संगीतक' की अनेक विशेषताओं से संपन्न है। इसका प्रारंभ कर्मकांडगत रीति से होता है, चाहे इसका स्तर बहुत साधारण हो। इसमें सूत्रधार (सरदार) भी होता है, विदूषक (सोंगाड़िया) भी और नायिका (नटी) भी। साथ ही, गद्यांशों तथा पद्यांशों का बारी बारी से प्रयोग किया जाता है और संगीत तथा नृत्य परस्पर घुले मिले होते हैं। परंतु प्रस्तुति का मुख्य स्वर अंतर्वस्तु और भाषा से नियंत्रित होता है और यह स्पष्ट रूप से देशी है। समस्त परिदृश्य की प्रस्तुति मार्गी तथा नाट्यधर्मी की संयत तथा अनुशासित पद्धति से भिन्न लोकधर्मी शैली में की जाती है। परंतु रंगमंचीय साज सामान का अभाव तथा सांकेतिक चेष्टाओं का उपयोग ऐसी विशेषताएं हैं जिनका संबंध लोकधर्मी की अपेक्षा नाट्यधर्मी से है। इन सबसे स्पष्ट है कि मार्गी तथा देशी की धाराओं और नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी प्रस्तुति शैलियों का अध्ययन परस्पर विरोधी तत्वों के रूप में नहीं, अपितु एक दूसरे के पूरक तत्वों के रूप में ही किया जाना चाहिए। किसी निश्चित तत्व के समावेश या अभाव के कारण कलात्मक दृष्टि से किसी नाट्य विधा का स्तर ऊपर उठ सकता है या नीचे गिर सकता है, किंतु मुख्य आधार और मूलभूत संरचना की दृष्टि से दोनों में कोई अंतर नहीं है। साथ ही, भिन्न भिन्न और नाना प्रकार की नाट्य विधाएं भारतीय रंगमंच की उस विशाल नदी का ही अंग हैं जो अनेक उपनदियों में विभाजित हो सकती थी।

तमाशा की अविच्छिन्न परंपरा से भिन्न आधुनिक मराठी रंगमंच के उदय का श्रेय विष्णु भावे (1843 ई.) और उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी अण्णा साहेब किर्लोस्कर को दिया जाता है। इन प्रवर्तकों के नाटकों में संगीत को प्रस्तुति का अभिन्न अंग माना गया है। इन कलात्मक विशेषताओं तथा तमाशा की संरचना का सूक्ष्म अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि ये नाटक एक गुणात्मक परिवर्तन के द्योतक हैं तथापि यह परिवर्तन परिष्कृति की दिशा में ही अधिक था, न कि परंपरा से एकदम कट जाने और किसी सर्वथा नवीन विधा के विकास की दिशा में। सूत्रधार, विदूषक, गणपति का आह्वान आदि तथा क्षेत्रीय विभाजन की परंपराओं का निर्वाह इन नाटकों में भी हुआ है। इन्होंने रंगमंच को एक नयी दिशा दी और इसके लिए सभी भूमिकाओं में गायन के लिए शास्त्रीय रागों को उतना ही आवश्यक माना गया जितना कि 'शाकुंतलम्', 'मृच्छकटिकम्' आदि संस्कृत नाटक के विषयों के समावेश को। संक्षेप में यह कि अंतर्वस्तु ने इनकी प्रस्तुति के स्वरूप का निर्धारण किया और तमाशा जैसे लोक नाट्य रूपों की परंपराओं ने रंगमंच को एक नवीन आयाम प्रदान किया। और फिर भी ये दो परस्पर विरोधी स्थितियां नहीं थीं। 19वीं शताब्दी में ये दोनों किसी वृत्त के खंडों की भांति साथ साथ चल रही थीं और अपना अस्तित्व बनाए हुए थीं। अत: नयी गतिविधियां ऐसा विद्रोह आंदोलन नहीं थीं जिन्होंने कालप्रवाह में मटियामेट हो जाने वाली वस्तुओं की भांति पूर्ववर्ती विधाओं को नष्ट कर दिया था।

संभव है कि 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण के रंगमंच के कलाकार ने इन परंपराओं को अवचेतन रूप से अंगीकार किया हो। चेतन स्तर पर वह किसी पुरानी परंपरा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास कर रहा था या किसी ऐसी परंपरा में नये प्राणों का संचार करना चाह रहा था जो उसकी दृष्टि में ह्रासोन्मुख थी। गत दो-तीन दशकों के दौरान ऐसी ही एक और स्थिति उत्पन्न हुई है, यद्यपि यह कुछ भिन्न प्रकार की भी है। समकालीन नाटककार ने जानबूझकर इस विधा को अंगीकार किया है, क्योंकि न तो 19वीं शताब्दी का संगीत नाटक ही और न ही उस काल के पाश्चात्य, विशेषकर अंग्रेजी शास्त्रीय रंगमंच उसके विचारों और आकांक्षाओं के अनुरूप है। संभव है कि एशियाई देशों की परंपरागत नाट्य विधाओं का पाश्चात्य नाटककारों द्वारा उपयोग किये जाने के कारण भी उसकी ऐसी मानसिकता बनी हो। परंतु इन सबका (जिनमें मौखिक, जनजातीय तथा लोककला की परंपराओं में शिक्षित भारतीय की नयी रुचि भी सम्मिलित है) परिणाम यह हुआ कि आधुनिक मराठी रंगमंच के साथ साथ अन्य भारतीय भाषाओं के रंगमंच में भी तमाशा की नाट्य विधा को अत्यधिक लोकप्रियता मिली है। वेंकटेश मदगुलकर तथा पी.एल. देशपांडे ने इस विधा का प्रयोग सशक्त रूप से किया है। विजय मेहता ने ब्रेख्त के 'काकेशियन चॉक सर्किल' का मराठी रूपांतर प्रस्तुत किया है। अहमदाबाद, दिल्ली आदि नगरों में भी अन्य नाटककारों ने इस विधा में प्रयोग किये हैं। इस प्रकार कालचक्र का प्रवाह निरंतर बना हुआ है और ऐसी प्रत्येक गति के साथ भारतीय नाट्य कला की माला में एक और मणिका जुड़ जाती है जिसका अपना ही लचीलापन और अपनी ही गतिशीलता है और जिसमें किसी विधा की क्षेत्रीय पहचान या विशिष्टता को नष्ट किये बिना विभिन्न स्तरों की अंतर्व्याप्ति और पारस्परिक क्षेत्रीय प्रभाव की संभावना सदा ही बनी रहती है।

15

उपसंहार

हमने अपनी यात्रा केरल से प्रारंभ की थी और सर्वप्रथम कुटियट्टम की चर्चा की थी जो संस्कृत नाटक के एक युग की समाप्ति के साथ साथ क्षेत्रीय भाषाओं के रंगमंच के समारंभ का भी सूचक है। हमने कर्नाटक, आंध्र और तमिलनाडु की भी यात्रा की और देखा कि किस प्रकार यक्षगान और भागवतमेला रूपों में जहां संस्कृत रंगमंच की कुछ विशेषताएं देखी जा सकती हैं वहीं ऐसे नये आंदोलन भी दृष्टिगत होते हैं जो क्षेत्र विशेष की अपनी ही देन हैं। हमने इन विधाओं की गतिशीलता की दिशा तथा पारस्परिक प्रभाव की प्रक्रिया निश्चित करने का भी प्रयास किया। फिर हम पूर्व की ओर बढ़े और छऊ रूपों के एक बृहद् समूह से हमारा संपर्क हुआ। यद्यपि इनका ठीक ठीक समय निश्चित करना संभव नहीं है, फिर भी ये एक आकर्षक नाट्य विधा के नमूने हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी विशिष्टता है, परंतु ये परस्पर जुड़े हुए भी हैं। जहां कुछ विशेषताओं की दृष्टि से इनमें समानता है वहीं अनेक बातों में ये स्वायत्त भी हैं। हमने फिर अपनी यात्रा पूर्व से प्रारंभ की और असम में अंकिआ-नाट और भाओना के विकास की एक झलक देखी। साथ ही हमने देखा कि समस्त भारत में वैष्णववाद के उदय के साथ इन नाट्य रूपों का कितना सजीव संबंध रहा है। भारत के मध्य भाग और उत्तर भारत की यात्रा करते हुए हमने रामलीला और रासलीला रूपों में राम और कृष्ण कथा की कलात्मक अभिव्यक्ति के कितने ही रूप देखे। ओड़िसा, बंगाल और मणिपुर में यात्रा नाटक की एक समानांतर धारा चल रही थी जिसकी परिणति नुक्कड़ नाटक के रूप में हुई। (मणिपुर के यात्रा नाटक की चर्चा करना संभव नहीं हो सका)। हमारी यात्रा मध्य तथा पश्चिमी क्षेत्र में पहुंच कर समाप्त हो गयी जहां पौराणिक विषयों और महाकाव्यात्मक रंगमंच ने संगीत, स्वांग, ख्याल, नौटंकी और भवाई रूपों में तथा नवीनतम रूप तमाशा में ऐहिक वेश धारण कर लिया था। भारतीय उपमहाद्वीप की यह परिक्रमा देशगत भी थी और कालगत भी, क्योंकि इन विधाओं का संबंध 1000 ई. से 19वीं शताब्दी के प्रारंभ तक के विभिन्न कालखंडों से था। उनके अवशिष्ट, नवीकृत, पुनरुज्जीवित तथा कुछ स्थितियों में मूलतः परिवर्तित रूपों की चर्चा की गयी थी और साथ ही वर्तमान युग में उनकी प्रासंगिकता की ओर भी संकेत किया गया था। दुर्भाग्यवश उत्तर भारत के दो महत्वपूर्ण रूप अर्थात हिमाचल प्रदेश का 'करियाल' और कश्मीर का 'भांड जशन' सम्मिलित नहीं किये जा सके।

इन रूपों का क्षेत्रीय भाषाओं के विकास से जो गहरा संबंध रहा है उस पर ही इस विवेचन में बल दिया गया है। साथ ही, इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने पर भी कि यद्यपि ऐसा लग रहा था कि संस्कृत भाषा और उसके रंगमंच की दी हुई एकरूपता लुप्त हो चुकी है तथा उसका स्थान भाषागत, विधागत और शिल्पगत अनेकता ने ले लिया है, तथापि उन नाट्य रूपों की विषयवस्तु और शिल्प के विभिन्न तत्वों का सूक्ष्म विश्लेषण करने से ज्ञात होगा कि ये समस्त रूप एक मूलभूत

एकता के सूत्र में बंधे हुए हैं। आशा है कि इन नाट्य रूपों के इतिहास, सामाजिक पृष्ठभूमि तथा कलागत परिपाटियों से यह बात स्पष्ट हो गयी होगी। वास्तव में वे नटराज या दुर्गा के अनेक बाहुओं के सदृश हैं जो एक स्तर पर शाश्वत, अमूर्त और निराकार हैं तो अन्य स्तर पर सदैव परिवर्तनशील तथा मूर्त हैं। दोनों एक दूसरे से संबद्ध तथा एक दूसरे के पूरक हैं। इनमें न तो किसी प्रकार का तनाव, संघर्ष या विरोध है और न ही एक दूसरे को नष्ट करने की प्रवृत्ति।

कदाचित पुनः यह कहना भी आवश्यक है कि ये सभी रूप एक मध्यवर्ती अवस्था के सूचक हैं। यह मध्यवर्ती अवस्था भारत की जनजातीय तथा ग्राम कलाओं (और वे कलाएं जो विशुद्ध रूप से सहभागितात्मक क्रियाओं से संबद्ध हैं) तथा उन कलाओं के बीच की अवस्था है जिनमें उच्च कोटि के व्यक्तिगत कौशल की अपेक्षा की जाती है। और जो हिंदुस्तान या कर्नाटक की विभिन्न परंपराओं तथा छह विभिन्न नृत्य शैलियों में से पांच नृत्य शैलियों की द्योतक हैं और जिन्हें शास्त्रीय कहा जाता है। शास्त्रीय मानी जाने वाली इन कलाओं के रसास्वादन के लिए भिन्न प्रकार के दर्शकों-श्रोताओं की आवश्यकता होती है अर्थात उनका इन कलाओं में दीक्षित होना आवश्यक है।

पुस्तक के प्रारंभ में हमने वर्तमान समूह को 'गतिशील रंगमंच' की संज्ञा दी थी। वास्तव में उन सभी रूपों की गतिशीलता कुछ स्थितियों में तो अक्षरशः तथा प्रायः सभी स्थितियों में (संभवतः केवल कुटियट्टम को छोड़कर) लाक्षणिक दृष्टि से ऊपर की ओर होती है या नीचे की ओर और ऐसा केवल समाजशास्त्रीय अर्थों में ही घटित नहीं होता अपितु कला की दृष्टि से भी घटित होता है। साथ ही, ये एक अंतर्क्षेत्रीय संप्रेषण के वाहक भी हैं जो बहुधा राजनीतिक तथा प्रशासनिक या भौगोलिक सीमाओं और सामाजिक स्तरबद्धता की सीमाओं को लांघ जाती हैं।

इस प्रकार अब हमारे सामने केवल यह काम रह जाता है कि हमने प्रत्येक नाट्य रूप का जो अलग अलग विवेचन किया है उसे यथासंभव ऐतिहासिक विकास के कालक्रम में रख कर देखा जाये। साथ ही, संक्षेप में इन रूपों का इतिहास प्रस्तुत करते हुए इनके आधारिक ढांचे का पुनर्निर्माण किया जाये जो यद्यपि प्रथम दृष्टि में दिखाई नहीं देता, किंतु जो इनकी रूपगत संरचना का नियंत्रण करता है। हमें आशा है कि इस प्रक्रिया से गुजरते हुए संपर्क तथा स्वतंत्र विकास के अनेक बिंदु दृष्टिगत होंगे। जहां तक अंतःसंबद्धता तथा पारस्परिक निर्भरता और मूलभूत विश्वदर्शन का संबंध है उसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है।

संस्कृत नाटक का इतिहास सुविदित है। विद्वानों ने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। सौभाग्य से अब इस गलत धारणा की चर्चा आवश्यक नहीं है कि यह नाट्य परंपरा मात्र साहित्यिक थी। 19वीं शताब्दी में 20वीं शताब्दी के प्रारंभ-काल में कुछ विदेशी तथा भारतीय विद्वानों का ऐसा ही मत था। इसके विपरीत अब विद्वान इस पर सहमत हैं कि संस्कृत नाटक एक अत्यधिक समुन्नत नाट्य परंपरा का अंग था जिसके नियंत्रक सिद्धांतों में तथा यूनानी नाटक या 19वीं शताब्दी तक के पाश्चात्य साहित्यिक नाटक के सिद्धांतों में कोई साम्य नहीं था, या यदि था तो नाममात्र को ही था। इस नाट्य परंपरा के मूल में उस विश्वदर्शन का अर्थगर्भित निषेध था जो चरित्र विशेष के 'आंतरिक द्वंद्व' को नाटकीय व्यापार का केंद्र बिंदु मानता था। यहां इसके विपरीत जीवन का विभाजन उसके आद्यरूपों में हुआ था जहां सत-असत् की शक्तियां निस्संदेह परस्पर संघर्ष कर रही थीं, किंतु हेमलेट के 'होने या न होने' के द्वंद्व की भांति या ओडिपस के 'नैतिक अच्छाई और व्यक्तिगत सुख' के द्वंद्व की भांति या ईसाई नाटक के अध्यात्मिकता तथा भौतिकता के संघर्ष की भांति यह संघर्ष व्यक्ति विशेष के भीतर नहीं चल रहा था। व्यक्तियों की स्थिति आद्यरूपों या प्रतीकों की थी और प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म के अनुसार एक निश्चित कर्म पथ पर अग्रसर था। यह उसकी नियति थी और इस प्रक्रिया से गुजरते हुए वह प्रेम भी करता था और घृणा भी, लड़ता भी था और हंसता भी था, विरक्त भी होता था और क्रुद्ध भी तथा दयावान भी, यहां तक कि उसका मन शांत अवस्था को प्राप्त हो जाता था। इंद्रधनुष की भांति, जिसके विभिन्न रंग एक ही ज्योतिपिंड के विभिन्न अंग हैं, जीवन को स्थितियों में देखने की दृष्टि ने ही शास्त्रीय स्तर पर रस के सिद्धांत को जन्म दिया। यद्यपि इस सिद्धांत का उपयोग समस्त भारतीय कलाओं के लिए है, तथापि इसका विकास विशेषतः नाट्य कला के संदर्भ में ही हुआ था।

भारतीय नाट्य विधा और उसकी संरचना का विकास इसी आधारभूत विश्वदर्शन के अनुरूप हुआ था। यह यूनानी नाटक से मूलतः भिन्न थी जिसकी गति साधारण प्रारंभ से चरम बिंदु और फिर अंतिम परिणति की ओर थी। इसके विपरीत

भारतीय नाटक की गति क्षैतिज या वृत्ताकार पथ पर थी जिसमें अनेक संधियां और योजक थे। संस्कृत नाटक की इसी महत्वपूर्ण संरचनागत विशेषता को पारिभाषित करने के लिए 'संधि' (जिसका शाब्दिक अर्थ है, संयोजक) की संकल्पना प्रतिपादित की थी। नाटक के विकास की योजना मंदिर की वास्तुगत योजना के सदृश थी जिसमें मुख होता था, प्रतिमुख (मंदिर के अर्धमंडप की भांति) होता था, गर्भ (मंदिर-गर्भ की भांति) होता था, विमर्ष होता था, तथा अंत में समाप्ति जिसे 'निर्वाहण' कहा जाता था। कथानक में दो या और अधिक स्तर हो सकते थे, किंतु ये परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक या पोषक थे। उपकथानकों की स्थिति वैसी ही है जैसी कि मुख्य देवता के मंदिर की परिधि में स्थित अन्य देवमंडपों की।

साथ ही, अनेकार्थक शब्दों से संपन्न संस्कृत भाषा थी जिसमें एक ही शब्द से अनेक अर्थ व्यक्त करने की अद्‌भुत क्षमता थी। यह कोई ऐसी क्षमता नहीं थी जो किन्हीं विशेष कवियों और लेखकों की प्रतिभा के कारण उसे मिली हो। यह शक्ति उसकी भाषागत प्रकृति में निहित थी। निस्संदेह श्लेष सभी भाषाओं में मिलते हैं और संसार की सभी भाषाओं के रचनाकारों ने इनका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। परंतु संस्कृत में बहुस्तरीय निर्वचन की अपार क्षमता थी जिसका प्रयोग उसने नाटक और काव्य की मूलभूत प्रविधि के रूप में किया। व्यंजना और अलंकार के सिद्धांत इसके सहज परिणाम थे।

विश्वदर्शन, संरचनागत ढांचा तथा भाषा की विशेष प्रकृति आदि तत्वों ने अनेक प्रकार की किंतु परस्पर संबद्ध कलात्मक अभिव्यक्तियों के लिए एक व्यापक शिल्पगत व्यवस्था को जन्म दिया। नाटक के संदर्भ में यह व्यवस्था जिन मूलभूत सिद्धांतों से संचालित होती थी वे थे – मार्गी तथा देशी, नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी, अभिनय के चार प्रकार अर्थात् वाचिक, आंगिक, आहार्य तथा सात्विक। इनके समानांतर थीं वृत्तियां — भारती, कैशिकी, आरभटी तथा सात्वती जो अभिनय की चार श्रेणियों के समानुरूप थीं; तथा प्रवृत्तियां अर्थात अर्धभागधी (पूर्वी), पांचाली (उत्तरी), अवंती (पश्चिमी), दक्षिणात्य (दक्षिणी)। अंत में, रंगमंच के क्षेत्र-विभाजन की परिपाटी थी जिसे 'कक्ष विभाग' कहा जाता था।

संस्कृत के नाटककार 8वीं-9वीं शताब्दी तक इन नियमों का कठोरता से पालन करते रहे और विभिन्न तत्वों के बीच उन्होंने एक सामंजस्यपूर्ण संतुलन बनाए रखा। नाना प्रकार के माध्यमों और शैलियों के समावेश से वे एक ऐसी समष्टि की रचना करते थे जिसके द्वारा विभिन्न रसों या स्थायी भावों के निर्वैयक्तिक तत्व का संप्रेषण सफलतापूर्वक किया जा सकता था। महत्व, तीव्रता तथा उपलब्धि की दृष्टि से अंतर का होना स्वाभाविक था। यह अंतर कभी नाटक की अंतर्वस्तु के कारण आ जाता था और कभी रचनाकारों की अपनी प्रतिभा के कारण। कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' तथा विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' नाट्य वस्तु तथा शिल्प के वैविध्य के उत्तम उदाहरण हैं। भास ने 'चारुदत्तम्' में तथा शूद्रक ने 'मृच्छकटिकम्' में एक ही विषय का निर्वाह जिस प्रकार किया है वह दो रचनाकारों की भिन्न योग्यताओं का सूचक है। इस प्रकार के और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

कालिदास, भवभूति तथा हर्ष ने इसी प्रतिमान का अनुसरण किया, किंतु उनके नाटकों में एक विशेष परिवर्तन की झलक मिलती है। कभी केवल गीतात्मक तत्वों, यहां तक कि संगीतात्मक तत्वों पर ही बल दिया जाता था और कभी अतिनाटकीय तत्वों को अग्रता दी जाती थी जैसाकि भवभूति के 'मालतीमाधवम्' में देखा जा सकता है। साथ ही साहित्य में शुद्ध गद्य की परंपरा के विकास का (तुलना करें दशकुमार चरितम्, किरातार्जुनियम, कादम्बरी से) उल्लेख करना भी आवश्यक है। पुराणों की प्राचीनता असंदिग्ध है, किंतु 8वीं और 11वीं शताब्दी के बीच भी अनेक पुराणों की रचना हुई थी जिनमें श्रीमद्‌भागवत पुराण भी एक महत्वपूर्ण पुराण है। संक्षेप में यह कि काव्य, नाटक, इतिहास, आख्यान तथा पुराण सर्जनात्मक लेखन के प्रमुख स्रोत थे। परंतु इस कथन का उद्देश्य उपदेशात्मक, नैतिक तथा विधिशास्त्रीय लेखन की महत्वपूर्ण गतिविधियों की उपेक्षा करना नहीं है।

दसवीं और 12वीं शताब्दी के बीच कुछ अन्य पुस्तकों के साथ दो बहुत महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी गयीं जिन्होंने उत्तरवर्ती लेखन और दृश्य तथा श्रव्य दोनों ही प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति पर गहरा प्रभाव डाला। ये ग्रंथ थे – 'भागवत पुराण' (10वीं शताब्दी) तथा जयदेव रचित गीत गोविंद (12वीं शताब्दी)। उन्होंने विभिन्न प्रकार से और विभिन्न धरातलों पर भारत में ऐसी गतिविधियों का प्रवर्तन किया जो लगभग आठ शताब्दियों तक या और अधिक समय तक सृजनशील कलाकार की

कल्पना के आकर्षण का केंद्र बनी रहीं। अन्य ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा सामाजिक कारण भी उत्तरवर्ती युगों में तथा भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इन पुस्तकों का अद्‌भुत प्रभाव और आकर्षण बनाए रखने में सहायक हुए।

प्रमुख आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास को समझने के लिए संस्कृत भाषा के व्यापक प्रयोग की इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है। संस्कृत का यह प्रयोग भारत में सर्वत्र ही 15वीं-16वीं शताब्दी तक बना रहा था और एक-दो क्षेत्रों में तो 17वीं -18वीं शताब्दी तक भी ऐसी ही स्थिति थी। 11वीं और 15वीं शताब्दी के बीच ओड़िआ, बंगला, गुजराती, मराठी, हिंदी आदि भाषाएं अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्ष कर रही थीं। तमिल और मलयालम जैसी कुछ भाषाएं और भी पुरानी थीं। इनमें एक मिश्र भाषा 'मणि प्रवाल' विकसित हो चुकी थी और 12वीं शताब्दी तक इसका अस्तित्व बना रहा था। देवभाषा (संस्कृत) तथा देशी भाषा (क्षेत्रीय भाषा) को लेकर वाद-विवाद भी होता था, यद्यपि भारत के अधिकांश भागों में दोनों का सहअस्तित्व बना हुआ था। कुछ लेखक संस्कृत या मार्गी के पक्षधर थे तो अन्य देशी के महत्व पर बल देते थे, परंतु वस्तुतः दोनों का ही अस्तित्व बना हुआ था।

आगे चलकर, संस्कृत नाटक ने एक ऐसी रचनाविधा (जिसका अस्तित्व तो था किंतु जो लोकप्रिय नहीं थी) को जन्म दिया जिसे उपरूपक या उल्लप्य कहा गया। साथ ही, एक संगीत नाट्य विधा सत्तक का उदय हुआ जिसका उपयोग राज शेखर ने कपूरमंजरी में किया है। कृष्ण मिश्र के नीतिपरक नाटक प्रबोधचंद्रोदय के भिन्न भिन्न पाठ भारत के विभिन्न भागों में मिलते हैं। इनमें से कुछ संगीत नाटक की शैली में हैं। नाट्यशास्त्र में संगीतकों की कोई चर्चा नहीं मिलती है, किंतु चतुर्भाणि तथा बाण के हर्षचरित में 'संगीतक' नामक एक नाट्य विधा की चर्चा की गयी है। यादव प्रकाश रचित वैजयंती (11वीं शताब्दी) तथा शुभंकर रचित संगीत दामोदर में भी इस नाट्य रूप की चर्चा की गयी है। शुभंकर ने इस नाट्य विधा के विभिन्न अवयवों का विश्लेषण किया है। इस संबंध में अन्य लेखकों का नामोल्लेख भी किया जा सकता है।

कुलशेखर की क्या उपलब्धियां हैं तथा 11वीं शताब्दी में कुटियट्टम का विकास करके उसने कितना बड़ा योगदान किया है, इन सबका मूल्यांकन करते समय इन सब तथ्यों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। वह पूर्ववर्ती नाटक की परंपरा का पूर्णतः अनुसरण नहीं कर रहा था, जैसाकि कुछ लेखकों का मत है। जहां वह कुछ सामान्य सिद्धांतों का अनुसरण कर रहा था वहीं वह कुछ नवीन तत्वों का समावेश भी कर रहा था। इन नवीन तत्वों के लिए भी उसके समक्ष संस्कृत के प्रतिमान थे और उसके अनेक प्रयोगों के बीज उसके पूर्ववर्ती संस्कृत तथा मलयालम लेखकों की रचनाओं में निहित थे। कुछ पात्रों द्वारा प्राकृत का प्रयोग किये जाने की परिपाटी का उसने पूरा लाभ उठाया और विदूषक की भूमिका को एक सर्वथा नवीन आयाम दिया। विदूषक संस्कृत शब्दों को तोड़-मरोड़ सकता था और जानबूझ कर मलयालम में उनकी गलत व्याख्या कर सकता था। यह युक्ति बहुत प्रभावोत्पादक सिद्ध होती थी। समकालीन नाट्य प्रस्तुतियों में भी यह परिपाटी बनी हुई है।

लगभग इसी काल में तमिलनाडु, आंध्र और कर्नाटक में भी इसी प्रकार की घटनाएं घट रही थीं। शिलालेखों से हमें राजाराज चोल के शासनकाल में रचित राजाराजशेखर नाटकम् नामक नाटक की जानकारी मिलती है। 'मणि प्रवाल' एक ऐसी भाषा थी जो संस्कृत और तमिल के पारस्परिक प्रभाव के फलस्वरूप विकसित हुई थी। उस काल में तमिल साहित्य के विकास तथा कंबन और संगम काल में लेखकों के अद्वितीय योगदान की चर्चा पहले की जा चुकी है। आंध्र में भी ऐसी ही एक घटना घट रही थी। तेलुगु के 'आदि कवि' नन्नय संस्कृत के ज्ञान के बिना महाभारत का रूपांतर प्रस्तुत नहीं कर सकते थे। लगभग इसी काल में सर्वप्रथम ऐसी रचनाएं सामने आईं जिन्हें बहुत आगे चलकर यक्षगान की संज्ञा दी गयी। यद्यपि जैन धर्म की प्रबल परंपरा के कारण कर्नाटक में स्थिति थोड़ी भिन्न थी, तथापि पंपा की रचनाओं में उसी प्रकार की प्रवृत्तियां दृष्टिगत होती हैं जैसी कि दक्षिण भारत के अन्य भागों में देखी जा सकती थीं। इनका संबंध एक ऐसी नयी भाषा के विकास से था जो संस्कृत से प्रभावित तो थी किंतु जिसे प्राणशक्ति देशज परंपराओं से मिल रही थी। इसी काल में 1090 ई. के आसपास जब नन्यदेव ने बिहार में एक कन्नड़ राजवंश की स्थापना की तो कदाचित वह अपने साथ दक्षिण भारत की परंपराएं भी ले गया। 10वीं और 11वीं शताब्दी से ही शिलाप्पदिकरम् की महत्वपूर्ण टीकाओं का भी संबंध है जिनमें नृत्य, नृत्य नाटक तथा नाटक के अनेक रूपों की विस्तार से चर्चा की गयी है।

जहां इस काल में दक्षिण भारत में घटने वाली इन घटनाओं का महत्व समस्त भारत के लिए था वहीं पूर्व में एक ऐसे

लेखक का उदय हुआ जिसकी कृति ने अनेंक शताब्दियों तक समस्त भारत पर अपना व्यापक प्रभाव बनाए रखा। यह लेखक थे जयदेव।

जयदेव रचित गीत गोविंद सरल संस्कृत में लिखी गयी थी जिसे प्रायः अपभ्रंश के निकट मान लिया जाता था। इसने साहित्यिक तथा नाट्यगत गतिविधियों को नयी प्रेरणा और नयी दिशा दी। यदि भारत के अन्य भागों में इन घटनाओं ने एक नये प्रकार के नाटक के लिए भूमि प्रशस्त न की होती तो गीत गोविंद का भी इतना प्रभाव न हुआ होता। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, गीत गोविंद तथा श्रीमद्‌भागवत पुराण सारे मध्यकाल में सभी प्रकार के कलाकारों और रचनाकारों के लिए आकर्षण-केंद्र बने रहे।

गीत गोविंद की रचना से सत्तर वर्ष के भीतर ही यह कृति गुजरात जैसे दूरस्थ क्षेत्र में पहुंच चुकी थी। परंतु सर्वप्रथम ओड़िसा और बंगाल ही इसके साहित्यिक प्रभाव में आए। इसके पश्चात् मिथिला (बिहार) इससे प्रभावित हुआ और 15वीं शताब्दी में यह उत्तर भारत (राजस्थान) तथा 16वीं शताब्दी में महाराष्ट्र तथा अन्य क्षेत्रों में पहुंच चुकी थी। इसके प्रसार-विस्तार की कथा एक पृथक विषय है। यहां इतना संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि मध्यकाल की अधिकांश नाट्य परंपराओं के निर्माण में इस कृति की मुख्य तथा अद्वितीय भूमिका रही है। यह उस काल की सबसे सशक्त कृति थी जिसने कृष्णकथा को अभूतपूर्व रीति से पुनरुज्जीवित कर दिया। इसके पश्चात 15वीं-16वीं शताब्दी में भागवत पुराण की रचना हुई और 16वीं-17वीं में रामायण के अनेक रूपांतर हुए।

चौदहवीं -15वीं शताब्दी में विद्यापति, उमापति तथा ज्योतिरीश्वर ठाकुर की महत्वपूर्ण कृतियां सामने आईं। विद्यापति ने गीत-गोविंद के प्रतिमान का अनुसरण करते हुए गोरक्षविजय नाटक की रचना की और ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने पारिजातहरण नाटक लिखा।

बांग्ला, ओड़िआ, असमिया, गुजराती, मराठी आदि भारतीय भाषाओं का आविर्भाव भी समवर्ती घटना थी। हम संक्षेप में पहले चर्चा कर चुके हैं कि किस प्रकार अपभ्रंश, शौरसेनी, प्राकृत आदि अनेक अवस्थाओं से होकर इनका विकास हुआ। संस्कृत और स्थानीय स्रोतों से ग्रहण करने की प्रवृत्ति इन सभी भाषाओं में थी। इनमें से प्रत्येक की कुछ उत्कृष्ट कृतियों का उल्लेख भी किया जा चुका है, विशेषकर गुजरात में जैन परंपरा के रासकों जैसी रचनाओं का।

पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण और 16वीं शताब्दी के प्रथम चरण में एक नया प्रस्फुटन दृष्टिगत होता है। चंडीदास तथा कुछ आगे चलकर चैतन्य इसके प्रमुख नेता थे। चैतन्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे। वे और उनके शिष्य पूरे पूर्वी भारत में तथा उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों में राजनीतिक घटनाओं से परे एक संयोजक सांस्कृतिक शक्ति बन गये।

असम में शंकरदेव इस प्रकार की नयी जागृति के अग्रदूत थे। ये सभी नाचते-गाते हुए अपने सुधार-आंदोलनों का प्रवर्तन कर रहे थे। इन्होंने अवरोधों को तोड़ते हुए प्रेम और भक्ति का एक वातावरण उत्पन्न कर दिया। सामूहिक कीर्तन आदि में इसे विशेष रूप से अनुभव किया जा सकता था। मथुरा और वृंदावन मिलन स्थल थे जहां चैतन्य और शंकरदेव पहुंचते थे और जहां हरिदास, वल्लभाचार्य तथा उनके शिष्य ज्योति बिखेर रहे थे। उनके कीर्तनों, लीलाओं तथा इस प्रकार की अन्य रचनाओं की संख्या बहुत अधिक थी और इनका लगभग देशव्यापी प्रभाव था। स्थानीय कथा, लोक गायन की परंपरा तथा जयदेव द्वारा सुलभ कराये गये प्रतिमान नाट्य प्रस्तुति की नयी विधाओं में इन सबको समाविष्ट कर लिया गया। यात्रा, अंकिआ-नाट या भाओना तथा रासलीला – इन सबका उद्‌गम किसी न किसी सीमा तक इन्हीं संत कवि गायकों के कारण हुआ जो सृजनशील कलाकार भी थे और सुधारक भी। शंकरदेव अंकिआ-नाट या भाओना के प्रवर्तक थे और इस विधा का उन्होंने जो परिष्कार किया उसने बिहार और उत्तरप्रदेश की समतुल्य गतिविधियों को प्रभावित किया।

ब्रज बोली के प्रयोग से अंतःक्षेत्रीय संप्रेषण का एक और माध्यम मिल गया। चैतन्य द्वारा रुक्मिणी की भूमिका के निर्वाह ने नयी नाट्य गतिविधियों को जन्म दिया और आगे चल कर हित हरिवंश के लेखन तथा वृंदावन में उसके अभिनय से रासलीला की नींव पड़ी। अष्टछाप संप्रदाय के कवियों ने, जो वल्लभाचार्य (जो दक्षिण से आए थे) के अनुयायी थे, इस परंपरा को दृढ़ किया और इसका पोषण किया। आंध्र के नारायण भट्ट ने वज्रोत्सव चंद्रिका लिखी। यह एक प्रकार का शृंखला नाटक था जो संभवतः प्राचीनतम संपूर्ण लीला नाटक रहा होगा। जयदेव की गीत गोविंद बहुत महत्वपूर्ण रचना थी किंतु

हरिवंश पुराण तथा भागवत पुराण की कृष्णकथा में गहन रुचि का भी कम महत्व नहीं था।

सोहलवीं और 17वीं शताब्दी में रामकथा में पुनः रुचि ली जाने लगी, यद्यपि 8वीं और 11वीं शताब्दी के बीच भट्टिकाव्य, महानाटक और हनुमन्नाटक की रचना हो चुकी थी और कंबन तथा पंपा, क्रमशः तमिल और मलयालम में इस कथा को पहले ही अमरत्व प्रदान कर चुके थे तथा केरल और आंध्र में 14वीं शताब्दी में अध्यात्म रामायण तथा रंगनाथ रामायण की रचना हो चुकी थी, तथापि पूर्वी भारत और उत्तर भारत की भाषाओं में अधिकांश राम कथाएं 16वीं और 18वीं शताब्दी के बीच ही लिखी गयीं। श्रीधर की मराठी रामायण, ओड़िआ की विचित्र रामायण, कृत्तिवास की बांग्ला रामायण और सर्वोपरि तुलसीदास का हिंदी में लिखा गया रामचरितमानस इसी काल की रचनाएं हैं। इन क्षेत्रों में लिखी गयी राम कथाओं के और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

झांकी जैसे नाट्य रूपों, प्रबंध जैसी साहित्य विधाओं, चंपू, दोहा, चौपाई जैसे छंदों और वचन या वचनिका के गद्य – इन सबने साहित्य सृजन के आकारगत पक्ष को प्रभावित किया और साथ ही रामायण तथा रामलीला के विभिन्न पाठों के लिए सामग्री भी सुलभ कराई।

रामलीला तथा कई अन्य गाथाओं और पुतली नृत्य रूपों की समकालीन परंपराओं के उद्गम स्रोत इसी काल तथा इन्हीं पाठों में ढूंढ़े जा सकते हैं।

महाभारत और कई अन्य पौराणिक कथाओं का, विशेषकर भागवत पुराण का प्रभाव भी इतना ही प्रबल था। वीर रस के विषयों के लिए 16वीं शताब्दी के यक्षगान, आंध्र और तमिलनाडु के भागवतमेला और थोड़ा बाद के काल में कथकलि का बहुत अधिक झुकाव इन्हीं रचनाओं की ओर था।

अठारहवीं शताब्दी के आते आते यद्यपि इन सभी विधाओं का अस्तित्व बना हुआ था किंतु लिखित शब्द और प्रस्तुति के बीच एक दूरी आ चुकी थी या एक दूरी का आभास होने लगा था। सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन द्रुत गति से हो रहे थे और यही वह समय था जब नौटंकी, ख्याल, भवाई और तमाशा जैसी तथाकथित लौकिक नाट्य विधाओं की शुरुआत हो रही थी। इनमें भवाई सबसे पुरानी है और इसने प्रस्तुतिकर्ताओं तथा प्रस्तुति स्थल के अनुसार पूर्णतः या अंशतः अपना कर्मकांडीय स्वरूप बनाए रखा, जबकि अन्य रूपों ने प्रधानतः सामाजिक-ऐतिहासिक स्वरूप तथा ऐसी लोकप्रिय नाट्य शैली ग्रहण कर ली जो पौराणिक तथा कर्मकांडीय अंशों से सर्वथा मुक्त थी।

और अंत में, 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश सत्ता के उदय के साथ महानगरों में उस रंगमंच का अविर्भाव हुआ जिसे आधुनिक भारतीय रंगमंच कहा जाता है और जिसका ढांचा मुख्यतः एलिजाबेथ काल, विक्टोरिया काल या एडवर्ड काल के रंगमंच पर आधारित था। शिक्षित भारतीय अपनी परंपराओं से विमुख हो गया था और जिन नाट्य रूपों की यहां चर्चा की गयी है वे परंपरागत समाज के ग्रामीण या जनजातीय वर्गों तथा आर्थिक दृष्टि से विपन्न वर्गों में ढकेल दी गयी थीं।

बीसवीं शताब्दी में विषय तथा शिल्प दोनों ही दृष्टियों से यूरोपीय विचारों ने कुछ साहित्य विधाओं, विशेषकर उपन्यास और नाटक को प्रभावित किया। इस संबंध में उपन्यास में 'चेतना प्रवाह' की शैली का प्रयोग, कविता में बिंबवाद तथा प्रतीकवाद जैसी विचारधाराओं का प्रयोग और जापानी नौह तथा काबुकी और चीनी ओपेरा जैसे पूर्वी नाट्य रूपों से प्रेरित एक नयी नाट्य विधा का उदय आदि उल्लेखनीय हैं। इन प्रवृत्तियों तथा ब्रेख्त, आयनेस्को और कुछ अन्य यूरोपीय नाटककारों की कृतियों ने भारतीयों पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। विडंबना यह है कि बहुत अंशों में इसी प्रभाव ने भारतीयों को स्वदेश लौटने के लिए प्रेरित किया। वे अपनी जड़ों को ढूंढ़ने और ऐसे स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करने लगे जिनकी 20 वीं शताब्दी में 'महाकाव्यात्मक रंगमंच' के विकास में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। इस प्रकार आधुनिक भारतीयों द्वारा अपने प्राचीन नाट्य रूपों को पुनः पहचान लेने के परिणामस्वरूप समय ने एक चक्र पूरा कर लिया है। गत तीन चार दशकों से ये ही नाट्य रूप भारत के नव-रंगमंच पर सशक्त प्रभाव डालते आए हैं। सामाजिक-आर्थिक वर्गों में ढकेल दिए गये ये नाट्य रूप अब एक नयी गतिशीलता से संपन्न तथा अभिजात वर्ग के लिए आकर्षण का केंद्र बन गये हैं। निस्संदेह इस रंगमंच को गतिशील रंगमंच की संज्ञा देना उपयुक्त होगा।

तथापि छऊ रूप जो अपने आप में एक पृथक वर्ग हैं एक विशेष नाट्य प्रस्तुति वर्ग से ही संबद्ध रहे हैं। परंतु आधुनिक

नृत्य कला में उनका भी योगदान रहा है।

इन नाट्यकर्मी दलों, व्यावसायिक वर्गों आदि की सामाजिक हैसियत की छानबीन करने से ज्ञात हुआ है कि जहां कुछ नाट्य रूप कमोबेश ब्राह्मण वर्ग तक सीमित हैं, वहीं अंकिआ-नाट या भाओना जैसे कुछ रूपों के प्रस्तुतिकर्ता क्षत्रिय जाति के हैं और कुछ अन्य नाट्य रूप आज भी भवाया जैसे बहिष्कृत वर्गों तक ही सीमित हैं। भंग और कोल्हति जैसी जनजातियां 'तमाशा' की प्रस्तुति करती हैं तो छऊ की प्रस्तुति भूमिज, मुरा और डोम जातियां करती हैं। नाटक की लोकतंत्रकारी भूमिका सुस्पष्ट है, विशेषत: प्रस्तुति और दर्शक के संदर्भ में जहां संपन्न और विपन्न कंधे से कंधा मिलाकर बैठते हैं। भारतीय रंगमंच वस्तुत: पंचम वेद है जो वर्ग या जाति-भेद को स्वीकार नहीं करता।

अब अंत में हम रंगमंच की रूढ़ियों के सामान्य ढांचे की चर्चा करेंगे। हमने देखा कि इन नाट्य रूपों में से प्रत्येक में पूर्वरंग की परिपाटी का निर्वाह किया जाता है। इनमें कई कई दिनों तक चलने वाले पूर्वरंग (जैसाकि छऊ में होता है) से लेकर तमाशा की साधारण गणेश वंदना जैसे पूर्वरंग सम्मिलित हैं। कुटियट्टम में यह आयोजन अपने ही ढंग का और विशेष कोटि का है, जबकि कर्नाटक यक्षज्ञान में पूर्वरंग क्रिया महत्वपूर्ण होते हुए भी बहुत व्यापक नहीं है। भागवतमेला में भी यह क्रिया अर्थपूर्ण है, किंतु व्यापक स्तर की नहीं है। छऊ अंकिआ-नाट और ओड़िसा के यात्रा आदि अनेक नाट्यरूपों में संस्कृत रंगमंच के जर्जर के समान एक खंभा गाड़ना अनिवार्य है। खंभा गाड़ने की इस प्रथा का भी एक इतिहास है जो नाट्यशास्त्र से भी अधिक प्राचीन है। इसका प्रथमोल्लेख वेदों में हुआ है, विशेषत: अग्निचयन यज्ञ और यूप स्थापना विषयक अंशों में। अथर्ववेद में इसी विषय पर पूरे भजन के भजन मिलते हैं। इस कर्मकांड को झूम खेती के कृषिगत रीति-रिवाजों से संबद्ध करके भी देखना आवश्यक है। खंभा गाड़ने की इस प्रथा को जो कृषिगत क्रिया पर आरोपित है, प्रथमत: जादू-टोने का अर्थ दिया जाता है। आगे चलकर इस खंभे की प्रतिमा के रूप में पूजा की जाने लगती है। छऊ के संदर्भ में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार यह खंभा शिव का प्रतीक बन गया है। भवाई में खंभे का स्थान मिट्टी के घड़े (जिसे गरबी कहते हैं) या बांस से बने 'मांडवी' ने ले लिया है जिसे अंबा देवी का प्रतीक मान लिया जाता है। ये समस्त प्रारंभिक क्रियाएं संस्कृत नाटक के पूर्वरंग के ही रूप हैं।

रंगमंच पर उतरने वाले प्राय: सभी अभिनेता यथार्थ का एक अन्य धरातल प्रस्तुत करने के लिए रूप परिवर्तन कर लेते हैं। ये मुख्यत: संस्कृत नाट्य परंपरा की सभी विशेषताओं का निर्वाह करते हैं जिसमें मनुष्य मात्र आदि-रूप तथा प्रतीक है। ये यक्षगान के उद्दिष्ट रूपांतरणों से लेकर रामलीला और रासलीला के राम तथा कृष्ण के प्रतियात्मक तथा दैवीकृत रूप में हो सकते हैं। सामाजिक नाटक तक के चरित्र सामान्य तथा स्टाक चरित्र हैं। कोई भी अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त नहीं है। नायक, प्रतिनायक, देवता और दानव सभी बहुत बड़ी संख्या में होते हैं। साधुता का कवच धारण किए हुए ये जिन मानव सुलभ दुर्बलताओं तथा व्यतिक्रमों का प्रदर्शन करते हैं उनकी टीका-टिप्पणी सूत्रधार, गायक और सबसे अधिक विदूषक कर सकता है। विदूषक नाट्य व्यापार तथा नाट्य प्रस्तुति में विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह करता है। वह वर्तमान को अतीत से जोड़ता है और देशान्विति तथा कालान्विति की रूढ़ियों को जान बूझकर तोड़ता है। कुटियट्टम में वह संस्कृत नाम 'विदूषक' से ही जाना जाता है, किंतु यक्षगान में वह कोदंगी, छऊ में काजी-पाजी का जोड़ा और भवाई में रंगलो हो जाता है। यात्रा का विवेक, नौटंकी का मुंशी, भाओना का बेहुवा और कभी कभी रासलीला का उद्धव भी विदूषक जैसे ही पात्र हैं। संस्कृत नाटक का सूत्रधार भी सभी नाट्य रूपों में मिलता है। वह यक्षगान में भागवतर है तो भागवतमेला में भागवतालु, रामलीला में व्यास, रासलीला में स्वामी या गोसाईं, अंकिआ-नाट में सूत्राधिकारी और तमाशा में फडकरी है। वह नाटककार भी है, नाटक का निर्देशक भी और नाटक का प्रस्तुतकर्ता भी। वह स्थिति के अनुसार टीका-टिप्पणी कर सकता है, वर्णन कर सकता है, गा सकता है और इंगित भी कर सकता है। वह पात्रों का परिचय कराता है, उनसे वार्तालाप करता है और साथ ही दर्शक मात्र भी होता है।

नाटकों का अभिनय विभिन्न स्थलों पर होता है। कुछ मंदिर के प्रांगण में अभिनीत किए जाते हैं जैसे कुटियट्टम या असम के सत्रों के नामघर और कुछ की प्रस्तुति ऊंचे मंच पर की जाती है जैसे यक्षगान, यात्रा और रासलीला तथा कुछ की समतल भूमि पर जैसे छऊ। कुछ की प्रस्तुति रंग-स्थल बदल बदल कर भी की जाती है जैसे वाराणसी की रामलीला। परंतु

वाराणसी की रामलीला को छोड़कर अन्य सभी में दर्शक तीन ओर बैठते हैं और सामान्य अभिनय क्षेत्र वर्गाकार होता है जिसमें भारतीय स्थापत्यकला की अपेक्षाओं तथा एक मानक भूमि योजना का अनुसरण किया जाता है। संस्कृत रंगमंच की भांति ही इनमें भी कक्ष विभाग या विभिन्न स्थितियों के लिए क्षेत्र विभाजन की रूढ़ियों तथा कुछ अभिनेताओं को स्थिर मुद्रा में खड़ा कर देने की परिपाटी का पालन किया जाता है।

सभी में नाटक का प्रारंभ ढोल बजाकर किया जाता है। यह दूर दूर तक नाट्य प्रस्तुति की सूचना देने के लिए किया जाता है। प्रायः मुख्य पात्रों का प्रवेश एक परदे के पीछे होता है जिसे रंगमंच पर दो व्यक्ति पकड़े रहते हैं। कुटियट्टम, अंकिआ-नाट, यक्षगान, रासलीला और तेरुकूथु में इस रूढ़ि का पालन किया जाता है किंतु भवाई, तमाशा और रामलीला में ऐसा नहीं है। पर्दा रंगीन भी हो सकता है और सफेद भी, किंतु उद्देश्य यही होता है कि दर्शकों के समक्ष अभिनेता पात्र की पूर्ण प्रस्तुति के पहले अनिश्चय की स्थिति बनी रहे।

नाटक में सभी प्रकार की अभिनय विधियों का उपयोग किया जाता है। भरत ने जिन चार प्रकार के अभिनयों का उल्लेख किया है उन सबका उपयोग किया जाता है। बारी बारी से सूत्रधार गद्यांशों (दक्षिण भारत के वचन जैसा) का प्रयोग तथा काव्य पाठ करता है और अभिनेता या संगीतकार अथवा दोनों ही गीत गायन करते हैं। चंपू, दोहा, चौपाई आदि छंदों का प्रयोग दक्षिण भारत तथा उत्तर भारत दोनों में ही होता है। यह संरचनागत विशेषता प्रायः देशव्यापी है। कुछ नाट्य रूपों में शब्द (वाचिक) का उपयोग न्यूनतम है जैसे छऊ में। अन्य रूपों में शब्द ही मुख्य आधार है जैसे रामलीला में। शब्द और ध्वनि तथा शब्द-ध्वनि और अंग संचालन की समकालिकता भी संस्कृत नाटक से ही गृहीत है जिसमें गति और अंग संचालन नाट्य क्रिया के अभिन्न अंग थे। परंतु समन्वय तथा अंग संचालन कौशल के स्तर में बहुत भिन्नता है। जहां कुटियट्टम में यह अत्यधिक समुन्नत तथा परिष्कृत है वहीं यक्षगान और रासलीला में यह अधिक सामान्य कोटि का है किंतु रामलीला और तमाशा में यह न्यूनतम है। तथापि गति और नृत्य अर्थात् आंगिकाभिनय का उपयोग नाटक में अनेक अर्थपूर्ण रीतियों से किया जाता है। छऊ रूपों में धरणों की प्रवेश-मुद्राएं हैं तो यक्षगान, तेरुकूथु आदि में शैलीकृत चाल। खड़े होने, बैठने, सोने आदि की रूढ़ियां भी दृष्टिगत होती हैं। अंत में उल्लेखनीय हैं वे विशेष नृत्य जिनकी प्रस्तुति अभिनेत्रियां करती हैं (जैसे तमाशा में) पर स्त्री भूमिका करने वाले पुरुष अभिनेता (जैसे भवाई, अंकिआ-नाट आदि में) रासलीला के रास अंशों में और भवाई के गरबा अंशों में भी नृत्य का महत्व है।

अधिकांशतः रंगसज्जा का अस्तित्व नहीं है, किंतु अंकिआ-नाट और भाओना जैसे नाट्य रूप अपवाद हैं। इनमें बहुत सारे साज-सामान का उपयोग किया जा सकता है। जहां तक रंगसज्जा का संबंध है, अधिकांश रूपों में भरत द्वारा उल्लिखित नाट्यधर्मी रूढ़ियों का निर्वाह किया जाता है। बैंच, कुर्सी या स्टूल को रखकर सिंहासन, खाट आदि का संकेत दिया जा सकता है। वेशभूषा भिन्न भिन्न प्रकार की है। कुटियट्टम, यक्षगान या रासलीला में यह अत्यधिक शैलीकृत है और इस प्रकार शाश्वत तथा कालातीत होने का आभास देती है। समय-सापेक्ष वेशभूषा का भी प्रयोग किया जाता है, चाहे उसमें काल-दोष या बेतुकापन ही क्यों न हो जैसा कि यात्रा और नौटंकी में देखा जा सकता है। या फिर भवाई, तमाशा आदि की भांति अत्यधिक सहज वेशभूषा का उपयोग किया जाता है। सबसे अधिक रोचक पहलू मुखौटों और रूपसज्जा शैलियों का है। विशाल मुखौटे भी हो सकते हैं जैसे 'कृष्णाट्टम' में (खेद है कि इस महत्वपूर्ण नाट्य रूप का विवेचन करना हमारे लिए संभव नहीं हो सका है) या फिर भागवतमेला के नरसिंह जैसे मुखौटे हो सकते हैं, या पुरुलिया और सेराएकला छऊ में प्रयुक्त किये जाने वाले मुखौटे। रूप-सज्जा अत्यधिक सुपरिष्कृत और रंग प्रतीकात्मकता तथा कर्मकांडगत अर्थवत्ता से संपन्न हो सकती है, जैसे कुटियट्टम और यक्षगान में। यह यथार्थपरक, बेतुकी और सहज भी हो सकती है जैसे कि यात्रा के कुछ पात्रों या भवाई के जूठन मियां के प्रसंग में। मुखौटों और रूपसज्जा शैलियों का तुलनात्मक अध्ययन करने से इन नाट्य रूपों तथा एशिया के अनेक भागों के कुछ नाट्य रूपों के अंतः संबंध के विषय में रोचक जानकारी मिल सकती है।

इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में हमने वाद्य यंत्रों विशेषकर ढोल की महत्वपूर्ण भूमिका की चर्चा की है। साथ ही, हमने इन नाट्य रूपों में रागों और तालों तक लोक संगीत की धुनों के सर्वव्यापी प्रयोग की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है।

इन सबने और कुछ अन्य तत्वों ने मिलकर भारतीय मंच को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है जो बहुमुखी भी है और

रंगबिरंगा भी। इसके विभिन्न घटकों का स्वरूप चाहे जितना भी क्षेत्रीय या स्थानीय हो उनका संबंध एक ऐसी 'समग्रता' से है जो अपने रूप और आत्मा में असंदिग्ध रूप से उतनी ही भारतीय भी है। साथ ही यह समुन्नत संस्कृत रंगमंच के भी उतना ही निकट है जितना कि समकालीन जीवन के।

भारतीयता स्वयं भी कोई स्थिर तथा गतिहीन गुण नहीं है। यह सदा से ही एक रसानुभूति, अनेक आयामों से संपन्न जीवानुभूति रही है। नाट्यगत परिदृश्य इस मानसिक अनुभूति के लिए एक अवसर प्रदान करता है। इस अनुभूति का प्रसार जहां अतीत में है वहीं भारत के अन्य क्षेत्रों में भी है और इसे जितना वर्तमान से सरोकार है उतना ही क्षेत्र-विशेष के समसामयिक जीवन से।

सहनशीला की एक युक्ति होने के कारण नाट्यगत अनुभूति की एक महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका भी है। घंटों, दिनों और कभी कभी महीनों चलने वाली नाट्य प्रस्तुति के दौरान सामाजिक ऊंच-नीच का अंतर भुला दिया जाता है और समग्र समाज एकता के सूत्र में बंध जाता है। इस प्रकार के सामुदायिक रंगमंच की एक महत्वपूर्ण विरेचक भूमिका होती है जिसमें दर्शकों की सामाजिक असमताओं को नजरंदाज कर दिया जाता है। यह उस अर्थ में तो सहभागितात्मक नहीं है जिस अर्थ में नृत्य और जनजातीय संगीत तथा लोक संगीत है, किंतु वैसी दूरी भी नहीं है जैसी प्रोसीनियम रंगमंच के अभिनेता और पृथक बैठे दर्शक वर्ग के बीच होती है। यहां दर्शक नाटकीय व्यापार में प्रत्यक्ष सहभागी है। अभिनेता — चाहे वह रूपांतरित हो या दैवीकृत – एक कालातीत प्रतीक है किंतु समकालीनता के संदर्भ में भी वह प्रासंगिक और सार्थक है। इस दोहरे स्तर को संप्रेषित करने के लिए नाट्य शिल्प में अनेक युक्तियां निर्मित की जाती हैं। संपूर्ण रूप से यह रंगमंच अनेक अंगों या अनेक मुखों वाले देवता के सदृश है। प्रत्येक प्रयोग के साथ यह नया अर्थ और नया महत्व अर्जित कर लेता है।

यह एक साथ शाश्वत भी है और अल्पकालिक भी, मूर्त भी है और अमूर्त भी तथा एक ऐसी परिधि में स्थित है जिसकी कोई सीमा नहीं है। इस विरोधाभास में ही इसके जीवित रहने तथा रंगबिरंगी पच्चीकारी के नमूने में अपना एक विशिष्ट स्वरूप बनाने की शक्ति का रहस्य निहित है। इसके मार्गी तथा देशी या नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी पहलू एक ही सिक्के के दो पक्ष या एक ही केंद्र वाले दो सकेंद्रित वृत्त हैं। वृत्त के अक्ष में क्षेत्रीयता है और केंद्र में भारतीयता जो पूरे वृत्त को बनाए रखती है और टूटने नहीं देती।

भरत ने नाट्यशास्त्र के प्रारंभ में ठीक ही कहा था, "कोई ऐसी सूक्ति, विधा, कला, शिल्प, युक्ति या कर्म नहीं है जो नाट्य में उपलब्ध न हो। और यह कि अंततः यह धर्म यानी कर्तव्य के लिए प्रेरक होगा।"

हमने जिन नाट्य रूपों की चर्चा की है वे सभी एक ऐसे महान् नाट्य यज्ञ में आहुति दे रहे हैं जिसमें अभिनेता और दर्शक अपने अपने स्वधर्म का पालन कर रहे हैं।

परिशिष्ट I

	केरल	कर्नाटक	आंध्र प्रदेश	तमिलनाडु	बिहार,बंगाल असम, उड़ीसा	उ.प्र., म.प्र. राजस्थान	गुजरात	महाराष्ट्र
						आल्हा ऊदल घोला मारू पाबूजी की पड़		
कथाकार द्वारा पाठ					दासकाथिया आख्यान		चारण	चारण हरिकथा
सामूहिक गायन अथवा कीर्तन		हरिकथा कीर्तनाइ	बुर्रा कथा हरिकथा कीर्तनाइ	हरिकथा कीर्तनाइ राधा कल्याणम्	बरगीत कीर्तन	भजन कीर्तन	भजन कीर्तन	भारगीत कीर्तन
झांकी					झांकी (असम)	झांकी (उ.प्र.)		
जात्रा नाटक					जात्रा नाटक			
शृंखला नाटक या लीला रूप					भाओना अंकिआ-नाट (असम)	रामलीला (म.प्र., राजस्थान, उ.प्र.) रासलीला		
मुखौटा रूप तथा मुखौटे जैसी सज्जा	कृष्णाट्टम तेय्यम	यक्षगान भूतम्			सेराएकला पुरुलिया छऊ भाओना में भी		गणेश का मुखौटा	
सड़क रंगमंच	ओन्तानथुल्लाल		वीथिनाटकम्	तेरुकूथु		मच नाच नौटंकी ख्याल	भवाई	तमाशा
मंदिर-प्रांगण रंगमंच	कृष्णाट्टम कुटियट्टम	यक्षगान	भागवतमेला भामकलापम	भागवतमेला			भवाई गाबी	
मंदिर रंगमंच	मुतियेटु इत्यादि	देवदासी	देवदासी- अट्टम	देवदासी- अट्टम	देवधनी महारी			
कठपुतली रूप	थोलपवकुट्टु	गोम्बेयट्ट	बोम्मलट्टम		रावण छाया	कठपुतली		चित्र-कथा पिंगुली कठपुतली

	कुटियट्टम	यक्षगान	भामकलापम -	भागवतमेला	अंकिआ-नाट	रामलीला	रासलीला	सेराएकला	मयूरभंज छऊ	पुरुलिया छऊ	यात्रा-जात्रा	भवाई	सांग-ख्याल	तमाशा
1. उद्‌भव अथवा पुनरुजीवन की तिथि	10वीं, 11वीं शताब्दी	16वीं शताब्दी	16वीं शताब्दी	16वीं शताब्दी	15वीं शताब्दी	16वीं शताब्दी	16वीं शताब्दी	17वीं शताब्दी	18वीं शताब्दी	17वीं -18वीं शताब्दी	16वीं शताब्दी	17वीं शताब्दी	17वीं शताब्दी	18वीं शताब्दी
2. संस्कृत का प्रयोग	हां	केवल वंदना में	आंशिक रूप से	आंशिक रूप से	—	आंशिक रूप से	आंशिक रूप से	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	कभी-कभी	नहीं	नहीं
3. अन्य भारतीय भाषाओं का प्रयोग	मलयालम	कन्नड़	तेलुगु	तमिल तेलुगु	ब्रज बोली असमिया	हिंदी	ब्रज बोली	ओड़िआ	ओड़िआ	बांग्ला	बांग्ला	गुजराती, हिंदी	हिंदी, राजस्थानी	मराठी
4. प्रदर्शन स्थल	मंदिर के निकट	खुले में	मंदिर तथा प्रांगण के निकट	मंदिर के निकट	सत्रों में	मंदिर में या खुले में	मंदिर में या खुले में	खुले में	खुले में	खुले में	खुले में	मंदिर में और खुले में	खुले में	खुले में
5. रंगस्थल की बनावट : (i) बंद रंगभवन (ii) ऊंचा मंच (iii) घिरा हुआ (iv) खुला	कुट्टंबलम	iii	ii	iii	iii	iii	iv	iii	iv	iii	कभी-कभी ii, iii तथा iv	कभी-कभी ii, iii	ii	iii
6. पूर्वरंग कर्मकांड : (i) खंभे का प्रतिष्ठापन (ii) जर्जर की स्थापना (iii) प्रमुख देवता		खंभा प्रतिष्ठापित हां गणेश	गणेश	नरसिंह		विष्णु	विष्णु	शिव-शक्ति	शिव-शक्ति	गणेश	दुर्गा	अंबिका	गणेश	गणेश
7. कलाकारों का सामाजिक स्तर : (i) ब्राह्मण (ii) क्षत्रिय (iii) अनुसूचित जाति (iv) जनजातियां	चाक्यार	भागवत	भागवत	भागवत	मिश्रित	ब्राह्मण	ब्राह्मण	क्षत्रिय	पाइक अनुसूचित जाति	भूमिज (IV) डोम, मुरा	मिश्रित	जाति-बहिष्कृत ब्राह्मण अथवा जाट	मिश्रित	मिश्रित
8. श्रोताओं का स्वरूप	परिष्कृत	ग्राम्य	ग्राम्य	ग्राम्य एवं नागर	ग्राम्य एवं नागर	ग्राम्य एवं नागर	ग्राम्य	ग्राम्य एवं नागर	सभी वर्ग किंतु अधिकांशतः ग्राम्य	जनजातीय	ग्राम्य एवं नागर	ग्राम्य	ग्राम्य एवं नागर	ग्राम्य एवं नागर
9. मुख्य विषय	संस्कृत शास्त्रीय	पौराणिक	पौराणिक	पौराणिक	वैष्णव	वैष्णव	भागवत वैष्णव	प्रेमलीला पौराणिक	महाकाव्यात्मक तथा पौराणिक	महा-काव्यात्मक	मिश्रित सामाजिक	पौराणिक धर्मनिरपेक्ष	मिश्रित	मिश्रित

संदर्भ-ग्रंथ सूची

2. कुटियट्टम

क्रामृश्च, स्टैला, कांसिस तथा पाडुवल : *द आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स आफ ट्रावनकोर,* कोचीन, 1970.

कुन्नजुन्नी, राजा : *द कंट्रीब्यूशंस आफ केरला टू संस्कृत लिटरेचर,* मद्रास, 1958.

कुटियट्टम, ए मोनोग्राफ, संगीत नाटक अकादमी, नयी दिल्ली, 1964.

"कुटियट्टम", *नेशनल सेंटर फार द परफार्मिंग आर्ट्स जर्नल,* वाल्यूम 3, नं. 2, जून 1974, पृ. 1-13.

"कुटियट्टम — द स्टेजिं आफ संस्कृत प्लेज आन द ट्रेडिशनल केरल थिएटर", *संस्कृत रंग एनुएल,* मद्रास, 1960

कृष्ण अय्यर, वी.वी. : *ज़मोरिंस आफ कालीकट,* कालीकट, 1938.

चैतन्य, कृष्ण : *ए हिस्ट्री आफ मलयालम लिटरेचर, ओरियंट लांगमैंस,* नयी दिल्ली, 1971.

केरला, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली, 1972.

जोन्स, क्लिफोर्ड : "सम मैटिरियल फार द कंस्ट्रक्शन आफ द नाट्यमंडप अकार्डिंग टू द शिल्परल", *अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी जर्नल,* सितंबर, 1973.

"नोट्स आन द रिस्टोरेशन आफ ए टैम्पल थियेटर फार द संस्कृत ड्रामा," *नेशनल सेंटर फार दा परफार्मिंग आर्ट्स जर्नल,* वाल्यूम 4, नं. 1, 1975, पृ. 25-31.

द टेम्पल थिएटर आफ केरला, पी एच.डी. हेतु शोध प्रबंध—मैकमिलन एंड कं.

तारेलेकर, जी.एच. : "विदूषक इन कुटियट्टम", *इंडियन एंटीक्विटी,* II, अक्तूबर 1967, पृ. 21-28.

नायर, परमेश्वर : *हिस्ट्री आफ मलयालम लिटरेचर,* साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1967.

पंचल गोवर्धन : "कुटंबलम", संगीत नाटक अकादमी जर्नल, नं. 8, 1968, पृ. 17-30.

पिशारोती, आर.के. : "केरला थिएटर", *जर्नल आफ द अन्नामलाई यूनिवर्सिटी,* 1932 और 1934.

ब्यरस्की क्रिस्टोफर : "इज़ कुटियट्टम ए म्यूजियम पीस ?" *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 5, 1967, पृ. 45-54.

मनि माधव, चक्यार : *नाट्य कल्पद्रुम* (मलयालम), इंडियन प्रेस, कोट्टायम, 1975.

माथुर, जे.सी. : "इंसाइड ए टेंपल थिएटर", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 26, दिसंबर 1972.

मिश्रा, सुशीला : "द कुट्टू आफ केरला", *म्यूजिक अकादमी जर्नल,* नं. 25, 1954 पृ. 122-129.

राघवन, वी. : "द कुटियट्टम : इट्स फार्म एंड सिगनिफिकेंस एज संस्कृत ड्रामा", *संस्कृत रंग एनुएल,* मद्रास 1964-65 और 66-67, पृ. 77-87.

राजगोपालन, एल.एस. : "म्यूजिक इन कुटियट्टम", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 10, दिसंबर 1968, पृ. 12-25.

रिप्ले, सबीना : "चवीतु नाटकम् : ड्रामेटिक ओपेरा आफ द क्रिश्चियंस आफ केरला", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 12, दिसंबर 1969, पृ. 56-73.

विद्यार्थी, गोविंद : "मुटियातु : रेयर रिचुएल थिएटर आफ केरला", संगीत नाटक अकादमी जर्नल, नं. 42, 1976, पृ. 51-63

वेलू पिल्लै, टी.के. : *त्रावणकोर स्टेट मेनुअल्स,* 4 वाल्यूम, त्रिवेंद्रम, 1940.

शंकुतला, वी.एस. : "मार्शियल म्यूजिकल इंस्ट्रूमेंट्स आफ एंशिएंट इंडिया", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 10, दिसंबर 1968, पृ. 5-11.

सरकार, एच. : *द टेंपल आर्किटेक्चर आफ केरला,* आर्कोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, नयी दिल्ली, 1977.

3. यक्षगान

अडिग, के.पी. : "यक्षगान प्लेयर्स आफ कनारा", *इलस्ट्रेटिड वीकली,* दिसंबर 7, 1941.

अश्टन, मार्था : *यक्षगान,* अभिनव प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1977.

"आफ म्यूजिक, बैल्स एंड रिदमिक फीट : द डांस आफ यक्षगान" *एनिमा,* यू.एस.ए., फाल 1974, वाल्यूम I, पृ. 40-55.

उपाध्याय, के.एस. : "यक्षगान बयालता", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* मार्च 1969, पृ. 37-51.

कंबर, चंद्रशेखर : "रिचुअल इन कन्नड़ फोक थिएटर", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 25, 1972, पृ. 7-22.

कारंथ, के.एस. : "यक्षगान", *मार्ग* XIX, 2 मार्च 1966, पृ. 17-29.

यक्षगान (हिंदी), राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1973.

"डांस रिचुअल्स आफ साउथ कनारा", *जर्नल आफ द मिथिकल सोसायटी,* बंगलौर, XLVIII, 1957-58, पृ. 88-89, इंडिया

"यक्षगान : ए म्यूजिकल डांस ड्रामा", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 10, अक्तूबर, 1959, पृ. 11-17.

"द यक्षगान आफ कर्नाटक", *नेशनल सेंटर फार द परफार्मिंग आर्ट्स जर्नल,* वाल्यूम III, नं. 3, सितंबर 1974, पृ. 1-8.

कार्मकर, ए.पी. : *द कल्चरल हिस्ट्री आफ कर्नाटक,* गवर्नमेंट आफ मैसूर, 1955.

दिवाकर, आर.आर. *कर्नाटक थ्रू द एजिस,* बंगलौर, गवर्नमेंट आफ मैसूर, 1968.

नरसिंहचर, डी.एल. : *द भागवत प्लेज इन मैसूर,* प्रोसीडिंग्स आफ द एर्थ आल इंडिया ओरियंटल कांफ्रेंस, मैसूर, 1935.

पंडेश्वर : *यक्षगान नाटक,* भारत ज्योति, 1949.

पंप, महाकवि : "लाइफ एंड टाइम आफ पंप", पर विद्वानों के लेख, कर्नाटक विद्या वर्धाकर संघ, धारवाड़, 1951.

बालावेंकट, पी. : *कर्णार्जुन कालग* (कन्नड़), उडीपी, पर्वेजा गुरुराव एंड संस, 1969-70.

भट्ट, एम.एम. : "यक्षगान स्टेज इन कर्नाटक", *इंस्टीट्यूट आफ ट्रेडीशनल कल्चर,* बुलेटिन, पार्ट 2, 1963, पृ. 235-37.

मस्ती, वैंकटेश, आई. : *पोपुलर कल्चर आफ कर्नाटक,* गवर्नमेंट आफ मैसूर, मैसूर

मुगली, आर.एस. : *हिस्ट्री आफ कन्नड़ लिटरेचर,* साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1975.

रंगनाथ, एच.के. : *द कर्नाटक थिएटर,* कर्नाटक यूनिवर्सिटी, धारवाड़, 1960.

राइस, ई.पी. : *ए हिस्ट्री आफ कन्नड़ लिटरेचर,* कलकत्ता एसोसिएटिड प्रेस, कलकत्ता, 1921.

राघवन, वी. : *यक्षगान,* त्रिवेणी, मद्रास, 1933.

संजीवा प्रभु एंड उपाध्याय, के.एस. : "यक्षगान पपेट्स", *नेशनल सेंटर फार द परफार्मिंग आर्ट्स जर्नल,* वाल्यूम V, नं. 3, सितंबर 1976, पृ. 1-14.

अज्ञात : *सभालक्ष्णा मट्टु प्रंसगापीठिका* (कन्नड़) उडीपि, पवनजे गुरुराव एंड संस, 1968-69.

4. भागवतमेला और कुचिपुडी

अप्पा राव : "कुचिपुडी भागवतमेला", डांस सेमिनार, नयी दिल्ली, 1958 में पढ़ा गया अप्रकाशित पेपर

क्षेत्रय्या विशाखापटनम (तेलुगु), क्षेत्रय्या समिति, 1956.
अय्यर, ई. कृष्ण : "भागवतमेला", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 13, सितंबर 1969, पृ. 46-56.
"क्लासिकल भागवतमेला डांस ड्रामा", *मार्ग* XIX, 2 मार्च, 1966, पृ. 4-12.
तेरुकूथु ऑर स्ट्रीट प्ले, *मार्ग* XIX, 2 मार्च, 1966, पृ. 4-12.
कोठारी, सुनील : *भागवतमेला,* पीएच.डी. थीसिस, एम.एस. यूनिवर्सिटी आफ बड़ौदा
चक्रवर्ती, श्रीनिवास : *तेलुगु नाटक कावुलु,* विजयवाड़ा जयंती पब्लिकेशंस
जोंस, क्लिफोर्ड : "भागवतमेला नाटकम", *जर्नल आफ द एशियन स्टडीज,* XXII, 2 फरवरी, 1963, पृ. 193-200.
जोगाराव, एस.वी. : *यक्षगानचरित* (तेलुगु)
जोगी, सोमई : *यक्षगानमुलू* (तेलुगु), काकिनाड आंध्र विश्व कला परिषद, 1955.
नरला, वी.आर. : *वेमना,* साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1969.
पारवातिसम, वी. : *भागवातुलु-कुचिपुडी,* विजयवाड़ा विजय लक्ष्मी एंड कंपनी
ब्राउन, सी.पी. : *सुमति शतकम्,* अनुवाद बदीना द्वारा, आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी, हैदराबाद, 1973.
मीनाक्षी सुंदरम, टी. : *हिस्ट्री आफ तमिल लिटरेचर,* अन्नामलाई यूनिवर्सिटी.
राघवन, वी. : "कथकली एंड भरतनाट्यम्", *त्रिवेणी,* 1936.
"द भागवतमेला", *जर्नल आफ द इंडियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्ट्स,* नं. 5, 1937, पृ. 170-73.
"द वीथिनाटकम् आफ आंध्र", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* 1969, पृ. 33-36.
राजगोपाल राव, टी. : *ए हिस्टोरिकल स्केच आफ तेलुगु लिटरेचर,* आंध्र
राजू, पी.टी. : *तेलुगु लिटरेचर : आंध्र लिटरेचर,* इंटरनेशनल बुक हाउस लिमिटेड, बंबई, 1944.
रामा राजू, बी. : *जनपद गया वांग्मय चरित* (तेलुगु)
राव, बंदाकनका लिंगेश्वर : "द कुचिपुडी आफ आंध्र", मार्ग XIX, 2 मार्च, 1966, पृ. 30-36.
विजयाराघवा नायक : *श्री कृष्ण विलासम् — यक्षगान,* सुंदर शर्मा द्वारा संपादित, तंजौर महल सरस्वती लाइब्रेरी, 1956 (देवनागरी, तेलुगु).
विप्रनारायण चरित यक्षगान, वी. सुंद्रासाम द्वारा संपादित, टी.एस.एम.एम. तंजौर, (तेलुगु देवनागरी), 1956.
वेंकटारैया शास्त्री : *नांने छोडूनींयमू कवित्वम्* (तेलुगु), हैदराबाद.
वेंकटावाधिनी, डी. : *पोथाना,* साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1972.
शर्मा, सी.आर. : *लैंडमार्क्स इन तेलुगु लिटरेचर,* लक्ष्मीनारायण ग्रंथमाला, मद्रास, 1975.
द रामायण इन तेलुगु एंड तमिल, लक्ष्मीनारायण ग्रंथमाला, मद्रास, 1973.
शास्त्री, एम. : "वेंकटारम प्रह्लाद, चरितम कीर्तनस", (अंग्रेजी), *म्यूजिक अकादमी जर्नल,* 1965.
श्रीराम शास्त्री, जी. : *आंध्र नाटक रंगामू* (तेलुगु) दोरस्वामय्या द्वारा संपादित, चित्तौड़, 1924.
संबामूर्थी, पी. : "द ओपेराज आफ त्यागराजा", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 6, 1967, पृ. 36-39.
सीतापति, जी.वी. : *हिस्ट्री आफ तेलुगु लिटरेचर,* साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1965.
सीतारमैया, के. : *ए हैंडबुक आफ तेलुगु लिटरेचर,* हैदराबाद, 1941.

5, 6 और 7. छऊ के रूप

कोठारी, सुनील : "सेराएकला छऊ", मार्ग XXII, दिसंबर, 1968, पृ. 5-29.
खोकर, मोहन : "सेराएकला छऊ", *नेशनल सेंटर फार द परफार्मिंग आर्ट्स जर्नल,* वाल्यूम II, नं. 2, 1973, पृ. 25-32.
"छऊ मास्क डांस आफ सेराएकला", *पुष्पांजलि,* वाल्यूम V, नं. 1, 1969, पृ. 72-92.

पाणि, जीवन : "मयूरभंज छऊ", मार्ग XXII, दिसंबर, 1968, पृ. 31-45.

"छऊ ए कंपेरेटिव स्टडी आफ सेराएकला एंड मयूरभंज फार्म्स," *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 13, जुलाई-सितंबर, 1969, पृ. 39-43.

पेपर्स सब्मिटिड एट छऊ डांस सेमीनार, भुवनेश्वर में आयोजित, दिसंबर, 1978, (अप्रकाशित)

ब्रोशर आफ द छऊ डांस फेस्टीवल, कलकत्ता में आयोजित, फरवरी, 1977, (अप्रकाशित)

ब्लैक जुडिथ : *द हिस्ट्री, कल्चरल कांटैक्स्ट एंड रिलीजियस मीनिंग आफ द छऊ डांस,* पीएच.डी. हेतु प्रबंध, यूनिवर्सिटी आफ शिकागो, 1972.

भट्टाचार्य, आशुतोष : *पुरुलिया छऊ,* रवींद्र भारती यूनिवर्सिटी, कलकत्ता, 1972.

"द छऊ मास्कड डांस आफ वेस्ट बंगाल, ए जनरल सर्वे" — *नेशनल सेंटर फ़ार द परफ़ार्मिंग आर्ट्स जर्नल* वाल्यूम V, न: 2, जून 1976, पृ. 16-28.

महापात्र, सीताकांत : छऊ डांसिज आफ मयूरभंज", *नेशनल सेंटर फार द परफ़ार्मिंग आर्ट्स जर्नल,* वाल्यूम VIII, नं. 3, सितबर, 1978.

रिचमोंड, फार्ले : *पुरुलिया छऊ : एन इंट्रोडक्शन,* काली (कोचीन), 1971, पृ. 15-21.

वात्स्यायन, कपिला : "मयूरभंज छऊ", *नेशनल सेंटर फार द परफ़ार्मिंग आर्ट्स जर्नल,* वाल्यूम 19, बबइ

वेस्टल, थियोडोर एम. : *द छऊ डांस आफ इंडिया,* नयी दिल्ली, 1970.

8. अंकिआ-नाट और भाओना

ककाती, बी.के. : *आस्पेक्ट्स आफ असमीज लिटरेचर,* गुवाहाटी यूनिवर्सिटी, गुवाहाटी, 1953.

गेट, सर एडवर्ड : *ए हिस्ट्री आफ असम,* थैकर एंड स्पिंक कंपनी, कलकत्ता, 1926.

गोस्वामी, पी. : "द नामघर", द एजुकेशनल रिव्यू, मद्रास, 1952. *असमीज ड्रामा,* कलकत्ता, 1960.

नियोग, एम. : *प्राच्य-शासनावली,* एन एंथालाजी आफ इंस्क्रीप्शंस, पब्लिकेशन बोर्ड, असम, 1973.

शास्त्रीय डांसिज एंड देयर रिद्म्स, गुवाहाटी, असम, 1974.

रिद्म इन वैष्णव म्यूजिक आफ असम, बारगेट रिसर्च कमेटी, असम, 1962.

शंकरदेव एंड हिज टाइम्स, यूनिवर्सिटी आफ गुवाहाटी, 1965.

स्वररखत बर्गिता, असम संगीत नाटक अकादमी, शिलांग, 1970.

बरुआ, एच. : *असमीज लिटरेचर,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली, 1965.

बरुआ, बी. : *स्टडीज इन अर्ली असमीज लिटरेचर,* 1953.

बरुआ, बी.के. : शंकरदेव, *वैष्णव सेंट आफ असम,* असम अकादमी, गुवाहाटी, 1960.

भट्टाचार्य, डी.एच. : *ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ द असमीज ड्रामा एंड स्टेज,* बरुआ एजेंसीज, 1964.

भूयां, एस.के. : *स्टडीज इन द लिटरेचर आफ असम,* लायर्स बुक स्टाल, गुवाहाटी, 1956.

मिधी, कालीराम (संपादक) : *अंकावली, पार्ट-I,* गुवाहाटी, 1948, शंकरदेव के 21 नाटकों सहित

9 और 10. रामलीला और रासलीला

अग्रवाल, रामनारायण : *संगीत* (हिंदी), राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1976. रासलीला (अप्रकाशित पांडुलिपि)

अवस्थी, इंदुआ : *रामायण की परंपरा* (हिंदी), राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1979.

अवस्थी, सुरेश : "रासलीला", *नेशनल सेंटर फार द परफ़ार्मिंग जर्नल,* वाल्यूम 19.

ओझा, दशरथ : हिंदी नाटक : उद्भव और विकास (हिंदी), राजपाल एंड संस दिल्ली, 1961.

रास और रासनाभिकाव्य (हिंदी), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1965.

गार्गी बलवंत : "रामलीला इन रामनगर", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल*, नं. 13, जुलाई 1969.

जैक्सन, एवी.एम. : *चिल्ड्रन आन द स्टेज इन हिंदू ड्रामा*, द लुकर-आन 5, 1897; अमेरिकन फिलोसोफिकल एसोसिएशन 27 (1896) प्रोसीडिंग्स के अनुसार संक्षिप्तीकरण

डे, एस.के. : *अर्ली हिस्ट्री आफ द वैष्णव फेथ एंड मूवमेंट इन बंगाल*, जनरल प्रिंटर्स, कलकत्ता, 1942.

मित्तल, प्रभुदयाल : *ब्रज का संस्कृत इतिहास* (हिंदी), राजमकल प्रकाशन, 1968.

यमदग्नि : *मथुरा की रासलीला*, रासलीला पर अप्रकाशित शोध-प्रबंध

सरकार, जे.एन. : *चैतन्याज पिल्ग्रीमेजिस एंड टीचिंग*, लंदन, 1913.

सीताराम सरन भगवान प्रसाद : *श्री भक्तमाला* (6 भाग), बनारस, 1903-09.

हेन, नार्वेन : द *मिरैकल प्लेज आफ मथुरा*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1972.

11. यात्रा

गुहा, ठाकुर्ता पी. : द *बंगाली ड्रामा*, केगन पॉल, ट्रैंच, टूबनर, लंदन, 1930.

घोष, जे.सी. : *बंगाली लिटरेचर*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1948.

डे, एस.के. : *बंगाली लिटरेचर इन द नाइनटींथ सेंचुरी*, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1919.

पटनायक, धीरेंद्र : "फोक प्लेज आफ ओड़िसा", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल*, 32, 1974, पृ. 26-34.

भट्टाचार्य, ए. : "यात्रा आफ बंगाल", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल*, नं. 12, जून, 1969, पृ. 29-30.

मजुमदार, एन.आर. : *चैतन्यचरितामृत* (आदिलीला), कलकत्ता, 1925.

मानसिंह, मायाधर : *हिस्ट्री आफ ओड़िआ लिटरेचर*, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1962.

सेन गुप्ता, शंकर : *फ़ोकलोर आफ बंगाल*, इंडियन पब्लिकेशंस, कलकत्ता, 1976.

सेन, डी.सी. : *हिस्ट्री आफ बंगाली लिटरेचर*, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, (कई संस्करण).
फोक लिटरेचर आफ बंगाल, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1920.
वैष्णव लिटरेचर आफ मेडिवल बंगाल, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1917.

सेन, सुकुमार : *हिस्ट्री आफ बंगाली लिटरेचर*, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1960.
विप्रादासाज मानसमंगल, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, 1925.
हिस्ट्री आफ ब्रजबोली लिटरेचर, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1935.
बांगला साहित्यार कथा (बंगाली), कलकत्ता यूनिवर्सिटी, छठा संस्करण, 1965.

12. भवाई

चोक्सी, महेश : *गुजराती नाट्य साहित्यनो उद्भव अने विकास* (गुजराती), गुजरात संगीत नृत्य-नाट्य अकादमी, अहमदाबाद, 1965.

झवेरी, के.एम. : *माइलस्टोन इन गुजराती लिटरेचर*, गुजरात प्रिंटिंग प्रेस, 1938.

ठाकुर, जशवंत : *लोकनाट्य अने गडू* (गुजराती), एम.एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा, 1961.

देसाई, सुधा : *भवाई—ए मेडिवल फार्म आफ एंशिएंट इंडियन ड्रामेटिक आर्ट*, *गुजरात* यूनिवर्सिटी, अहमदाबाद, 1972.

नीलकंठ, महिपात्रम रूपराम (संपादक) : *भवाई संग्रह* (गुजराती), भारत प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद, पहला संस्करण 1866, चौथा संस्करण, 1920.

फार्ले, रिचमंड : *भवाई : विलेज थिएटर आफ वैस्ट इंडिया*, इंटरनेशनल एंड वर्ल्ड अफेयर्स, ईस्ट लीनसिंग, मीचिगन, 1969 में संकलित लेख

बक्षी, आर.पी. : *नाट्य रास* (गुजराती), चेतन प्रकाशन गृह, बड़ौदा, 1959.

मजुमदार, एम.आर. : *कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात*, पॉपुलर प्रकाशन, बंबई, 1965.

हिस्ट्री आफ गुजराती मेट्रीकल रोमांसज, मेडिवल गुजराती लिटरेचर, के.एम. मुंशी द्वारा संपादित, 1926 का एक अध्याय

मजुमदार, एम.आर. एंड जोधानी, एम. : *गोरमन गीता* (गुजराती), राज्य लोक साहित्य समिति, अहमदाबाद, 1967.

मुंशी, एच.डी. (संपादक) : *"भवानी भवाई प्रकाश"* (गुजराती), आकाशेट कुवा नी पोल, राजपुर, अहमदाबाद

मुंशी, के.एम. : *गुजरात एंड इट्स लिटरेचर*, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1958.

मेघानी, ए. : *कंकावती* (गुजराती), गुर्जर ग्रंथ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद, 1955.

सौरठी गीत कथाओं (गुजराती), सौराष्ट्र मुद्रणालय, रणपुर, 1931.

मेहता, डी. : *गुजराती बिंधांधादरी रंगभूमिनो इतिहास* (गुजराती), एम.एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा, 1956.

मेहता, बी.बी. : *भवाईना वेशनी वार्ताओं* (गुजराती), एम.एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा, 1964.

मेहता, सी.सी. : *मध्यकालना साहित्य प्रकारो* (गुजराती), एम.एन. त्रिपाठी प्रा. लि. बंबई, 1943.

शास्त्री, के.के. : *हंसुली*, लेखक—नायक असैता, गुजरात वर्नाकुलर सोसायटी, अहमदाबाद, 1945.

शाह, पी.वी. (संपादक) : *गुजराती नाटक याने देशी भवाई* (गुजराती), भावनगर, 1938 (?).

शुक्ला, मायाशंकर (संकलित) : *देसी भवाईनो भोमियो*, अंबा सौराष्ट्र विद्या विजय प्रिंटिंग प्रेस, भावनगर.

संघवी दीना : *लोक भवाई*, चेतन प्रकाशन गृह, बंबई, 1951.

समेर, दिनलाल : *राजस्थान की भवाई*, भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर, 1960.

हस्तालिखित पुस्तकोनी सविस्तार नामावली संग्रह (गुजराती), फार्बेस गुजराती सभा, बंबई, 1923.

हीरालाल, एल. एंड काजी, डी.बी. : *गुजरातनी रंगभूमि* (गुजराती), सस्तु साहित्य वर्द्धक कार्यालय, अहमदाबाद, 1951.

13. स्वांग, ख्याल, नौटंकी

अग्रवाल, रामनारायण : *संगीत : एक लोकनाट्य परंपरा* (हिंदी), राजपाल एंड संस, 1976.

अवस्थी, सुरेश : "नौटंकी – एन ओपरेटिक थिएटर", *नेशनल सेंटर फार द परफार्मिंग आर्ट्स जर्नल*, बंबई, वाल्यूम VI, नं. 4, दिसंबर 1977, पृ. 23-36.

उपाध्याय, के.डी. : "लय एंड ताल इन द फोक म्यूजिक आफ उत्तर प्रदेश", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल*, नं. 32, 1974, पृ. 34-39.

परमार, श्याम : *भारतीय लोक-साहित्य*, राजकमल प्रकाशन लि, बंबई, 1958.

पांडे, इंदुप्रकाश : *अवधी लोकगीत और परंपरा* (हिंदी), इलाहाबाद, 1957.

भानावत, एम. : *राजस्थान लोक-नाट्य परंपरा* (हिंदी), भारतीय लोककला मंडल, उदयपुर, 1968.

राजस्थान का तुर्रांकलगी (हिंदी), भारतीय लोककला मंडल, उदयपुर, 1961.

लाल, लक्ष्मीनारायण : *पारसी-हिंदी रंगमंच* (हिंदी), राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1973.

समर, देवीलाल : *राजस्थानी लोकनाट्य, राजस्थानी लोकनृत्य, राजस्थानी के लोकानुरंजन* (हिंदी), भारतीय लोककला मंडल, 1957.

14. तमाशा

अब्राम्स, तेविया : *तमाशा, पीपल थिएटर आफ महाराष्ट्र स्टेट*, मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी, यू.एस.ए., 1974 में पीएच.डी. के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध

कुलकर्णी, ए.एन. : *मराठी रंगभूमि*, वीनस बुक स्टाल, पूना, 1961.

जोशी, वी.के. : *लोकनाट्यांची परंपरा* (मराठी), विश्वकर्मा प्रेस, पूना, 1961.

दांडेकर, वी.पी. : *मराठी नाट्य सृष्टि,* दूसरा भाग (मराठी), सामाजिक नाटक, बड़ौदा, 1957.

नांदकरणी, ध्यानेश्वर : "मराठी तमाशा-यस्टरडे एंड टुडे", *संगीत नाटक अकादमी* जर्नल, नं. 12, जून 1969, पृ. 19-28.

नायक, बापूराव : *ओरिजन आफ द मराठी थिएटर,* महाराष्ट्र इंफारमेशन सेंटर, 1967.

बनहत्ती, एस.एन. : *मराठी नाट्यकला अनी नाट्य वांग्मय* (मराठी), पूना विद्यापीठ, 1959.

भट्ट, जी.के. : *"विदूषक",* महाराष्ट्र ग्रंथ भंडार, कोल्हापुर, 1959.

"विदूषक", न्यू आर्डर बुक कं., अहमदाबाद, 1959.

रानाडे, अशोक : "पोवाडा", *नेशनल सेंटर फार द परफार्मिंग आर्ट्स जर्नल,* वाल्यूम III, नं. 4, दिसंबर 1974, पृ. 36-40.

15. अन्य

आनंद, मुल्कराज : *इंडियन थिएटर,* राय पब्लिकेशंस, न्यूयार्क, 1951.

काले, प्रमोद : *द थिएट्रिक यूनिवर्स,* पापुलर प्रकाशन, 1974.

गार्गी, बलवंत : *थिएटर इन इंडिया,* थिएटर आर्ट्स, न्यूयार्क, 1962.

फोक थिएटर आफ इंडिया, यूनिवर्सिटी आफ वाशिंगटन, सेटल, 1966.

दास गुप्ता : *इंडियन स्टेज,* वाल्यूम I से IV, कलकत्ता मेट्रोपोलिटन पब्लिशिंग हाउस, 1944.

परमार, श्याम : *ट्रेडिशनल फोक मीडिया,* गोका बुक्स, न्यू दिल्ली, 1975.

पाणि, जीवन : "हनुमान एंड ट्रेडिशनल इंडियन थिएटर", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 35, मार्च 1975, पृ. 5-16.

माथुर, जे.सी. : *ड्रामा इन रूरल इंडिया,* आई.सी.सी.आर. पब्लिकेशन, 1967.

मुखोपाध्याय, डी. : "लेसर नोन फार्म्स आफ परफार्मिंग आर्ट्स इन इंडिया", *मिनिमैक्स,* स्पेशल नंबर, दिल्ली, 1976.

रंगाचार्य, आद्य : *इंडियन थिएटर,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली, 1971.

वराडपांडे, एम.एल. : *ट्रेडिशन्स आफ इंडियन थिएटर,* अभिनव प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1978.

"गणेश इन इंडियन फोक थिएटर", *संगीत नाटक अकादमी जर्नल,* नं. 27, मार्च 1973, पृ. 64-75.

वात्स्यायन, कपिला : "द ट्रेडिशंस आफ द परफार्मिंग आर्ट्स", *नेशनल सेंटर फार द परफार्मिंग आर्ट्स जर्नल,* वाल्यूम IV, नं. 1, 1975, पृ. 32-40.

संगीत नाटक अकादमी जर्नल, नं. 21 (सितंबर 1971) – "पारंपरिक रंगमंच का समसामयिकता पर प्रभाव" पर रिपोर्ट

स्वार्म हैरोल्ड : "म्यूजिकल थिएटर इन इंडिया", *एशियन म्यूजिक,* I, 1968-69, पृ. 31-40.

टिप्पणी : जहां भाषा का उल्लेख नहीं है, वह इंग्लिश है ।

शब्द-संदर्भ

अंगरूर	कई लोगों द्वारा प्रस्तुत नृत्य मुद्रा
अंबरयनात्तिल नाट्य	उड़ने की एक नृत्य मुद्रा
अंबलवासी	मंदिर के नौकर-चाकर, जो सामान्यतया कुटियट्टम प्रस्तुत करते हैं
अक्किट्टा	कुटियट्टम नृत्य में प्रारंभ-गीत
अक्षर	ताल आदि में प्रयुक्त एक शब्द
अखाड़ा	कलाबाज़ी, नाटक, नृत्य समेत विभिन्न उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त व्यायामशाला; प्रदर्शनकारियों के समूह के लिए भी प्रयुक्त
अग्नि-गदा या घेरा	"भाओना" की प्रकाश-व्यवस्था में प्रयुक्त मशालें
अडावु	भरतनाट्यम की एक नृत्य-गति
अतिकाय	यक्षगान में रावण के पुत्र का नाम
अतिक्रांत	नृत्य में एक पैर ऊपर उठाने की एक मुद्रा
अतुत्र सूत्रधार	चमक-धमक की वेशभूषावाला तथा लाल रंग की नाक वाला सूत्रधार
अधिकारी	भाओना, यात्रा का मंच-निर्देशक
अधिष्ठान	मंदिर का एक भाग
अनुक्रम	कुटियट्टम का एक प्रारंभिक भाग
अभंग	अलग अलग तरह के छंदों का विभाजन
अभिनय	अभिनय की विभिन्न विधाएं
अरन्नुलि और अरंगु तलि	कुटियट्टम में नंबियारों द्वारा प्रस्तुत मंच
अरयम तलयम मुरुक्की	कुटियट्टम में युद्ध की एक नृत्य मुद्रा का आयोजन
अरसा	ओडिसी में एक मुद्रा
अरूप	जिसका रूप न हो
अर्घ अलिघम	संन्यासियों द्वारा एक ध्यान मुद्रा
अर्घ मंडली	भरतनाट्यम में एक नृत्य मुद्रा
अलम श्लोक	नांन्यार और नांग्यारों द्वारा कुटियट्टम में गाया जाने वाला एक गीत

अलारक्का	कुटियट्टम और कथकलि में गर्जन का शब्द
अल्लपल्लव	हस्त-मुद्रा
अष्टताल	ताल का एक नाम
अष्ट मंगल वस्तु	कुटियट्टम में आठ प्रमुख वरद वस्तुएं
आंगिकाभिनय	शरीर के विभिन्न हिस्सों द्वारा प्रस्तुत अभिनय
आदि-ताल	कर्नाटक संगीत के ताल का एक क्रम
आराधना नृत्य	आंध्र, कर्नाटक में देवता की पूजा के समय प्रस्तुत नृत्य
आलीढ़	नाट्यशाला में अभिनय स्थान
आवणी या आवणु	भवाई का प्रारंभिक गीत
आशान	कथकलि के गुरु
आसन	बैठने की मुद्रा
आसर	यात्रा का मंच
आहार्याभिनय	प्रसाधन, मंच-सज्जा, रूप-सज्जा, मुखौटे आदि
इंडोला या इंडाला	कुटियट्टम में एक भावरूप
इडक्का या इडकाए	वाद्य यंत्र
उत्तरीयम	दुपट्टा
उफली	छऊ नृत्य में एक तकनीकी शब्द
उष्णीशम	सिर पर बांधने वाली पगड़ी
उस्का	छऊ की एक मुद्रा
ऊर्ध्वपुंड	तिलक
ऊर्ध्वलता	एक नृत्य मुद्रा
एडक्का	छोटा सा ढोलक
ओचापेटुकल	कुटियट्टम में ढोलक के पहले स्वर
ओजापली	संगीत और नृत्य
ओडालोगा	यक्षगान में चरित्र परिवेश के समय उपयोग में लायी जाने वाली ध्वनि
कटकम	लकड़ी की बनी हुई माला और इसी नाम का एक आंदोलन
कटिकाछिनी	एक तरह का वस्त्र
कडगम	एक पारंपरिक नृत्य
कमल परिवर्तन	अनुक्रम से पहले दिखाई जानेवाली हस्त मुद्रा
कम्पू	कागज
करणा	गति का स्वरूप
करतारी मुख	हाथ से कैंची के आकार का स्वरूप
करमा	वर्षा ऋतु का एक उत्सव
कलापुरुत्तु नाटकुक	आगम और निर्गम के लिए एक मुद्रा

कलियम वेचू तिरुयुर्का	प्रारंभिक मुद्रा का वास्तविक निरूपण
कल्याणी	एक रात
कांचलिया	कांचली पहनने वाली भवाई की नर्तकी
काकड़ा	प्रकाश
कापड़ चिथण	पुरुलिया छऊ में उपयोग में आने वाले फटे वस्त्र
कामास्त्रम	कामदेव के बाण
कावडी	एक तरह का पारंपरिक नृत्य
कीर्तन, कीर्तनाइ	एक तरह का संगीत रूप
कुचक	पंखा
कुजिकलम या कुछिताल	एक वाद्य
कुटम्मा	विदूषक के सिर पर बना हुआ जूड़ा
कुट्टंबलम	केरल के प्रेक्षागृह
कुट्टू	खेल
कुट्टूविलकु	एक दिया
कुप्तयम	लंबी बांहों वाली लाल सदरी
कुम्मी	महिलाओं का एक वृत्ताकार नृत्य
कुलशंख	कुटियट्टम में एक विद्या का नाम
केकुट्टिकली	महिलाओं का एक समूह नृत्य
केट्टितिरियल	एक दूसरे को काटते हुए हाथों की एक मुद्रा
केडग	यक्षगान में पंखे के रूप का एक मुकुट
केशाभरम किरिटम	कुटियट्टम का एक मुकुट
केसिकी गति	मधुर गीत शैली
कोटि	एक सफेद कपड़ा
कोडंगी या कोनंगी	भागवतमेला या यक्षगान में एक विदूषक
कोमली	तेरुकुथू में विदूषक
कोम्प	एक तरह की तुरुई
कोरा-कुरुमी	कुटियट्टम में एक भाव मुद्रा
गर्वो	गुजराती नृत्य
गाछ	भाओना में प्रकाश व्यवस्था में प्रयोग में आने वाले सूखे पेड़
गेजे	घुंघरू
गोची चिह्न	कुटियट्टम में माथे पर लगाने वाली बिंदिया
चंद्रकला	अर्द्धचंद्र व बिंदिया
चर्चरी	संस्कृत साहित्य का एक वृंदगान का संयोजन
चलियम	नाक पर लगाने का लाल रंग

चविट्टुक क्रिया या चवट्टु	कुटियट्टम में पर्दे से पीछे का दृश्य
चविट्टु नाटकम	केरल के ईसाई लोगों में प्रसिद्ध एक नृत्य नाट्य
चाक्यारकुट्टु	एक रंगमंच का रूप
चाचर	भवाई नृत्य का गोल घेरा
चाडचली	वाद्य
चानी	चलने का प्रारंभिक रूप
चारी	पद चालन
चुट्टी	एक तीन आयामी रूपरेखा
चूर्णिका या चूर्णपद	एक क्षण
चेंगला	एक वाद्य यंत्र
चेंडा	एक तरह का ढोलक
चेरियक्कम	नृत्य के प्रारंभ का दृश्य
चोलियट्टम	ढोलक के साथ भागवत या नाट्य प्रयोग का स्थान
चोलियुंति नाट्य या चोल्लुंति नाटक्कुक	एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की शब्दावली
चौक	एक नृत्य मुद्रा या नृत्यशाला
चौबोला	चार पंक्तियों का एक गीत
छत्रावुरम	कुटियट्टम का एक वाद्य
छालिक	संस्कृत साहित्य का एक छंद
छौघर	भावना में अंतर्मंच
जकिनी	एक चरित्र का नाम
जानुभयम	घुटनों के ऊपर की एक नृत्य मुद्रा
जुडि या जूड़ि	यात्रा में अभिनेताओं की ओर से गाने वाले गायक
झम्पा	एक ताल का नाम
टुनुटुन	तमाशा में एक वाद्य
टोट्टम	केरल में एक छंद
डांडिया रास	हाथ में डंडे लेकर गोलाकार नृत्य
ढफ	एक ढोलक
तट्टि	नान्यार द्वारा गाये गीत
तालम-तालकुट्टम	झांझ
तिरमाणम्	शरीर संचालन
तीक्कम या थेयम या देवियम	पारंपरिक प्रेक्षागृह
तेयापानी	एक तमिल छंद
तेरपेरूमत्तिले नाट्य	कुटियट्टम में रथ पर सवार व्यक्ति

तोपका	छऊ में एक दृश्य
तोलवल	कथकली में एक माला जिसे केयेरम कहते हैं
थोडय् मंगलम	प्रारंभिक नृत्य
दक्षिण साही	मयूरभंज छऊ की एक मंडली का नाम
दारु	संस्कृत ध्रुव का प्राकृत रूप, जिसका उपयोग नाटक से पहले किया जाता है
दुबा	मयूरभंज छऊ में एक नृत्य गति
देवदासीअट्टम	देवदासी नृत्य के मंच का नाम
देवस्थानम	मंदिरों का प्रशासनिक संगठन
धमाली	भाओना का प्रारंभिक रूप या असम में वधू के स्वागत के लिए गाया जाने वाला गीत
धुवसा	पुरुलिया छऊ में उपयोग में आनेवाला एक ढोलक
ध्रुवा	प्रारंभिक गीत
नंदी	संस्कृत मंच में प्रारंभ
नंबियार	कुटियट्टम में भाग लेने वाले संगीतज्ञों की एक जाति
नट्टकुलम	कुटियट्टम की ग्राम सभा
नट्टुवनार	संगीत का प्रमुख संगी अथवा नृत्य निदेशक
नरधम	भवाई में गले में डालकर बजाने वाला ढोलक
नांग्यार या नन्यार	कुटियट्टम में नारी पात्र
निभक्तिन	बर्मा में एक समूह नृत्य
निर्वाहण	कुटियट्टम में वह स्थिति जब एक चारत्र अपने भूतकाल का वर्णन करता है
नीनम	कथकलि में रथ की जगह उपयोग में लायी जाने वाली वस्तु
नीलांबरी	एक रात का नाम और नाटक में भाग लेने वाले व्यक्ति का नाम
नोन्दनम या नोंगनम	शूर्पणखा की वेशभूषा में उपयोग में लायी जानेवाली घास
पंचानियम	शिखा से पैर तक का वर्णन
पजुपा	गुलाल
पचा	हरा गुलाल
परपडु या पुरपड या पुरपड्डू	कथकलि और कुटियट्टम में प्रारंभिक दृश्य
परवृत्ति	प्रांतीयता
परिखंड	छऊ में उपयोग में लायी जाने वाली ढाल तलवार
पलक	कथकलि में उपयोग में लाया जाने वाला एक पलंग
पल्लकंम	उपवस्त्र
पिंडीबंध	एक समूह नृत्य
पीठम	बैठक
पुरुयारकली	पारंपरिक नृत्य
पुष्टि मार्ग	वैष्णव सिद्धांत

पूर्वरंग	प्रेक्षागृह में सारी प्रारंभिक तैयारियां
पौधा	भवाई का अभिनय स्थल
प्रमेयम्	नाटक की कहानी का संक्षिप्त वर्णन
प्रवेश द्वारु	प्रवेश के समय चरित्रों के गीत
प्रवेशिकम	कुटियट्टम में प्रवेश
बायन	भाओना में एक संगीत मंडली
बालीपीठ	मंदिर के सामने की प्रमुख शिला
बेहुआ	भाओना में एक विदूषक
बेहुला नाच	मानस पूजा का एक भक्तिपरक नृत्य
भागवतार	निदेशक
भातिम	भाओना में एक संगीत
भाषा	भाषा (विशेषकर स्थानीय भाषा)
भुगल	भवाई में तांबे का वाद्य
भैंत	ख्याल और भाओना में भक्तिगीत
भ्रांतम	कुटियट्टम चरित्रों का प्रदर्शन
मटि अखाड़ा	हाथों की मुद्रा
मटुवणी	रंगमंच का एक हिस्सा
मट्टिगदा	प्रकाश व्यवस्था
मणिकुट	नामघर (भाओना) में एक मंदिर
मतमेटकल	प्रवेश के समय की मुद्रा
मनियोला	हल्दी
मनोधर्म	कथकलि और कुटियट्टम में प्रायोगिक नाटक
मरमाला	तोरण
महत मत	प्रकाश व्यवस्था
माहूरी	एक वाद्य
मिनुक्कू	स्त्री और संन्यासियों की स्वाभाविक वेशभूषा
मिरखवर्णम	मध्यांतर के बाद प्रस्तुत दृश्य
मीजाबू	ढोलक
मोर मुकुट	शिरस्त्राण
यनदी	एक जाति
रंगपीठ	सामने का मंच
रंगशीर्ष	पीछे का रंगमंच
रंट्म नाटय	कुटियट्टम में नृत्य क्रिया
रभ	असम में नाटक प्रस्तुत करने के लिए तैयार किया गया मंच

रासक	एक विशेष तरह का नृत्याभिनय
रास शिरोमणि या रसिक शिरोमणि	ब्रज रास में कृष्ण को संबोधन
लकुटा	वृत्ताकार नृत्य
वंचना	धोखा
वक्रपद्म	बैठने का एक प्रकार
वल	तीन चूड़ियां
वलकली	एक नृत्य
वाक	शब्द
वाचकाभिनय	शाब्दिक अभिव्यक्ति
वासिकम	एक वाद्य
विकृष्ट	एक प्रेक्षागृह
विलक्कु या कुट्टिविटक्कु	तेल से जलने वाला एक दीपक
विवेक	बंगाली यात्रा में एक पात्र
शादिर नृत्य	भरतनाट्यम से पहले की एक नृत्य विधा
संक्षेपण	मुद्राओं से प्रदर्शित रूपक
सखिभाव	कृष्ण का अन्य व्यक्तियों के प्रति प्रेमभाव
सट्टक	एक विशेष तरह का नाटक
सत्र	असम में वैष्णव संस्था
सरु-भंगी	एक नृत्य प्रकार
सूत्रभंगी	एक तरह का नृत्य
सूत्रभंगी-परैंग	मणिपुरी नृत्य में एक तकनीकी शब्द
सोगांधा	तमाशा का विदूषक
सोलुकुट्ट	भागवतमेला और भरतनाट्यम में प्रयुक्त
स्मित-अंग	एक विशेष तरह की शरीर भंगिमा
स्वरथैल या स्वरथैल चोलुक	कुटियट्टम में एक गायन विधि
हलगी	तमाशा के उपयोग में आनेवाला एक ढोलक
हलीसक	हरिवंश और पुराणों में वर्णित एक वृत्ताकार नृत्य

अनुक्रमणिका